प्रकाशक:
संस्कृति संस्थान,
ख्वाजा कुतुब (वेदनगर)
बरेली (उ० प्र०)

लेखक:
डा० चमनलाल गौतम

प्रथम संस्करण
१ ९ ६ ७

मुद्रक:
शेखर प्रिन्टलैण्ड,
वृन्दावन गेट, मथुरा।

मूल्य
६) रुपया.

भूमिका

हिन्दू-धर्म में 'देववाद' का सिद्धान्त बड़ा अद्भुत और रहस्यपूर्ण है। यों तो देवताओं की संख्या तेतीस कोटि कही जाती है, पर जिन देवताओं का उल्लेख पृथक रूप में विभिन्न स्थानों में लिखा मिलता है उनकी गिनती भी सैकड़ों से कम नहीं है। दूसरी ओर वेदान्त ग्रन्थों की घोषणा है 'एकोऽहम् द्वितीयो नास्ति' अर्थात् एक परमात्म-तत्त्व के अतिरिक्त संसार में अन्य सब माया अथवा मिथ्या है। ऐसी स्थिति में एक जिज्ञासु के हृदय में स्वभावतः ही वास्तविकता को जानने की इच्छा उत्पन्न होती है।

इसमें सन्देह नहीं कि परमात्मा एक है, पर उसकी शक्तियाँ अनन्त हैं। अव्यक्त और अगोचर कहा जाने वाला परब्रह्म तीन लोकों में अनगिनती प्रकार की स्थूल,सूक्ष्म और शक्ति के रूपों में प्रकट होता रहता है। जो तेतीस कोटि देवता कहे जाते हैं अथवा जिन ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, स्कन्द, भैरव, हनुमान, इन्द्र, वरुण मातरिश्वा, सविता आदि देवों का उल्लेख धर्मग्रन्थों में जगह-जगह मिलता है, वे परमात्मा की विभिन्न शक्तियाँ ही हैं,जो विश्व की उत्पत्ति पालन-पोषण और संहार करती रहती हैं। साधकों को अपनी योग्यता के अनुसार उनका सूक्ष्म अथवा स्थूल रूप में अनुभव भी प्राप्त होता रहता है। इसलिए उनको एक दम मिथ्या या कल्पना कह देना उचित नहीं है। हमको उनके स्वरूप और कार्यों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करके देववाद के रहस्य को समझना चाहिए जिसने आज हिन्दू-धर्म पर सब से अधिक प्रभाव डाल रखा है।

यदि हम अपने समाज पर दृष्टिपात करें तो दिखाई पड़ता है कि एक हिन्दू धर्मानुयायी का जीवन जन्म से मृत्यु तक देवताओं की पूजा

और उपासना में ही व्यतीत होता है। सोलह धार्मिक संस्कारों में से प्रत्येक में विभिन्न देवताओं की पूजा की जाती है, मंदिरों में देवताओं के दर्शन करने को जाते हैं, तीर्थ-यात्रा भी उन्हीं का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए की जाती है। फिर सभी पढ़े-लिखे और धर्मनिष्ठ हिन्दू प्रतिदिन विष्णु, शिव, राम, कृष्ण, हनुमान, दुर्गा आदि किसी न किसी देवता का थोड़े या अधिक समय तक जप या ध्यान करना अपना कर्तव्य मानते हैं। इसलिए जिस धार्मिक सिद्धान्त ने—जिस धर्म-तत्व ने, इतने करोड़ लोगों के जीवन को प्रभावित कर रखा है, उनकी विचारधारा को एक विशिष्ट दिशा में प्रेरित किया हुआ है उसको जानना, समझना, उस पर सम्यक रूप से विचार करना आवश्यक है।

इस 'देववाद-रहस्य' विषयक ग्रन्थ-माला में यह प्रथम पुष्प 'विष्णु रहस्य' प्रकाशित किया जा रहा है। विष्णु, हिन्दुओं के सबसे बड़े देवों में प्रमुख माने जाते हैं। आज करोड़ों हिन्दू विविध अवतारों के रूप में उनकी पूजा और भक्ति करके अपने जीवन को कृतार्थ मानते रहते हैं। विष्णु का उल्लेख वेद, ब्राह्मण-ग्रन्थ, उपनिषद्, स्मृति, पुराण आदि समस्त धर्म-ग्रन्थों में मिलता है, और उनको सृष्टि का पालनकर्ता बतलाया गया है। वैष्णव-धर्म के पुराणों में तो उनको सर्वोच्च स्थान दिया गया है और उनके अतिरिक्त या उनसे पृथक किसी अन्य शक्ति का अस्तित्व स्वीकार ही नहीं किया गया है। अर्थात् जो अन्य देवशक्तियाँ दिखाई देती हैं वे सब उन्हीं के अंश रूप हैं। इस प्रकार विष्णु भारतीय जन-जीवन के एक बहुत बड़े भाग पर छाये हुए हैं। इतना ही नहीं प्राचीन भारतीय साहित्य के प्रसार के फलस्वरूप वे सुमात्रा, जावा, स्याम, बाली द्वीप, कम्बोडिया, लङ्का, तिब्बत आदि अनेक देशों में भी पूजनीय स्थान प्राप्त कर चुके हैं, जिसके चिह्न महाविशाल मन्दिरों, कलापूर्ण मूर्तियों और वहाँ की भाषाओं में लिखे धर्म ग्रन्थों के रूप में अभी तक विद्यमान हैं।

इस पुस्तक में विष्णु के स्वरूप और शक्तियों का वर्णन करके उनका महत्व और रहस्य अत्यन्त बोधगम्य शैली में प्रकट किया गया है। विष्णु का जो प्रभाव सूर्य, अग्नि, इन्द्र, शिव, शालग्राम, तुलसी, गौ, नाग आदि की पूजा, उपासना में काम कर रहा है उसका भली प्रकार विवेचन किया है। रूपक और अलङ्कारों से युक्त पौराणिक कथानकों का तात्पर्य न समझ सकने के कारण जन-समाज में जो भ्रांतियां फैली हुई हैं उनका योग्यतापूर्वक निराकरण किया गया है। विष्णु की चार भुजा, गदा, पद्म, शङ्ख, चक्र आदि आयुधों और वैजयन्तीमाला, कौस्तुभ-मणि, पीतवस्त्र आदि अलङ्कारों का आशय भी खोजपूर्ण ढङ्ग से प्रकट किया गया है। विष्णु सम्बन्धी कथाओं और उनके स्वरूप के वर्णन का कोई पहलू ऐसा नहीं जिसका विश्लेषण तर्क और विज्ञान की दृष्टि से लेखक ने न किया हो।

निस्सन्देह आज ऐसी रचनाओं की बहुत अधिक आवश्यकता है। प्राचीन ग्रन्थों की शैली और विवेचन पद्धति के बदल जाने से इस युग के पाठक उनकी वास्तविकता में शङ्का करने लगते हैं और विरोधी दल के लोग तो स्पष्टतः उनको झूठे गपोड़े, और कपोल कल्पना बतलाने में संकोच नहीं करते। ऐसे समय में इस बात की बड़ी आवश्यकता थी कि पौराणिक ढङ्ग के रूपकों और अलङ्कारों का स्पष्टीकरण करके 'देव-वाद' के सच्चे स्वरूप को समझा जाय। आशा है डा० चमनलाल गौतम का यह प्रयत्न इस दिशा में एक महत्व का कदम सिद्ध होगा और इसके द्वारा हिन्दू-धर्म के विश्वव्यापी सिद्धान्तों के प्रचार में अमूल्य सहायता मिलेगी।

मथुरा —श्रीराम शर्मा आचार्य

मकर संक्रान्ति २०२३]

विषय-सूची



देव वाद

का

वैज्ञानिक स्वरूप

भाग १

'विष्णु-रहस्य'

वैष्णव धर्म की उदार भावना

भारतीय आचार्यों ने समाज को सुविधा को दृष्टि से चार वर्णों में बाँट दिया था। यह विभाजन गुण कर्म और स्वभाव के के आधार पर किया गया था। यह व्यवस्था जन्म के आधार पर नहीं कार्य के अनुसार की गई थी। प्राचीनकाल में कोई एक वर्ण वाला दूसरे को हीन दृष्टि से नहीं देखता था। ऊँच नीच का कोई प्रश्न नहीं था। सभी दृढ़तापूर्वक अपने कर्तव्यों का पालन करते थे। शास्त्रों में स्पष्ट रूप से इस व्यवस्था का अनुमोदन किया गया है।

महाभारत शान्ति पर्व अ० १८८ श्लोक १, ३, ८ में भारद्वाज ने पूछा—

यदि रंग भेद से वर्णों का विभाजन किया जाय तो सभी वर्णों में सभी रंग के लोग पाये जाते हैं—

यदि काम, क्रोध, भय, लोभ, शोक, चिन्ता, क्षुधा, श्रम आदि ानसिक स्थिति के आधार पर वर्ण विभाजन किया जाय तो यह बात ो सब वर्णों में मौजूद है।

मल, मूत्र, पसीना, कफ, पित्त, खून भी सब शरीरों में समान है ़र वर्ण भेद कैसे हो ?

इस पर भृगु ने श्लोक १० से १५ तक में इस प्रकार ़र दिया—

वर्णों की कोई विशेषता नहीं। इस समस्त संसार को ब्रह्माजी ने ब्राह्मणमय ही बनाया है। पश्चात् कर्मों के अनुसार वर्ण बने।

जो काम-भोग में रुचि रखने वाले, तीखे स्वभाव के, क्रोधी, दुस्साहसी प्रकृति के लाल रंग के थे, वे ब्राह्मण, क्षत्रिय हो गये।

ब्रह्म कर्म जिन्होंने छोड़ दिये और कृषक, गोपालक बने, पीले रंग के थे, वे वैश्य कहलाये।

जो हिंसा, झूठ, लोभ सभी कामों से आजीविका कमाने वाले, गंदे और काले रंग के थे, वे शूद्र बन गये।

इस प्रकार इस कार्य भेद के कारण ब्राह्मण ही पृथक्-पृथक् वर्णों के हो गये। इसलिए धर्म, कर्म और यज्ञ क्रिया उनके लिए विहित है—निषिद्ध नहीं।

इन चारों वर्णों का वेद विचार तथा धर्म कार्यों में समान अधिकार है। ब्रह्माजी का यही पूर्ण विधान है। लोभ के कारण ही लोग अज्ञान को प्राप्त होकर इसका विरोध करते हैं।

कर्म से वर्ण परिवर्तन—

वज्रसूचिका उपनिषद् में अनेकों ऐसे उदाहरण दिये गए हैं जिसमें अन्य वर्णों के घरों में जन्मे बालक अन्य वर्ण को प्राप्त हुए हैं।

"तो क्या जन्म जाति को ब्राह्मण मानें? नहीं, यदि ऐसा होता है तो मनुष्यों की भाँति ही अन्य जीव-जन्तुओं में भी ऐसा ही जाति भेद होता। बहुत से ऋषियों का जन्म अन्य जातियों से भी हुआ है। मृगी से ऋष्यश्रृङ्ग, कुश से कौशिक, जम्बुक से जाम्बुक, वल्मीक से वाल्मीकि, कैवर्त कन्या से व्यास, शशपृष्ठ से गौतम, उर्वशी से वशिष्ठ, कुंभ से अगस्त्य उत्पन्न हुए। हीन जाति से भी बहुत ज्ञान सम्पन्न ऋषि हुए हैं, इसलिए जाति ब्राह्मण नहीं है।"

पुत्रो गृत्समदस्यापि शुनको यस्य शौनकाः ।
ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव वैश्याः शूद्रास्तथैवच ॥

—हरिवंश पुराण १५ । १९–२० ।

अर्थात्—गृत्समद के पुत्र शुनक हुए। शुनक से शौनक नाम से विख्यात ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र पुत्र उत्पन्न हुए।

वर्ण व्यवस्था का इतिहास बताते हुए भागवतकार ने कहा है कि प्राचीनकाल में सभी मनुष्यों का एक ही वर्ण था। महाभारतकार का कथन है कि यह एक ही वर्ण पीछे गुण कर्म स्वभाव से चार प्रकार का बन गया।

एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः ।
देवो नारायणो नान्यः एकोऽग्निवर्ण एव च ।

—श्रीमद्भागवत पु० स्कं० ९ । १४ ।

"सर्व प्रथम एक ही वेद, एक ही सर्ववाङ्मय प्रणव, एक ही अद्वैत नारायण, एक ही अग्नि और एक ही वर्ण था।"

एकवर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिर ।
कर्म क्रिया विभेदेन चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम् ।
सर्वे वै योनिजा मर्त्याः सर्वे मूत्रपुरीषजाः ।
एकेन्द्रियेन्द्रियार्थाश्च तस्माच्छील गुणैर्द्विजः ।
शूद्रोऽपि शील सम्पन्नो गुणवान् ब्राह्मणो भवेत् ।
ब्राह्मणोऽपि क्रियाहीनः शूद्रात् प्रत्यवरो भवेत् ।

—महाभारत वन पर्व अ० १८० ।

"इस संसार में पहले एक ही वर्ण था। पीछे गुण और कर्म के भेद के कारण चार वर्ण बने। सब मनुष्य योनि से ही पैदा होते हैं, मल-मूत्र के स्थान से ही जन्मते हैं, सब में एक-सी इन्द्रिय वासनाएं हैं। इसलिये जन्म से जाति मानना ठीक नहीं। कर्म की प्रधानता से ही

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य माने जाते हैं। यदि शूद्र उत्तम कर्म वाला हो तो उसे ब्राह्मण मानना चाहिए और जो कर्तव्य-हीन ब्राह्मण हो, उसे शूद्र से नीचा मानो।

गीता में भगवान् कृष्ण ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः । गीता ४।१३

"मैंने गुण कर्म के विभाग के अनुसार ही चार वर्ण उत्पन्न किए हैं।"

वर्ण व्यवस्था सनातन नहीं है। इसे तो सामाजिक सुविधा की दृष्टि से शौनक ने प्रचलित किया :—

गृत्समदस्य शौनकश्चातुर्वर्ण्यं प्रवर्तयिताभूत् ।

—विष्णु पुराण अ० ४।८-१।

"गृत्समद के पुत्र शौनक ने चातुर्वर्ण्य व्यवस्था प्रवर्तित की।"

इसी प्रकार के और भी अनेक प्रमाण शास्त्रों में उपलब्ध होते हैं। महाभारत अनु० १४३ में कहा है :—

"सद् आचरण से सभी कोई ब्राह्मण हो सकते हैं। शूद्र भी यदि सच्चरित्र है तो वह ब्राह्मणत्व को प्राप्त होता है। ब्राह्मण यदि कर्तव्य च्युत है तो शूद्र हो जाता है।"

न शूद्रा भगवद् भक्ता विप्रा भागवताः स्मृताः । (भारत)

"भगवान् के भक्तों को शूद्र नहीं कहा जा सकता। उन्हें तो ब्राह्मण ही कहना चाहिए।"

चत्वार एकस्य पितुः सुताश्च तेषां सुतानां खलु जातिरेका।
एवं प्रजानां हि पितैक एवं पित्रैकभावान्न च जाति भेद।

—भविष्य पुराण ४७। ४५

"जिस प्रकार एक ही पिता के चार पुत्रों की जाति एक ही होती है उसी प्रकार एक ही पिता की संतान यह चारों वर्ण भी एक ही जाति के हैं।''

वेद ने भी चारों वर्णों को समान अधिकार दिए हैं। यजुर्वेद २६।२ में लिखा है—कल्याण करने वाली इस वाणी को ब्राह्मण, राजा, शूद्र, वैश्य अपने जनों और समस्त जनों के लिए कहता हूँ। यजुर्वेद ३०।७ से २० तक निम्न वर्ण के व्यक्तियों के नाम गिनाए गए हैं और उनकी अपने कार्यों के लिए नियुक्ति की गई है। कहीं भी उनके लिए निषेध का वर्णन नहीं है। अथर्ववेद ६२।१६ में भी घोषणा की है "हे अग्ने! मुझे देवताओं का प्रिय बनाओ और मुझे राजा का भी प्रिय करो। मैं सब शूद्रों का, आर्यो का और सब देखने वालों का भी स्नेह भाजन होऊँ।" अन्य अनेक स्थानों पर आदेश दिया गया है कि हमें सबमें मिल कर बैठना चाहिए, एक संगठन सूत्र में अपने को पिरोना चाहिए, हमारी सभाएं एक साथ हों, हम मिलकर खाएं, पिएं, मिलकर अपनी सामाजिक समस्याओं का समाधान करें। वेद में कहीं एक दूसरे के प्रति घृणा के बीज बोने की प्रेरणा नहीं दी है। यह सम्भव भी कैसे हो सकता है जब भारतीय संस्कृति ने समानता के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। भारतीय सच्चे अर्थों में आस्तिक थे। आस्तिकता का अभिप्राय वह यह समझते थे कि ईश्वर की बनाई समस्त वस्तुओं में प्रेम भाव होना चाहिए। सभी प्राणी उसके प्रिय पुत्र हैं। किसी के प्रति भी भेदभाव का वर्ताव करना ईश्वर के प्रति अपमान करना है और यही नास्तिकता है। जब हम स्पष्ट रूप से देखते हैं कि ईश्वर का बनाया सूर्य अपनी स्वास्थ्यप्रद किरणों को देखने के लिए धनवान और निर्धन, काले और गोरे, ब्राह्मण और शूद्र, पुरुष और स्त्री का पक्षपात नहीं करता; चन्द्रमा की शीतल किरणें सभी को एक समान प्रकाश व शान्ति प्रदान करती हैं; बाघ और बकरी दोनों

सरिता में जलपान के लिए स्वतंत्र हैं; वायु प्राणीमात्र को बिना मूल्य उपलब्ध है तो; परमात्मा यदि स्वयं जातियों का निर्माण करते तो अवश्य इन वस्तुओं की उपलब्धि में भेद-भाव रखते । परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है । वह अपनी संतान को एक समान बढ़ता देखना चाहते हैं ।

प्राचीनकाल में वर्णव्यवस्था का यह विभाजन स्थिर नहीं माना जाता था । ब्राह्मण के पुत्र को ब्राह्मण नहीं स्वीकार किया जाता था जब तक कि उसमें ब्राह्मणत्व के भाव न हों । नीच कर्म करने वाला ब्राह्मण पतित होकर शूद्र के समान समझा जाता था । श्रेष्ठ कर्म करने वाला शूद्र, ब्राह्मणत्व तक पहुँच सकता था । इतिहास साक्षी है कि छोटी जाति में जन्म लेने वालों ने परम संत पद पाए और समाज ने उन्हें यथेष्ठ मान दिया । शूद्र कहे जाने वाले अनेकों ऋषि मुनि हुए हैं जिनको मंत्रदृष्टा तक माना गया है । जिस जाति के सदस्य मन्त्रदृष्टा तक बन सकते हैं, उन्हें वेदों के अध्ययन से वंचित रखा जाता होगा, इसमें सन्देह ही है । महर्षि अत्रि और वशिष्ठ के उदाहरण हमारे सामने हैं जो परम भागवत थे । उन्होंने समाज को बहुत कुछ दिया । समाज उनका चिर ऋणी रहेगा । कबीर, रामानंद, रामानुज आदि की सेवाओं को कौन भूल सकता है । देवर्षि नारद देश-विदेश में धर्म का प्रचार करते थे परन्तु वह दासी पुत्र थे । वाल्मीकि ब्राह्मण थे परन्तु प्रायः उन्हें शूद्र समझा जाता है क्योंकि उन्होंने जीविकोपार्जन के लिए निम्न कोटि के कार्य करना आरम्भ कर दिया था । यद्यपि विश्वामित्र ने अपने गुणों के आधार पर ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था, स्मरण रहे कि वह क्षत्रिय राजा थे ।

जब हर वर्ण अपनी योग्यता के अनुसार अपना विकास करने के लिए स्वतंत्र था तो भक्ति के क्षेत्र में किसी पर कोई बाधा उपस्थित होने का प्रश्न ही नहीं उठता । सभी को समान अधिकार प्राप्त थे ।

'नारद भक्ति-सूत्र' में सूत्र ७८ में स्पष्ट कहा है 'भक्ति साधन के लिए ऊंच-नीच, स्त्री-पुरुष, जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रिया का कोई भेद नहीं है।' पद्म पुराण में भी भक्ति साधन के लिए समानता का व्यवहार वर्ता गया है और कहा है कि "भगवान की भक्ति का अधिकार सभी देशों, युगों, जातियों और स्थितियों के मनुष्यों को है।" (अ० ४२।१०) सत्य भी है भक्ति का अर्थ है प्रेम, घृणा नहीं। सभी प्राणी ईश्वर के वनाए हुए हैं, उसके पुत्र हैं। उनके प्रति प्रेम प्रदर्शित माना, उनके विकास के साधन जुटाना ही सच्ची भक्ति है, महर्षि पाणिनि ने भक्ति का भावार्थ करते हुए लिखा है। 'भज सेवायाम' जिसमें उन्होंने भजधातु का अर्थ सेवा ही स्थिर किया है। प्राणीमात्र की निःस्वार्थ सेवा ही ईश्वर की सच्ची भक्ति है। भेदभाव का वर्ताव तो अभक्ति को प्रदर्शित करता है। भगवान ने भी गीता में कहा है कि मेरा प्रिय भक्त वह है "जिसका किसी से द्वेष नहीं है, जो सब भूतों के साथ मित्रता का वर्ताव करता हैं और कृपा दृष्टि से देखता है" (१२।१३), "जो प्राणीमात्र में समानता का अनुभव करता हुआ मेरी परम भक्ति को पाता है।" (१८।५४)

वैष्णव धर्म ने इन सिद्धान्तों को व्यवहारिक रूप से माना है और भक्ति के योग में किसी के अधिकारों का हनन नहीं किया। इसमें सभी वर्ण वालों को विष्णु भक्ति के समान अधिकार दिए गए हैं। यही कारण है कि यह अपने देश में ही नहीं, विदेशों में भी फलता-फूलता रहा है। हिन्दू धर्म के जो अनुयायी पथभ्रष्ट होगये थे, उन्हें पुनः अपने धर्म में स्वीकार करने में इन्हें कोई संकोच नहीं रहा है। उनकी शुद्धि की जाती रही है। वैष्णव धर्म के सिद्धान्तों से प्रभावित होकर जिन अन्य जातियों ने इस धर्म में प्रवेश के लिए अपनी इच्छा व्यक्त की, उन्हें प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया गया, उन्हें अपनों की तरह ही समझा जाने लगा। इतिहास इसका साक्षी है। भागवत

स्कन्ध २, अ० ४, श्लोक १८ में लिखा है कि हूण, आंध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, यवन, खस आदि जातियों ने भगवान विष्णु का आश्रय ग्रहण किया और उनकी शुद्धि कर ली गई।

विदिशा के राजा काशी–पुत्र भागभद्र के दरबार में ग्रीस का दूत बनकर यवन "हेलियोडोरस" यहाँ आया था और वैष्णव धर्म से प्रभावित होकर इसमें प्रविष्ट होगया था और भगवान विष्णु की पूजा उपासना करता था। वह अपने नाम के साथ 'भागवत' की उपाधि लगा कर गौरव का अनुभव करता था। १३७५ ई० के लगभग जब फीरोज़शाह तुग़लक का शासनकाल था, एक संत ने काफी संख्या में मुसलमानों से शुद्ध किया। कालमी का रहने वाले नसीरखान ने हिन्दू-धर्म स्वीकार कर लिया था। १६२६३ ई० में ३०००० मलकाने राजपूतों का शुद्धीकरण हुआ था। रूप और सनातन गोस्वामी चैतन्य महाप्रभु के दो प्रधान शिष्य थे जिन्होंने अपने क्षेत्र में वैष्णव धर्म का अच्छा प्रचार किया। यह दोनों भक्त इस्लाम से ही हिन्दू धर्म में प्रविष्ट हुए थे।

तलवार और शासन के जोर से जिन हिन्दुओं को धर्म परिवर्तन के लिए बाध्य किया जाता था, अवसर पाकर वह अपने धर्म में लौट आते थे, उनके लिए कोई बाधा नहीं थी, उनकी शुद्धि करली जाती थी। ७१२ ई० में अरबों ने सिंध पर आक्रमण किया था और हजारों हिन्दुओं को अपने धर्म में दीक्षित कर लिया था, परन्तु उनका प्रभाव घटने पर उन्हें अपने धर्म में वापिस ले लिया गया। जब चारों ओर विदेशी जातियों का आतंक छाया हुआ था, और स्त्रियों के अपहरण की घटनाएँ आए दिन होती रहती थीं तो स्मृतिकारों ने सरल नियमों का निर्माण किया था। स्मृतिकार देवल ने विधान बनाया था कि ऐसी स्त्रियाँ तीन रात तक ब्रह्मचर्य पूर्वक उपवास कर लें तो वह शुद्ध हो सकती हैं। एक वर्ष तक विधर्मियों के साथ रहने वाली स्त्री

तीन दिन में शुद्ध हो सकती थी । शाहजहाँ ने ५००० पंजाबी हिन्दुओं को अपना धर्म छोड़ने को विवश किया था । औरंगजेब ने जोधपुर के मारवाड़ी लोगों पर ऐसे ही अत्याचार किये थे परन्तु बाद में उनको शुद्ध कर लिया गया था । फीरोजशाह बहमनी ने विजयनगर के राजा देवराज पर आक्रमण करके २००० ब्राह्मण कन्याओं का अपहरण किया था । सन्धि होने पर उन्हें अपने धर्म में वापिस ले लिया गया था ।

यह है वैष्णव धर्म की उदार भावना जिसने सभी वर्णों को भक्ति की स्वतंत्रता दी है, ऊंच-नीच के भेद-भावों को मिटा दिया है, विश्व की सभी जातियों को मानव जाति मान कर उन्हें गले लगाने में कोई आपत्ति नहीं की, अपने धर्म के पथभ्रष्ट व्यक्तियों के पुनः प्रवेश पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाया । यही उदार भावना उसके विस्तार का हेतु बनी ।

• • •

भारतीय भाषाओं पर वैष्णव भक्ति का प्रभाव २

वैष्णव धर्म की उदार भावना के कारण यह सारे देश में फैला और सारे देश ने इसका हार्दिक अभिनंदन किया। भारतीय भाषाएं इस से प्रभावित हुई और अत्यन्त महत्वपूर्ण मस्तिष्क की रचना की गई। इसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

हिन्दी–

विष्णु के दोनों अवतारों—राम और कृष्ण की जन्मभूमि वह उत्तर प्रदेश रही है जहाँ की भाषा हिन्दी है। इस लिए यदि इस क्षेत्र में वैष्णव भक्ति का व्यापक प्रचार हो जाए तो यह स्वाभाविक ही है। यहां घर-घर में राम-कृष्ण की मान्यता है। विहार और मध्यप्रदेश भी हिन्दी भाषी प्रांत हैं। वहां भी वैष्णव साहित्य पर अच्छी आस्था है। गीता और रामायण पर न जाने कितने भाष्य हुए और कितने आलोचनात्मक ग्रन्थ छपे। स्वतंत्र रूप से भी अनेकों रचनाएं हुई हैं। इन विषयों के आधुनिक शोधकर्ताओं ने भी काफी परिश्रम किया है। कृष्ण-भक्ति के काव्यों में सूरदास की रचनाएं लोकप्रिय हैं। सियाराम शरण गुप्त का अधूरा खण्ड काव्य गोपिका भी सारगर्भित है। आधुनिक साहित्यकारों में श्री जगन्नाथदास रत्नाकर और हरिश्चंद्र का नाम लिया जा सकता है जिन्होंने भगवान् कृष्ण पर प्रसिद्ध काव्यों की रचना की। श्री मैथिलीशरण गुप्त का योगदान भी स्तुत्य है।

तामिल–

द्रविड़ देश में शैव मत पर अधिक श्रद्धा और विश्वास है।

शैव दर्शन को इस क्षेत्र में विशिष्टता प्राप्त है। इसलिए स्वाभाविक है कि तामिल साहित्य में इसका प्रमुख स्थान है, फिर भी वैष्णव भक्ति की अपनी अलग छाप है। कृष्ण भक्ति से ओत प्रोत अलंकारों के पद उपलब्ध होते हैं जिनकी मान्यता वैष्णव जगत में 'द्रविड़ वेद' नाम से है। जिस तरह वेद मंत्रों के माध्यम से पूजा, अर्चना और कर्मकाण्ड की नाना विधियाँ सम्पन्न की जाती हैं, उसी तरह अलंकारों के इन पदों का उपयोग भी दक्षिण के मन्दिरों में पूजा के समय अत्यन्त श्रद्धा के साथ किया जाता है। जब मन्दिरों में भगवान को पुष्प समपर्ण किए जाते हैं, तब इन पदों का ही गायन किया जाता है। विष्णु चित्र स्वामी का "दिव्य प्रवन्ध" नामक ग्रन्थ इन पदों के लिए प्रसिद्ध माना जाता है। इसमें जितने पद हैं, उनमें भगवान की विभिन्न प्रकार की लीलाओं का वर्णन है।

तेलुगु–

तेलुगु में अनेकों कवियों ने साहित्य रचना की है। भक्ति कवियों में महाकवि पोताना, कृष्णदेव राय, पेछना और तिम्मन्ना अत्यन्त लोकप्रिय रहे हैं। कृष्णदेव राय उस समय (१५०० ई–१५३० ई) विजय नगर के राजा थे। चूंकि वह स्वयं विष्णु भक्ति से प्रभावित थे और स्वयं भी काव्य रचना करते थे, इसलिए वह अपने दरवार में भक्त कवियों को प्रोत्साहन देते थे। उनके राज्यकाल को तेलुगु साहित्य का स्वर्णयुग कहा जाता है। उनका रचित 'विष्णु चित्तीय" भक्ति भावों के साथ-साथ साहित्यिक उत्कृष्टता का भी प्रतीक माना जाता है। कृष्ण देवराय ने ही महाकवि पेछना को 'आंध्र कविता पितामह' की महान् उपाधि से विभूषित किया था। पेछना का काव्य ग्रन्थ 'मनु चरित्र' भाषा की दृष्टि से तो श्रेष्ठ है ही भावों की अभिव्यञ्जना भी इस खूबी से प्रतिपादित की गई है कि वह हृदय को छूए बिना नहीं रहता। महाकवि 'तिम्मन्ना' का 'पारिजात हरण' भगवान कृष्ण के

जीवन पर आधारित है। भाषा के सौंदर्य और भावनाओं की अभिव्यक्ति में यह अद्वितीय माना जाता है।

भागवत महापुराण का तेलुगु अनुवाद महाकवि पोताना ने किया है। यह ग्रन्थ सारे प्रांत में लोकप्रिय है। इसके 'गजेन्द्र मोक्ष' और "रुक्मिणी कल्याण' स्थल विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। यह काव्यमय रचना भक्ति रस से ओत प्रोत है। भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से से यह बेजोड़ है।

कन्नड़—

कन्नड़ साहित्य में भक्तिकाव्यों का शुभारम्भ १६ वीं शताब्दी से होता है। यही इसका स्वर्णकाल माना जाता है। लक्ष्मीशा का "जैमिनि भारत" कन्नड़ भाषा का श्रेष्ठ ग्रंथ स्वीकार किया गया है जिसमें भगवान कृष्ण की ललित लीलाओं का सुन्दर प्रतिपादन है। भागवत महापुराण का चाटु विट्ठलनाथ ने अनुवाद किया जो अत्यन्त सुन्दर प्रबन्ध काव्य है। कुमार-व्यास ने महाभारत का अनुवाद करके एक नए आव्याय का सूत्रपात किया। कुमार वाल्मीकि ने रामायण का अनुवाद करके राम कथा का प्रचार किया। वैष्णव भक्ति को व्यापक रूप देने वाले वहां के दास हैं। इस सम्प्रदाय के वैष्णव संत चैतन्य महाप्रभु से दक्षिण भारत की यात्रा के समय और विशेष रूप से माधवाचार्य से प्रभावित हुए थे। उस क्षेत्र के घर-घर में वैष्णव भक्ति को प्रचारित करने का श्रेय इन्हीं 'दासों' को ही है। इनमें पुरंदरदास के पद अधिक प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त कनकदास, कृष्ण दास, वेंकट दास, विट्ठलदास और विजयदास ने भी काफी कार्य किया था। इन पदों में अद्भुत आकर्पण होता था। स्वाभाविकता और सरसता, सौष्ठव के कारण यह श्रोताओं का मन मोह लेते थे और वह भी गुनगुनाने लगते थे।

मलयालम–

मलयाली साहित्य में कृष्ण काव्यों की प्रचुरता है । यह तामिल और सस्कृत से प्रभावित रही है । इसने अपने गर्भ में अनेकों महान् व्यक्तित्वों को छिपा रखा है। महाकवि 'पोन्तान' की तो उस क्षेत्र में 'तुलसीदास' जैसी ख्याति है । चेरुस्सेरी नंबूद्री ने 'कृष्ण गाथा' का निर्माण किया जिसमें संस्कृत और मलयाली दोनों भाषाओं के शब्द मिलते हैं। वैसे भी मलयाली साहित्य में ७५ प्रतिशत शब्द संस्कृत के ही पाए जाते हैं । 'तुंजुन' कवि ने भागवत महापुराण का अनुवाद किया । मलयाली काव्य साहित्य में इसे श्रेष्ठ रचना मानी जाती है । १३ वीं सदी में ट्रावंकोर के महाराजा द्वारा रचित 'राम चरित' भी अपनी विशिष्टता रखता है । कहा जाता है कि मलयाली में इतने अधिक कृष्ण साहित्य की रचना हुई कि शायदही दक्षिण की किसी भाषा में हो ।

बंगला–

बंगला साहित्य पर वैष्णव भक्ति का विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । इसका विशेष कारण चैतन्य महाप्रभु का व्यापक प्रचार ही दिखाई देता है । कृष्ण सम्बन्धी काफी साहित्य बंगला में रचा गया है । गीता और भागवत पर तो खोजपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हुए ही हैं । स्वतंत्र रचनाओं की भी कमी नहीं है । डा० उपेन्द्रनाथ को "वैष्णव साहित्य पर गवेष्णात्मक अध्ययन" विषय पर कलकत्ता विश्वविद्यालय से डाक्टर आफ लिट्रेचर की उपाधि प्राप्त हुई थी । ताराशंकर वन्ध्योपाध्याय ने 'राधा' नामक प्रसिद्ध उपन्यास की रचना की है । कालिदास राय ने कृष्ण साहित्य की पुष्पित पल्लवित करने में कोई कसर उठा नहीं रखी । परिमल गोस्वामी, डा. राधा गोविन्द नाथ और हरेकृष्ण मुखोपाध्याय ने भी बंगला साहित्य में कृष्ण भक्ति की आहुतियाँ दी हैं ।

बंगाल के प्राचीन कवियों में से चण्डीदास कृष्ण भक्ति काव्य के अत्यन्त उच्च कोटि के माने जाते हैं।

उड़िया–

उड़िया भाषा में भी वैष्णव भक्ति का काफी प्रचार हुआ। अनेकों भक्त कवियों ने अपने भावों की अभिव्यञ्जना कृष्ण भक्ति के माध्यम से की है और कृष्ण को अपना नायक माना है, उन कवियों में मधु सूदन का नाम सब से ऊपर आता है। इनका वैष्णव साहित्य के सृजन और प्रचार में प्रमुख हाथ रहा है। अन्य अनेकों कवियों का झुकाव इस ओर रहा है परन्तु मधुसूदन का प्रभाव ही सर्वोपरि रहा है।

भारतीय भाषाओं पर वैष्णव भक्ति की छाप से स्पष्ट है कि देश के अधिकांश भाग की वैष्णव भक्ति पर आस्था है।

• • •

वैष्णव धर्म का देश व्यापी प्रचार ३

साहित्य का प्रभाव जनमानस पर पड़ता है। किसी भी विचार-धारा को व्यापक रूप देने के लिए तत्सम्वन्धी साहित्य के सृजन की आवश्यकता अनुभव की जाती है। साहित्य से जिसका सम्पर्क होता है. वह उन पर अमिट छाप छोड़ता है। भाषा को प्रभावित करने के वाद ही कोई मत विस्तृत क्षेत्र में फैल सकता है। भारतीय भाषाओं को प्रभावित करने पर वैष्णव धर्म सारे देश में फैल गया। पंजाव जैसे प्रांत में जहाँ हिन्दी की अपेक्षा उर्दू का अधिक प्रचार था, वहाँ भी इस धर्म की जड़ें गहरी जमीं। वहां के हर नगर और ग्राम में राम और कृष्ण के मन्दिर रहे हैं। रामायण, गीता, भागवत अदि ग्रंथों पर विशेष आस्था रही है, उर्दू में तत्सम्वन्धी काफी साहित्य छपा है।

उत्तर प्रदेश राम और कृष्ण की जन्मभूमि है। वृन्दावन वैष्णव भक्ति का केन्द्र रहा है। यहीं से ही वैष्णव भक्ति के प्रसार की योजनाएँ सञ्चालित होती रही हैं। राम की जन्म भूमि अयोध्या भी राम भक्ति के प्रचार का केन्द्र है। हिन्दी भाषा में यहाँ अत्यन्त लोक प्रिय साहित्य का निर्माण हुआ है। घर-घर में राम और कृष्ण की पूजा उपासना होती है।

विहार और राजस्थान दो पड़ोसी प्रांत हैं। उन पर तो प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था ही मद्रास जैसे दूरस्थ प्रान्त को भी इस भक्ति आन्दोलन ने छुआ। दक्षिण के मन्दिर इसके साक्षी हैं।

महाराष्ट्र में भागवत धर्म का व्यापक प्रचार है। यहाँ अनेकों

प्रसिद्ध संत हुए हैं जिनकी कृपा से यहाँ वैष्णव भक्ति का समुद्र उमड़ पड़ा। ज्ञानदेव के कार्य को तो चमत्कार माना जाता है, चांगदेव जैसे उच्चकोटि के योगी उनकी शरण में आए। १५ वर्ष की अल्पायु में ही 'ज्ञानेश्वरी' की रचना करके धार्मिक जगत् को आश्चर्य में डाल दिया। इतने विकसित युग में भी ज्ञानेश्वरी जैसी टीका का अभाव है। इनके अन्य ग्रंथ है—अमृतानुभव, हरिपाठ, चांगदेव पासष्टी ही गोप वसिष्ठ टीका-इतर अभंगा, ज्ञानेश्वरी मराठी साहित्य का रत्न मानी जाती है। २२ वर्ष तक इतने अद्भुत कार्य करने वाले संत ज्ञानेश्वर को विष्णु का ११ वां अवतार माना जाता है।

भक्त नामदेव भी ज्ञानेश्वर के समय में ही अवतरित हुए थे। उनके अभंग भी काफी लोकप्रिय थे। गुरु ग्रंथ साहब में भी ६० से अधिक पदों का संग्रह उपलब्ध होता है। इन्होंने महाराष्ट्र के अतिरिक्त पंजाब में भी भक्ति का प्रचार किया था। निर्गुण भक्ति के इनके अभंग कबीर की वाणी की तरह ही हैं। इनके अभंगों को सारे महाराष्ट्र प्रांत में विशेष आदर की दृष्टि से देखा जाता है।

संत एकनाथ ने भी अपने समय में अपनी विकसित प्रतिभा से वैष्णव धर्म को दृढ़तापूर्वक जमाया। भागवत की उनकी छन्दमयी व्याख्या ग्रन्थरत्न के रूप में लोकप्रिय है। वह 'नाथभागवत' के नाम से प्रसिद्ध है। आज भी उसी क्षेत्र में इसका उतना ही सम्मान है जितना पहले था। उनके अन्य ग्रंथ हैं—"रुक्मिणी स्वयंवर" और "भावार्थ रामायण"।

संत तुकाराम के अभंग तो महाराष्ट्र प्रांत पर छा से गए थे। वह विशेष पढ़े लिखे न थे। फिर भी उनका आज साहित्यक महत्व है। उनके अभंग धार्मिक जगत् में विशेष स्थान रखते हैं। महाराष्ट्र में भागवत धर्म को फैलाने में तुकाराम का भी प्रमुख हाथ रहा है।

वैसे तो निवृत्तिनाथ, सोपानदेव, अबाबाई, विसोबा खेचर,

गोराकुंभार, सावता माली, नरहरी सोनार, चोखा मेला, जगमित्र नेगा, कुर्मदास, जनाबाई, चांगदेव, भानुदास, राघव चैतन्य, केशव चैतन्य, निलोवा राय, शंकर स्वामी, मल्लापा, मुकुन्दराज, कान्होपागा और जोगा परनंद जैसे प्रसिद्ध संत प्रचारकों का सहयोग रहा है, परन्तु विशेषरूप से चार संतों को ही महाराष्ट्र प्रांत में भागवत धर्म का स्तंभ माना जाता है। ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ और तुकाराम ने ही विशेष इसकी स्थापना की, सींचा, पालन पोषण किया, बढ़ाया और व्यापक रूप दिया।

द्वारका और डाकोर जी गुजरात में वैष्णव धर्म के प्रतीक रूप में माने जाते हैं। द्वारका में भगवान् कृष्ण की मूर्ति स्थापित है। इसकी महानता इसी तथ्य से विदित है कि भगवान् शंकराचार्य ने अपनी एक पीठ की स्थापना वहाँ की। १३ वीं शती में गुजरात में वैष्णव धर्म का प्रचार पर्याप्त रूप में हो चुका था। इसका श्रेय नरसी मेहता और मीराबाई को ही देना उचित होगा। गुजराती भाषा के यह अत्यन्त प्रसिद्ध कवि माने जाते हैं जिन्होंने राम कृष्ण की ललित लीलाओं पर आधारित कविताओं का प्रचार सारे गुजरात प्रांत में कर दिया। मीरा का निवास स्थान तो मेवाड़ था परन्तु अंत में वह यहीं आकर रहने लगी थीं और द्वारका जी को ही अपना प्रचार क्षेत्र बनाया था।

उड़ीसा में वैष्णव भक्ति का प्रचार प्रभावशाली रूप से रहा है। सप्त पुरियों में जगन्नाथपुरी जैसा महत्वपूर्ण स्थान स्थित है। यह सारे भारत का मान्यता प्राप्त तीर्थ है। हजारों लाखों की संख्या में यात्री जगन्नाथ जी के दर्शनार्थ देश के कोने-कोने से आते हैं। रथ यात्रा का उत्सव वैष्णव जगत पर अपनी अमिट छाप की याद दिलाता है। इस विशाल और भव्य मन्दिर में भगवान कृष्ण बलराम और सुभद्रा की लकड़ी की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। इसे नीलाचल अथवा पुरुषोत्तम क्षेत्र भी कहा जाता है। चैतन्य महाप्रभु को यह स्थान इतना पसंद आया कि

वह यहीं निवास करने लगे। इस प्रदेश में वैष्णव धर्म को स्वर्णयुग के नाम से याद किया जाता है। चैतन्य राजा प्रताप रुद्र के समय १५०२ ई० में यहाँ आए। इससे पूर्व भागवत का उड़िया अनुवाद हो चुका था। वैष्णव भक्ति के प्रचार में राय रामानंद ने काफी लोक प्रियता अर्जित कर ली थी। १६ वीं शताब्दी में चैतन्य बंगाल से यहाँ आए। तब तो यहां वैष्णव धर्म और साहित्य की एक तरह से क्रान्ति ही हो गई। उस समय के राजा प्रताप रुद्र चैतन्य से प्रभावित होकर वैष्णव धर्म में दीक्षित हुए। उनके दरबार में धर्म सम्मेलनों की बाढ़-सी आ गई थी। आए दिन यह गोष्ठियाँ आयोजित होती रहती थीं। वह स्वयं भी एक प्रकाण्ड पंडित थे।

चैतन्य के प्रभाव ने पंच शिखा नामक पांच कवियों को जन्म दिया जिनके नाम हैं—बलरामदास, अनंतदास, यशोवंतदास, जगन्नाथ दास, अच्युतानंददास। इन्होंने उड़ीसा के घर-घर में वैष्णव भक्ति का प्रचार लोक वाणी में किया। अच्युतानंद ने 'उदय कल्याणी' ग्रंथ की रचना की। बलरामदास ने 'प्रणव गीता' लिखी। 'मुक्तिमंडप' उनकी वेदान्त व्याख्या की प्रसिद्ध पुस्तक है। जगन्नाथदास ने उड़िया में भागवत का अनुवाद किया था। चैतन्य को यह अनुवाद इतना अच्छा लगा कि उन्होंने जगन्नाथदास को "अति बड़ी" की उपाधि से विभूषित किया था। जिस तरह से उत्तरभारत में गोस्वामी तुलसीदास की रामचरित मानस घर-घर में पढ़ी और सुनी जाती हैं उसी तरह का लोकप्रिय स्थान इस उड़िया भागवत को प्राप्त है। बलरामदास की "दाण्डि रामायण" का प्रचार भी व्यापक रूप से है।

बंगाल में कृष्ण-भक्ति को फैलाने का श्रेय महाप्रभु चैतन्य को है। वह ही इस आन्दोलन के जन्म दाता और प्रसारकर्ता सिद्ध हुए। उन्होंने जनसाधारण के बौद्धिक स्तर के अनुरूप भजन और कीर्तन को ही आध्यात्मिक साधन का व्यावहारिक रूप दिया। उनका यह जन-

आन्दोलन सफल हुआ। यवन शासन होने के कारण उन्हें अनेकों कठिनाईयों का सामना करना पड़ा परन्तु उनका असाधारण साहस इन सब बाधाओं को चीरता हुआ द्रुत गति से आगे बढ़ता गया।

इस भक्ति आन्दोलन में उनके दो प्रधान सहयोगी थे–अद्वैताचार्य और नित्यानंद। अद्वैताचार्य उद्भट विद्वान थे और भक्ति आन्दोलन को योग्य पात्रों तक ही सीमित रखना चाहते थे, परन्तु नित्यानंद की यह धारणा थी कि इसका अधिकार हर श्रेणी के व्यक्ति को है। उन्होंने अपने विचारों को क्रियात्मक रूप देकर विलक्षण साहस का परिचय दिया। बौद्ध धर्म के मानने वालों को उस समय निम्न श्रेणी का माना जाता था। नित्यानंद के पुत्र वीरभद्र ने उन्हें भी वैष्णव धर्म में दीक्षित किया।

चैतन्य के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर अनेकों मुस्लिम अधिकारियों ने उनकी शरण ली, उनके मत को स्वीकार किया, उनके धर्म में दीक्षित हो गए और उच्चकोटि के प्रचारक भी हुए।

चैतन्य ने अपने दो भक्तों—लोकननाथ एक गोस्वामी और भूगर्भ आचार्य को वृन्दावन भेजा ताकि वह भगवान कृष्ण के लीला सम्बन्धी स्थानों की खोज करें और उनका उद्धार करें। मथुरा वृन्दावन इन स्थानों की खोज का कार्य इन दोनों भक्तों ने ही सम्पन्न किया।

चैतन्य के भक्ति आंदोलन दृढ़ करने के लिए छः गोस्वामियों का नाम उल्लेखनीय है। उनके नाम हैं—रूप, सनातन, रघुनाथदास, रघुनाथ भट्ट, गोपाल, भट्ट और जीव गोस्वामी।

रूप गोस्वामी उस समय बंगाल के नबाव हसैनशाह के प्रधान मंत्री थे। चैतन्य से प्रभावित होकर इन्होंने संन्यास ले लिया और उनके प्रादेशानुसार प्रचार में जुट गए। वह वृन्दावन में रहकर साहित्य साधना ही करते रहे। वह विद्वान और कवि दोनों थे। अनेकों महत्वपूर्ण ग्रंथों की उन्होंने रचना की है जिनमें उन्होंने भक्ति शास्त्र के

गम्भीर तथ्यों का सरल विवेचन किया है। "उज्ज्वल-नीलमणि" और "भक्ति रसामृतसिंधु" में भक्ति के रसरूप का सुन्दर प्रतिपादन है। "लघुभागवतामृत" उनका प्रसिद्ध ग्रंथ है 'ललित माधव' और 'विदग्ध माधव' नाटकों ने अच्छी ख्याति प्राप्त की। 'उद्धवदूत' और 'हंस दूत' उनके भक्ति रस के काव्य संग्रह हैं। कहते हैं मीराबाई के यह दीक्षा गुरु थे

सनातन गोस्वामी भी बंगाल के नवाब के उच्चधिकारी थे और अपने ऊँचे पद का त्याग कर चैतन्य मत में प्रविष्ट हुए थे। रूप की तरह शास्त्रों का प्रणायन ही इनका प्रमुख कार्य रहा है। रूपगोस्वामी ने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है इन्होंने नियमों और आचारों की व्यवस्थित रूप दिया था। एक ने सिद्धान्त पक्ष को पकड़ा और दूसरे ने व्यवहार पक्ष को इन्होंने "वैष्णव तोषिणी" नाम से भागवत की सुन्दर व्याख्या की है। "हरि भक्ति-विलास इनका एक विख्यात ग्रंथ है जिसमें मूर्तियों की पूजा, प्रतिष्ठा और निर्माण का विधान दिया गया है।

रघुनाथ गोस्वामी प्रचार के अतिरिक्त-राधाष्टक अभीष्ट प्रार्थना-नाहक, विलाप कुसमांजलि, नामाष्टक, अभीष्ट सूचना, शचीनन्दन शतक और उत्कण्ठ दशक और ग्रंथों की रचना कर के वैष्णव धर्म के प्रसार में योग दिया था।

जीव गोस्वामी ने अनेकों उच्चकोटि के ग्रंथों का निमर्णा किया है जिसमें उल्लेखनीय हैं—क्रम संदर्भ, षट्संदर्भ, हरिनामामृत व्याकरण, व्रहसंहिता व कृष्ण वसीमृत की टीकाएं, कृष्णार्चन दीपका और दुर्गम संगमनों। वृन्दावन रह कर यह अपना सब कार्य करते रहे हैं।

कृष्णदास कविराज भी चैतन्य मत के प्रधान सहयोगी रहे हैं। इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है—चैतन्य चरितामृत। वंग भाषा का यह

अद्वितीय ग्रंथ रत्न है। इसमें गूढ़ तत्वों की सरल व्याख्या की गई है। इसे बंगाल के घर-घर में पढ़ा जाता है। गोस्वामी तुलसीदास की रामचरित्र मानस को जितनी लोक प्रियता हिन्दी जगत में प्राप्त है, वही स्थान इनके चैतन्य चरितामृत को बंगाल में है। वास्तव में है भी यह इसी ढ़ंग का प्रौढ़ ग्रन्थ। इनकी अन्य रचनाएँ हैं—रामपाल, प्रेमरत्नावली, वैष्णवाष्टक गोविन्द लीलामृत व कृष्ण-कर्णामृत आदि की टीका आदि। जहां कामरूया पीठों जैसी शक्ति पीठों की स्थापना हो और पूरे प्रांत का प्राँत शाक्त हो, वहाँ वैष्णव भक्ति की सरिता को प्रवाहित कर देना एक अत्यन्त कठिन कार्य था। कहां इस भक्ति का केन्द्र वृन्दावन और कहाँ असम भारत का पूर्वी प्राँत जहाँ के दुर्गम पर्वतीय स्थानों में आने जाने साधनों का अभाव था। कहावत प्रसिद्ध है जहाँ चाह होती है, वहाँ राह निकल ही आती है। घोर कठिनाइयों को झेल कर वैष्णव प्रचारकों ने यहाँ असाधारण सफलता प्राप्त की यह एक महान् आश्चर्य और चमत्कार ही समझना चाहिए। जिस प्रांत की सारी जनता शाक्त हो, वहाँ की ६८ प्रतिशत जनता वैष्णव धर्म में दीक्षित हो जाय। इसका प्रमुख श्रेय वहाँ के प्रचारक शंकर देव और उनके शिष्य माधव देव को है। शंकर देव के मन में जिस तरह वैष्णव भक्ति की तरंगें उछलती थीं, उसी तरह उसने सारे प्राँत में भक्ति की गंगा बहा दी। कुछ लेखक शंकर देव को आसाम का चैतन्य महाप्रभु भी कहते हैं। असम साहित्य का श्रीगणेश शंकर देव की रचनाओं से ही माना गया है। उनकी संस्कृतपुस्तक 'भक्ति रत्नाकर' प्रसिद्ध है जिसका असमी भाषा में अनुवाद भी किया गया है। "भक्ति रत्नावली" भक्तिभावों से ओत-प्रोत उनका लोक प्रिय ग्रन्थ है, असम में चार पुस्तकों को विशेष रूप से धार्मिक ग्रन्थ स्वीकार किया गया है। कीर्तन, दशम, नामघोष और भक्ति रत्नावली। इन ग्रन्थों का वहाँ के घर-घर में पठन पाठन और भजन कीर्तनहोता है। इस तरह से सारे देश मेंवैष्णव धर्म का व्यापक प्रचार हुआ जो आज तक स्थिर है। • • •

विदेशों में विष्णु-भक्ति का प्रचार— ४

भारतीय संस्कृति अपनी उदार दृष्टि की विशिष्टता रखती है। संकीर्णता नाम मात्र को भी इसके सैद्धान्तिक व व्यवहारिक पक्ष में स्थान नहीं पा सकती है। जिस संस्कृति के प्रतिनिधि ऋषियों ने यह असाधारण खोज की हो कि आत्मा प्राणी मात्र में समान रूप से समा रहा है, शारीरिक आकृतियों, स्वभावों व अन्य तथ्यों में भले ही अन्तर हो (जो परिवर्तनशील हैं), उनके मूल तत्व आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। वही एक तत्व ही सब प्राणियों में समान रूप से सब में समाया हुआ है, जिस देश के निवासियों ने इस सिद्धान्त को घुट्टी के रूप में अपनाया हो, उनमें देश, जाति और सम्प्रदाय का भेदभाव कैसे पनप सकता है। उनके लिए सारा विश्व देश ही दिखाई देता है। मानवता के विकास के लिए जो खोजें, सिद्धान्तकारों ने निश्चित की हों, उन्हें वह अपने तक सीमित कैसे रख सकते हैं। हर मानव को देवता वनाना तो उनके जीवन का उद्देश्य रहा है। यही कारण है कि प्राचीनकाल में भारतीय धर्म और संस्कृति वड़ी उदार रही है। जो भी यहाँ आया, उसे समा लेने की भावना और क्षमता उसमें रही है और सारे विश्व में अपने सिद्धान्तों के प्रचार की तीव्र लालसा को प्रोत्साहन मिला। प्राचीन काल में भारतीय प्रचारक सारे विश्व में भारतीय संस्कृति के प्रचार के लिए भ्रमण करते रहे हैं। जहाँ-जहाँ भी वह गए, उन्होंने अपने ज्ञान की वहाँ धाक जमाई। उन देश वासियों ने इनमें विचार प्रसार की निःस्वार्थ भावना देख कर उनकी रीति-रिवाजों, मान्यताओं,

त्यौहारों आदि को भी अपनाया, यहाँ के धर्म ग्रंथों को अपना ही धार्मिक ग्रंथ समझा, यहाँ के नामों को अपनाया, यहाँ के नगरों के नामों पर वहाँ नगर बसाए। अपने देशको भी उन्होंने भारत बनाने का प्रयत्न किया। ऐसा लगता था कि भारत की सूक्ष्म आत्मा उठ कर सारे विश्व में घूम रही हो और सब ओर उसी की प्रति छाया दृष्टि-गोचर हो रही है।

भगवान विष्णु की पूजा उपासना के सम्बन्ध में भी यही हुआ। जिस व्यापक रूप से भारत में यह प्रचलित थी, उसी रूप में दक्षिण पूर्व एशिया में इसे अपनाया गया। वैष्णव धर्म अपनी उदार भावना के लिए प्रसिद्ध रहा है। तभी वह तीव्र गति से अपने पड़ोसी देशों में फैल गया।

बाली में अब यवनराज्य है परन्तु फिर भी वहाँ हिन्दू संस्कृति जीवित जाग्रत है। कतिपय विद्वानों का तो यह कहना है कि यदि हिन्दुत्व कहीं जीवित है तो वह पवित्र स्थान बाली ही है जहाँ भारतीयता के उज्ज्वल कण मिलते हैं। "ब्राह्मणमात्र में हिन्दू सभ्यता" नाम की पुस्तक में स्वामी सदानन्द ने लिखा है कि वाली द्वीप में हिन्दू धर्म जिस पवित्रता के साथ जी रहा है, उस पवित्रता के साथ वह अब भारत में भी नहीं है।

हिन्दू धर्म की धार्मिक मान्यताओं को वह स्वीकार करते हैं। वहाँ के धार्मिक काम कराने वाले ब्राह्मण पंडित पदड़ कहलाते हैं। वह गायत्रीमंत्र का प्रयोग करते हैं। उन्हें संस्कृत के मंत्र और श्लोक इतने कंठस्थ हैं कि प्राचीन भारतीय ऋषियों की याद ताजा हो जाती है। इनका अर्थ वह भले ही न समझते हों परन्तु उनका मस्तिष्क संस्कृत के स्तोत्रों का एक विश्वकोष सा ही बना रहता है। फ्रांस के डा० सिल्वांजेवी को इस पर अत्यन्त आश्चर्य हुआ और उन्होंने इन पंडों के पास जा जाकर उनसे कंठस्थ श्लोकों को स्वयं लिपिबद्ध

वद्ध किया और "वाली द्वीप ग्रंथा:" नाम की गायक वाड़ ओरियण्टल सीरिज के नाम से छापा ।

वाह्यरूप से वाली निवासियों का धर्म परिवर्तन भले ही कर दिया गया हो परन्तु उनके धार्मिक विश्वास और मान्यताऐं अब भी पहले जैसी है जिनमें भारतीय संस्कृति की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। उन भावनाओं में भगवान विष्णु और उनके अवतारों की भक्ति विशेप महत्व रखती है। "विष्णु पन्जर" नाम का स्तोत्र वहाँ के पदंडों में अत्यन्त लोक प्रिय है और इसका खुल कर प्रयोग होता है। 'विष्णु स्लव नाम का दूसरा स्तोत्र भी काफी प्रसिद्ध है जिसमें विष्णु के अलंकारों और उनकी लीलाओं का वर्णन है।

वाली में रामायण और महाभारत जैसे इतिहास ग्रंथों पर विशेप आस्था है। जिस प्रकार से भारत में रामकथा को लेकर रामलीला का प्रस्थान होता है। उसी प्रकार से वहाँ भी रामायण और महाभारत की कथाओं का अभिनय किया जाता है । हिन्दू धर्म में देवी देवताओं के चित्र घरों में लगाए जाते हैं । वहाँ के प्रमुख देवताओं में विष्णु का भी विशिष्ट स्थान है । वहाँ के ग्राम-ग्राम में इनकी मूर्तियों की प्रतिष्ठापना है। वहाँ के मन्दिरों को देख कर ऐसा आभास होता है जैसे कोई दक्षिण भारत के मन्दिरों के दर्शन कर रहा हो। गीता की दैवी सम्पत्ति और अखणों के देवासुर संग्राम के प्रतीक के रूप में "भूत पिशाच नृत्य" किया जाता है, जो मनुष्य की मानसिक वृत्तियों का द्योतक है। वहां मोटर वसों के नाम भी रामायण के पात्रों की तरह 'जटायु' और 'सम्पाती' जैसे हैं। भगवान विष्णु और उनके अवतारों की उपासना वहाँ अत्यन्त श्रद्धा से की जाती है।

कम्बोडिया में भारतीय राज्य की स्थापना हो चुकी थी। वैष्णव धर्म वहाँ व्यापक रूप से फैला हुआ था । इसका प्रमाण वहाँ के मन्दिरों में आज भी देखा जा सकता है। वहाँ के शिक्षालेख

स्वयं इस तथ्य का उद्घोष करते हैं। वहाँ के मन्दिरों में अन्य देवी-देवताओं के साथ विष्णु के चित्र भी देखे जा सकते हैं। रामायण और महाभारत की घटनाएें तो ऐसी लगती हैं जैसे वह उसी भूमि में ही घटी हैं। वह वहाँ के जन-जीवन में व्याप्त हैं। मारीच वध, वाली सुग्रीव युद्ध, अशोक वाटिका में सीता व हनुमान का वार्तालाप, लंका युद्ध, पुष्पक विमान से यात्रा के चित्र बड़ी खूबी से चित्रित किए गए हैं। कुरुक्षेत्र में महाभारत का युद्ध तो देखे ही बनता है। समुद्र मंथन का दृश्य हमें विष्णु की याद दिलाता है। विष्णु लोक की स्थापना वहाँ वैष्णव धर्म के प्रसार का प्रतीक है। वहाँ हाँची में विष्णु मन्दिर था। पीकुक में विष्णु, हनुमान आदि की मूर्तियाँ मिली हैं। वहाँ के राजा उदधादित्य (द्वितीय) ने, शिव और ब्रह्मा के मन्दिरों के साथ विष्णु के मन्दिर भी बनवाए थे। एगकोरवार विश्व का सबसे बड़ा मन्दिर माना जाता है। वह विशुद्ध रूप से वैष्णव मन्दिर ही था। उसकी भव्यता और विशालता को चुनौती देने वाला मन्दिर भारतवर्ष में भी नहीं है। कहा जाता है विश्व के महान आश्चर्यों को मान्यता देने वाला यात्री यदि इस मन्दिर को देख लेता तो निश्चय ही आश्चर्यों की सूची में इसे प्रथम नम्बर पर स्थान देता। उस मन्दिर की व्यवस्था ही चकित करने वाली है। उसकी व्यवस्था के लिए ६६६२५ कर्मचारी नियुक्त थे। मन्दिर में ५६६ मकान पत्थर के व २८८ ईंटों से बनाए गए थे। उसकी आर्थिक व्यवस्था के लिए ३४०० ग्राम उसके साथ लगा दिए गए थे। अनुमान है ४१ लाख मन चावल इसके लिए दिया जाता था। फ्रेंच लेखक ग्रोम लियर ने अनुमान लगाया था कि ४४००० मजदूर यदि प्रति दिन १० घंटा काम करें तो इसे आठ वर्ष में बनाने में समर्थ हो सकते हैं। विष्णु भक्ति से प्रभावित होकर ही वहाँ के राजा ने इसका निर्माण कराया था। वहाँ सुमेर पर्वत को इतना भव्य रूप दिया गया था मानो उसका

साकार रूप उपस्थित हो गया हो। उसे उठाने वाले विष्णु को क्षीर सागर में शेष शैया पर लेटे दिखाया गया है। वहाँ के मन्दिरों में रामायण, महाभारत और पुराण कथाओं की व्यवस्था की गई थी। वैष्णव काव्यों की रचना से वहाँ वैष्णव धर्म का विशेष प्रचार हुआ। वैष्णव ग्रंथ तो वहाँ घर-घर में पढ़े और सुने जाते थे और विष्णु को अपना इष्टदेव माना जाता था। भारत के लोग यदि उस समय गए होंगे तो उन्हें भारत और कम्बोडिया में वैष्णव मान्यताओं के सम्बन्ध में कोई भी अन्तर नहीं प्रतीत होता होगा।

थाईलैण्ड में व्यापक रूप से बौद्धमत की स्थापना होने पर भी वैष्णव धर्म के प्रति पर्याप्त श्रद्धा थी। वहाँ की संस्कृति भारतीय संस्कृति से ही प्रभावित थी। इसका प्रमाण वहाँ के लोगों के नामकरण से परिलक्षित होता है। उस राज्य का एक भाग 'विदेह राज्य' नाम से था। वहाँ के दो पर्वतों का नाम 'पिरदल गुहा' और 'गृद्ध कूट' था। ब्रह्म राज्य की स्थापना वहाँ की सिकांग नदी के दक्षिण में हुई थी। श्याम (थाईलैण्ड का प्राचीन नाम) की राजधानी अयोध्या थी। मोन जाति का प्रमुख केन्द्र लवपुरी में था। १३ वीं शताब्दी में सुखोदया के राजा इन्दादित्य थे। उसके पुत्र का नाम 'राम' था जो वहाँ का प्रसिद्ध राजा हुआ है। १६८२ में वहाँ चक्री वंध का राज्य हुआ। वहां के राजा चक्री में अपनी उपाधि 'राम' रखी। वह भारतीय राजा राम से इतने प्रभावित थे। इस नाम को लगाने में वह अपना गौरव समझते थे। इस वंश में जितने भी राजा हुए, वह सभी अपने नामों के साथ 'राम' शब्द जोड़ते थे। वह उस राज्यवंश की एक परम्परा ही बन गई थी। श्यामवासियों को रामायण अत्यन्त प्रिय लगती थी। थाई रामायण को 'राम कनि' अर्थात 'रामकीर्ति' कहते हैं। वहाँ के नाटकों का प्रायः यही विषय रहता है। वहाँ की चित्रकला पर भी रामायण का प्रभाव स्पष्ट है।

वहाँ की मूर्तिकला के अध्ययन से विष्णु के प्रति श्रद्धा की झाँकी मिलती है। चौथी शती के संस्कृत शिलालेख में विष्णु की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। लवपुरी के मन्दिर में विष्णु की मूर्तियाँ स्थापित हैं। श्याम का राजा राम बौद्ध धर्मावलम्बी था परन्तु फिर भी उसने विष्णु की मूर्तियों को स्थापना कराई थी। वहाँ के राज्य सिंहासन पर भगवान विष्णु की गरुड़ारूढ़ मूर्ति है। वंकाक के वार (मन्दिर) के बाहर विष्णु की मूर्तियाँ हैं।

जावा में विष्णु के अवतार राम के प्रति श्रद्धा कूट-कूट कर भरी हुई थी। रामायण का जावा में घर-घर में प्रचार था और कावी भाषा में अनुवाद भी हो गया। रामायण से ज्ञानी लोग इतने प्रभावित थे कि उसके प्रमुख नायक राम को वह विदेशी नहीं मानते थे, वरन् उनकी यह धारणा बन गई थी कि राम का जन्म वहीं हुआ था और यह घटना जावा की है। राम वहाँ के जन-जीवन में घुल गए थे। किसी भी नाटक में राम को देखा जा सकता था। रामायण सम्बन्धी नाटकों को वह लोग सब से अधिक पसंद करते थे। वहां के मन्दिरों में रामायण की घटनाओं को सुविधा पूर्वक देखा जा सकता है। महर्षि विश्वा-मित्र का राजा दशरथ के दरबार में जाना, राम के बाण से ताड़का व अन्य राक्षसों का मारा जाना, जनक से भेंट, सीता स्वयंवर, शिव धनुष का तोड़ना, अक्षमाला ग्रहण किये हुये परशुराम का राम के सामने आना, कैकई का दशरथ से राज्याभिषेक के बारे में वार्तालाप करना, शोक मुद्रा में राजा दशरथ जिसमें कौशल्या पीछे खड़ी है आदि दृश्य वहां के मन्दिरों की शोभा वृद्धि करते हैं। राम, सीता और लक्ष्मण का वन गमन, दशरथ की मृत्यु के पश्चात् श्राद्ध क्रिया, राम का भरत को अपनी खड़ाऊँ देना, राम का राक्षसों से युद्ध, सीता को परेशान करने के लिये कौये को दन्ड देना, सूर्पणखाँ का राम के पास आना, राम का स्वर्ण-हिरण के पीछे जाना, ब्राह्मण वेश में रावण का आना और सीता

को उठा ले जाना, रावण का जटायु से संघर्ष, सीता का जटायु को अंगूठी देना, जटायु का लक्ष्मण को अंगूठी देना, हनुमान से भेंट, सुग्रीव का आना, राम को सात पेड़ों को एक ही बाण से बींधना, सुग्रीव वाली का युद्ध, वाली का मृत्यु, सुग्रीव तारा का विवाह, हनुमान का लंका में जाना सीता से मिलना, अपनी पूंछ से लंका को जलाना, लंका से वापसी, राम को लंका के समाचार देना, पुल बनाना, राम रावण युद्ध व मेघनाथ आदि का मारा जाना यह चित्र भी कम आकर्षक नहीं हैं ।

लंका में हनुमान के कार्यों के चित्र देखकर लोग विशेष प्रसन्नता अनुभव करते हैं । रावण का अशोक वाटिका में आना, हनुमान का पेड़ से उतरना, हनुमान का नागपाश में बँधना और रावण दरबार में पेश होना, हनुमान का लंका में आग लगाना आदि दृश्यों से वह आत्मगौरव की अनुभूति करते है क्योंकि इनमें उनके पूर्वजों की वीरगाथा का चित्रण है ।

जावा में प्राप्त एक अभिलेख में पाँचवी शताब्दी के राजा पूर्ण वर्मन के वैष्णव होने का पता चलता है । एक अन्य अभिलेख में गंगा के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित की गई है। विष्णु के चक्र, शंख, गदा और पद्म नामा का इसमें वर्णन हैं । श्री विजय साम्राज्य के शैलेन्द्र राजाओं ने प्रेवानन धार्य में ताराजोगं रंग का विशाल मन्दिर बनवाया था जिसमें भगवान विष्णु की मूर्ति स्थापित थी। उसमें रामायण सम्बन्धी चित्र बड़ी सुन्दरता से अंकित किए गए हैं। कला की दृष्टि से इस मन्दिर की भव्यता कम्बोडिया के अंगकोरवार की अपेक्षा कहीं अधिक थी ।

इन्डोनेशिया में भारतीय इतिहास ग्रंथों–रामायण और महाभारत का स्पष्ट प्रभाव है । यह आस्था यहाँ तक है कि वहां के नृत्य-नाटिकाओं में भी रामायण और महाभारत की कथाओं को आधार बनाया जाता

है। गीता का भी वहाँ अच्छा प्रचार था। स्व० आचार्य रघुवीर जब इन्डोनेशिया गए थे तो ताड़-पत्र पर लिखी एक प्राचीन भाषा की भगवद्गीता लाए थे। इससे विदित है कि वहां के निवासियों ने भारतीय संस्कृति की मान्यताओं को स्वीकार किया था।

चम्पा में भी वैष्णव धर्म का प्रचार था। वहाँ विष्णु के अवतारों राम और कृष्ण की मूर्तियों की स्थापना और उनकी यशो-गाथा का चित्रण उपलब्ध होता है। वहाँ के मन्दिरों में कृष्ण-लीला के दृश्य–विशेष रूप से गोवर्धन उठाना और कंस को मारना, यह बड़ी सुन्दरता से चित्रित किए गए हैं। विष्णु पत्नी लक्ष्मी वहाँ की मान्य देवी हैं। विष्णु वाहन गरुड़ की भी वहाँ अच्छी मान्यता है। विष्णु को वहाँ गोविन्द, नारायण हरि और पुरुषोत्तम आदि अनेकों नामों से स्मरण किया जाता है।

मलाया आज मुसलिम देश है परन्तु कभी वहाँ के उपनिवेशों में हिन्दू राज्य था और हिन्दू संस्कृति थी। वहाँ की लिपि देवनागरी थी, राजभाषा संस्कृत थी। काफी संख्या में हिन्दू मन्दिरों का निर्माण हुआ था जिनमें अन्य देवताओं में विष्णु की मूर्तियाँ भी स्थापित थीं। वहाँ के साहित्य में विष्णु कथाएं प्रचुरता से उपलब्ध होती हैं। वहाँ विष्णु की मूर्तियों के चार हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म है। रामायण, महाभारत और पुराण वहां पर घर-घर पढ़े जाते थे।

बर्मा में बौद्ध धर्म का प्रचार अधिक था फिर भी हिन्दू मन्दिरों की भी कमी नहीं थी। विष्णु की भी मूर्तियाँ वहाँ उपलब्ध हुई हैं। वैशाली के चन्द्रवंश के राजा आनंदचंद्र की मुद्राओं पर भगवान विष्णु के चित्र खुदे हुए हैं। पगान में विष्णु आदि की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। पगान के पास ही एक हजार मन्दिरों में ध्वंसावशेष मिले हैं।

उपरोक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि अपनी उदार भावना के कारण वैष्णव धर्म सारे दक्षिण पूर्व एशिया में फैल गया था जिसकी झलक आज भी दिखाई देती है।

• • •

वेद में जितने सूक्त इन्द्र, अग्नि, सोम आदि देवताओं के हैं, उतने तो विष्णु के नहीं हैं परन्तु फिर भी विष्णु का अपना विशेष स्थान है। वह इन्द्र के मित्र और सहयोगी रहे हैं। वृत्र के हनन में भी उन्होंने इन्द्र का साथ दिया है, आसुरी शक्तियों के विनाश में उन्होंने कन्धे के साथ कन्धा मिला कर कार्य किया है। वेद में वह उपेन्द्र भी कहे जाते हैं।

पुराणों में तो विष्णु भक्ति, उनसे सम्बन्धित गतिविधियों और पराक्रमों का अत्यन्त विस्तृत वर्णन है। उनके लिए एक स्वतंत्र पुराण की स्थापना की गई है। केवल उन्हीं के लिए नहीं, उनके माने जाने वाले अवतारों—वामन, वराह, मत्स्य, कूर्म आदि के लिए भी अलग-अलग पुराण बनाए गए हैं। इससे स्पष्ट है कि पुराणों में विष्णु गाथा का मूल वेदों में है। पुराणों में वामन का रूप धारण करके विष्णु ने इन्द्र को बलि से राज्य छीन कर दिया और ब्राह्मण का वेष बदल कर तीन पग पृथ्वी मांग कर पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्योलोक नाप लिए। विष्णु के तीन पगों का वर्णन वेद में भी अनेकों स्थानों पर आया है, जिससे वह समस्त सृष्टि के प्रतीक रूप में माने जाते हैं।

ऋग्वेद में अनेकों स्थानों पर विष्णु महिमा का प्रतिपादन किया गया है। वह इस प्रकार है:—

"जिस सात स्थान वाली पृथ्वी पर विष्णु ने पाद-क्रमण किया। उसी पृथ्वी पर देवगण हमारी रक्षा करें। विष्णु ने इस संसार को तीन पांव रख कर विक्रमण किया। इनके धूल लगे पैर में ही पूरी सृष्टि समा गई। सबके रक्षक, किसी से धोखा न खाने वाले, नियम पालक विष्णु ने तीन पैर रखे। विष्णु के पराक्रम को देखो जिनके बल से सभी नियम स्थित हैं। वे इन्द्र के साथी तथा मित्र हैं। आकाश की ओर

विस्तारपूर्वक देखने वाला नेत्र विष्णु के परमपद को देखना चाहता है। ज्ञानीजन उस पद को हृदय में देखते हैं। विष्णु के सर्वोच्च पद की स्तुति करने वाले चैतन्य ज्ञानी जन भले प्रकाश प्रकाशित करते हैं।"

(१।२२।१६-२१)

यास्काचार्य ने तीन पगों की व्याख्या के लिए दो प्राचीन आचार्यों का उल्लेख किया है। पहले हैं–शाकपूणि जिनके अनुसार विष्णु के तीन पगों का अभिप्राय पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश से है। दूसरे आचार्य ओर्ण काम ने विष्णु को सूर्य देवता माना है और तीन पगों का अर्थ प्रातः, मध्यान्ह और संध्या लिया है।

इस सूक्त में विष्णु को रक्षक, नियम, पालक, महान् पराक्रमी और इन्द्र का सखा भी कहा गया है।

"मैं विष्णु के पराक्रम का वर्णन करता हूं। उन्होंने तीन पैरों में लोकों को नाप लिया और आकाश को स्थिर किया। विष्णु के तीन पदों में सम्पूर्ण जगत निवास करता है। अतः पर्वत पर रहने वाले भयंकर पशुओं के समान यह संसार विष्णु के पराक्रम की प्रशंसा करता है। जिन विष्णु ने अकेले ही अपने तीन पैरों में तीनों लोकों को नाप लिया उन महावली विष्णु की वहुत से जीव स्तुति करते हैं। जिन अकेले ने त्रिगुणात्मक पृथिवी आकाश और सव लोकों को धारण किया है, वे विष्णु अक्षय स्वतन्त्रता में प्रसन्न रहते हैं और मनुष्यों को मधुर अन्नादि से युक्त करते हैं। मैं विष्णु के उस विस्तृत पद का आश्रय चाहता हूँ जहाँ देवताओं का स्वामित्व मानने वाले मनुष्य आश्वासन प्राप्त करते हैं। विष्णु ही वन्धु हैं। उनका परमपद ही मधुरता (अमृतादि) का केन्द्र है। हे इन्द्र और विष्णो ! हम, तुम, दोनों के अत्यन्त शक्ति वाली सिद्धि रूप गौऐं हैं। स्तुति के योग्य विष्णु का ऊँच पद तेज से परिपूर्ण है।" (१।१५४।१—६)

इससे स्पष्ट है कि वैदिक काल से ही उनके भक्तों की संख्या वृद्धि पर रही है और उनके व्यापक पराक्रमों की प्रशंसा होती रही है। यहाँ वह पराक्रमी, यशस्वी, शक्तिशाली और तेजस्वी रूप में प्रस्तुत किए गए हैं।

"मनुष्यो ! अपने रक्षक सोम रूप अन्न को इन्द्र और विष्णु के लिए सिद्ध करो। वे दोनों उन्नत कर्म वाले किसी के बहकावे में नहीं आते। हे इन्द्र और विष्णो ! तुम कर्मों के फल देने वाले स्वामी हो। तुम्हारे लिए साधक सोम निचोड़ कर तैयार करता है। तुम शत्रु द्वारा लक्ष्य कर फेंके गये बाणों से उसकी रक्षा करने में समर्थ हो।" (१।७५५।१-२)

सोम को वेद में अत्यन्त पौष्टिक और आरोग्यता प्रदान करने वाला अवतार माना गया है। इससे अमरता तक प्राप्त होना बताया गया है। वेद में इन्द्र और अग्नि के सूत्र सब से अधिक उपलब्ध होते हैं। इसके बाद सोम को ही यह श्रेय प्राप्त है। इसीसे उसकी महत्ता का मूल्यांकन किया जा सकता है। इन्द्र का यह प्रिय पेय रहा है। इन्द्र के लिए यह विशेष प्रकार से तैयार किया जाता था। परन्तु विष्णु तो सोम के प्रतिनिधि माने जाते हैं।

ऋग्वेद में अन्यत्र भी विष्णु के बल, वीर्य और पराक्रम का वर्णन है।

"सबके स्वामी, रक्षक, शत्रु रहित, युवा विष्णु के बल वीर्य की हम स्तुति करते हैं, जिन्होंने लोक रक्षा के लिए तीन पाँव रख कर ही सब लोकों को बाँध डाला। सभी प्राणी इन विष्णु के दो पदों को ही देख सकते हैं। तीसरे पद को पहुंचने का कोई भी साहस नहीं करता। आकाश में गमन करने वाले मरुद्गण भी नहीं प्राप्त कर सकते। विशाल स्तुतियों से युक्त विष्णु ने काल के चौरानवें (९४) अंशों की

चक्र की तरह घुमाया। स्तुति करने वाले उन्हें ध्यान में खोजते और आह्वान करते हैं।" (१।१५५।४-६)

"हे विष्णो! जलोत्पादक, अत्यन्त यशस्वी, रक्षक, विस्तृत तुम मित्र के समान सुख देने वाले हो। तुम्हारे स्तोत्र को मेधावीजन पुष्ट करते हैं। तुम्हारा यज्ञ हविदाता यजमान सम्पन्न करते हैं। जो मेधावी स्तुतिपात्र स्वयंभू विष्णु के लिए हवि देता है और इनके यशों का वर्णन करता है, वह सभी को जीत लेता है। स्तोताओ! प्रकृति के गर्भ रूप विष्णु को तुम जानते हो। इनके गुणगान कर इन्हें प्रसन्न करो। हे विष्णो! हम तुम्हारी दया प्राप्त कों भक्तों को प्रेरणा देने वाले इन विष्णु की इच्छा में वरुण और अश्विनीकुमार सदा तत्पर रहते हैं। विष्णु ही मित्रयुक्त दिन को प्राप्त करने वाले श्रेष्ठ बल को धारणा करते हुए अन्धकार को मिटा कर प्रकाश करते हैं। जो उत्तम कर्म वाले विष्णु और इन्द्र की सेवा में तत्पर रहते हैं, वे त्रैलोक्य स्वामी परमात्मा से यजमान को यज्ञ फल का भागी बनाते हैं।" (१-१५६।१-५)

इसमें विष्णु को प्रकृति का गर्भ बताया गया है। अर्थात् वह सृष्टि रचना करने में समर्थ हैं। नई शक्तियों और विचारों का सृजन करते हैं। इसमें इन्हें सूर्य भी कहा गया है जो अपने विस्तृत प्रकाश से चारों ओर अन्धकार को मिटा देते हैं।

नीचे उनके संघर्षमय जीवन पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

"हे विष्णो! तुम्हारी महिमा को कोई नहीं जानता। हम तुम्हारे दोनों लोकों के ज्ञाता हैं, परन्तु अपने परलोक को केवल तुम्हीं जानते हो। हे विष्णो! पृथिवी पर जो उत्पन्न हुए हैं और जो होंगे, उनमें भी तुम्हारी महिमा का ज्ञाता कोई नहीं है। तुमने विशिष्ट स्वर्ग को धारण किया है और पृथिवी की पूर्व दिशा को भी धारण

किया है। हे द्यावा पृथिवी ! तुम स्तोता को देने की इच्छा से अन्नवती और गौ-सम्पन्न हुई हो। हे इन्द्र और विष्णो ! तुमने शम्वर के निन्यानवें पुरों को तोड़ा और वर्चि के शत सहस्र वीरों का संहार किया। यह स्तुति इन्द्र और विष्णु की बल-वृद्धि करेगी। हे इन्द्र और विष्णो ! संग्राम भूमि में तुमको स्तोत्र अर्पित किया है। तुम हमारे अन्न की वृद्धि करो। हे विष्णो ! मैंने यज्ञ में स्तुति की है। तुम हमारे हव्य को स्वीकार करो। हमारी स्तुति तुम्हारी वृद्धि करे और तुम सदा हमारा पालन करो।" (६।६६।१।७)

निम्न मंत्रार्थों से स्पष्ट है कि विष्णु भक्ति का आरम्भ वैदिक काल से ही हुआ है। उस समय भी लोग उनका गुण-गान करते थे और मानते थे कि उनकी स्तुति पूजा उपासना करने से धन की प्राप्ति होती है।

जो विष्णु के निमित्त हवि देता है और मन्त्रों द्वारा पूजन करता है, वह धनेच्छु मनुष्य शीघ्र ही धन पाता है। हे विष्णो ! तुम हम पर अनुग्रह करो। जिस प्रकार हम प्राप्तव्य धन पा सकें ऐसी कृपा करो। विष्णु ने पृथिवी पर तीन बार चरण निक्षेप किया। वे प्रवृद्ध विष्णु हमारे ईश्वर हैं। वे अत्यन्त तेजस्वी हैं। विष्णु ने पृथिवी को निवास के लिए देने की इच्छा से पाद प्रक्षेप किया और विस्तृत स्थान की रचना की। हे विष्णो ! हम तुम्हारे प्रसिद्ध नामों का कीर्तन करेंगे। तुम प्रवृद्ध की हम अप्रवृद्ध मनुष्य स्तुति करेंगे। हे विष्णो ! मैंने जो तुम्हारा 'शिपिविष्ट' नाम लिया है। वह क्या उचित नहीं है ? संग्रामों में तुमने अनेक रूप धारण किए हैं। तुम अपने रूप को हमसे मत छिपाओ। हे विष्णो ! मैं तुम्हारे निमित्त वषट्कार करता हूँ। तुम हमारे हव्य को स्वीकार करो। हमारी स्तुति तुम्हें प्रवृद्ध करे और तुम सदा हमारा पालन करो।"

(६।१००।१–७)

यजुर्वेद में विष्णु महिमा का ज्ञान इस प्रकार है—

"हे विष्णो ! फल की अवश्य प्राप्ति के निमित्त सत्य रूप यज्ञ के स्थान में जो हव्य स्थित है, उसकी रक्षा करो। हव्य की ही नहीं, समस्त यज्ञ की और यज्ञ कर्ता यजमान की भी रक्षा करो। हे प्रभो ! हे परब्रह्म ! मुझ यज्ञ-प्रवर्त्तक अध्वर्यु की भी रक्षा करो।" (२।६)

"हे सोम ! तुम अग्नि देवता के शरीर हो। मैं तुम्हें विष्णु भगवान की प्रीति के लिए काटता हूँ। हे सोम ! तुम सोम नामक देवता के प्रतिनिधि, त्रिष्टपू छन्द के अधिष्ठाता को तृप्त करने वाले शरीर हो। मैं तुम्हें भगवान् विष्णु की प्रीति के लिए टूक-टूक करता हूँ। हे सोम ! तुम यज्ञ में आगत अतिथि को अतिथि सत्कार द्वारा सन्तुष्ट करने वाले हो। मैं तुम्हें विष्णु की प्रीति के निमित्त खण्ड-खण्ड करता हूँ। हे सोम ! सोम को लाने वाले श्येन पक्षी के समान मुझ उद्योगी यजमान की मंगल कामना के लिए तुम जाओ। भगवान विष्णु की प्रीति के निमित्त मैं तुम्हारे टुकड़े करता हूँ। हे सोम ! धन से पुष्ट करने वाले अग्नि संज्ञक सोम के अनुचर अनुक्त छन्द के अधिष्ठाता अग्नि की प्रीति के लिए और भगवान विष्णु की प्रीति के लिए तुम्हें टूक-टूक करता हूँ। (५।१)

"सर्वव्यापक विष्णु ने इस चराचर विश्व को विभक्त कर प्रथम पृथ्वी, दूसरा अन्तरिक्ष और तीसरा स्वर्ग में पद निक्षेप किया है। इन विष्णु के पद में विश्व अन्तभू त है। हम उन्हीं परमात्मा के लिए हवि देते हैं।" (१।५५)

"भगवान विष्णु के किन-किन पराक्रमों का वर्णन करूँ ? उनकी महिमा अपरिमित हैं। उन्होंने पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग तथा सब प्राणियों और परमाणुओं की रचना की है। वे तीनों लोकों में अग्नि वायु और सूर्य रूप से विद्यमान होकर श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा स्तुत हैं।

उन्होंने स्वर्ग लोक को अन्य स्थान में स्तंभित किया है । हे स्थूल काष्ठ ! मैं तुम्हें भगवान विष्णु की प्रीति के निमित्त गाढ़ता हूँ । (५।१८)

"विष्णो ! उस स्वर्ग लोक से, पृथिवी से और महान् अन्तरिक्ष से लाए गए धन द्वारा अपने दोनों हाथों को भर लो। तब उन दक्षिण और वाम हाथों द्वारा हमारे विभिन्न प्रकार के रत्न धन दो । हे काष्ठ ? मैं तुम्हें उन विष्णु भगवान की प्रीति के लिए गढ़ता हूँ । (५।१६)

"हे दर्भमालाधार वंश ! तुम विष्णु के ललाट रूप हो । हे ररारी ! तुम दोनों भगवान विष्णु के ओष्ठ संधि हो । हे वृहत्सूची ! तुम यज्ञ मंडप की सूची हो । मंडप के सीने वाली हो । हे ग्रंथि ! तुम इस यज्ञ मंडप की गांठ रूप हो, अतः सुदृढ़ होओ । हे हविर्धान ! तुम विष्णु के लिए होने के कारण विष्णु रूप ही हो। अत: भगवान विष्णु की प्रीती के लिए मैं तुम्हारा स्पर्श करता हूँ ।" (५।२१)

"हे गर्तो ! तुम राक्षसों के नाशक अभिचार कर्मो को निष्फल करने वाले, विष्णु भगवान से संबधित हो । मैं तुम्हें प्रोक्षण करता हूँ । तुम राक्षसों का हनन करने वाले, अभिचार कर्मों को निर्वीर्य करने वाले विष्णु से सम्वन्धित हो, मैं तुम्हें सींचकर शेष बचे हुए जल को पृथक करता हूँ । तुम राक्षसों के हनन करने वाले विष्णु, अभिचार साधनों के नष्ट करने वाले, विष्णु से संम्वन्धित हो । मैं तुम्हें कुशाग्रों द्वारा ढकता हूँ । तुम राक्षसों के हनन करने वाले विष्णु से संबधित हो । दोनों । गर्तों पर दो सोमाभिपवण कलश पृथक् स्थापित करता हूँ । तुम राक्षसों के हनन करने वाले, अभिचार साधनों को निरर्थक करने वाले विष्णु से सम्वन्वित हो । मैं तुम दोनों फलकों को पर्यूहण करता हूँ । हे अधिपवण ! तुम विष्णु भगवान से सम्वन्धित यज्ञ कर्म के मुख्य उपकरता हो । हे ग्रावाओं ! तुम भगवान विष्णु सम्वन्धी यज्ञ की रक्षा करने वाले हो ।" (५।२५)

"हे विष्णो ! हमारे शत्रुओं को अपना विकराल पराक्रम दिखाओ। अक्षीणता के निमित्त हमारी वृद्धि करो। तुम घृत द्वारा प्रवृद्ध होने वाले हो। अतः इस आहुति रूप घृत का पान करो। यजमान की वृद्धि करो। यह आहुति तुम्हारे निमित्त हो।" (५।४०)

"हे यूपवृक्ष ! तुम्हें भगवान विष्णु के यज्ञ के निमित्त ग्रहण करता हूँ। हे औषध ! कुल्हाड़े से भयभीत न हो और मेरी भी उससे रक्षा करो। हे कुठार ! इस यूप के अन्य भाग पर आघात मत करो।" (५।४०)

"हे ऋत्विजो ! भगवान विष्णु के कर्मों को देखो। उन्होंने अपने कर्मों द्वारा ही तुम्हारे लौकिक यज्ञादि कर्मों की कल्पना की है। वह विष्णु इन्द्र के वृत्र-हनन आदि कर्मों में मित्र एवं सहयोगी होते हैं।" (६।४)

"मेधावी जन भगवान विष्णु के मोक्ष रूप परम पद को सदा देखते हैं। उन विष्णु ने ही सूर्य मंडल में नेत्र रूप सूर्य को बढ़ाया है।" (६।५)

"हे ऋत्विजो ! विष्णु भगवान् के सृष्टि रचना और संहार आदि के चरित्रों को देखो। जिन्होंने अपने महान् कर्मों द्वारा तुम्हारे व्रत अनुष्ठान आदि का विधान किया है। वह विष्णु इन्द्र के वृत्र हनन आदि कर्मों में सखा होते हैं। यह सभी दृश्यमान पदार्थ भगवान, विष्णु के दल विक्रम के साक्षी रूप हैं।" (१३।३३)

ऋग्वेद में जिन पराक्रमों का वर्णन है। उनके अतिरिक्त यजुर्वेद में उन्हें यज्ञ का रक्षक भी कहा गया है। इस तरह से वेदों में विष्णु का यशोगान किया गया है।

• • •

पुराण भारतीय धार्मिक साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं। भारत के विद्वत्समाज की यह धारणा है कि पुराण का वांग्मय वेद के वांग्मय के समान ही पुरातन और प्रमाणिक है। "पुराणमात्मा वेदानाम" इस तथ्य पर भारतीय पंडित वर्ग की बलवती आस्था है। अथर्ववेद ११।७।२४ में बताया गया है कि वेदों और पुराणों की उच्छिष्ट परमात्मा से एक साथ ही उत्पत्ति हुई। छान्दोग्य उपनिषद् ७।१।४ में वेदों के साथ पुराणों का समान उल्लेख कर उन्हें पाँचवां वेद कहा गया है और इस अर्थ में कि पुराण वेदों का वेद है अर्थात् वेद के रहस्यभूत अर्थों का अपबोधन पुराणों से ही होता है। इस तरह वेद और पुराण का सहज और घनिष्ट सम्बन्ध है। पुराण वेद का पूरक है और पुराण अपने प्रतिपादनों के लिए वेद का ऋणी है क्योंकि वेद में संक्षिप्त और अव्यक्त रूप में अंकित विषय ही मुख्य रूप से पुराणों में वर्ण्य विषय हैं।

ऋग्वेद १।२२।१६-२१, प्रथम मण्डल सूत्र १५४, १५५ व १५६ (सम्पूर्ण), ७।९९, ७।१०० व १०।९७ में विष्णु के पराक्रम का वर्णन आया है जिसमें विष्णु को त्रिविक्रम कहा गया है और अपने ३ पगों से उन्होंने पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्यौलोक नाप लिए। पुराण वेद के रहस्यमय अर्थों का विस्तृत गाथाओं के रूप में वर्णन के लिए प्रसिद्ध है ही। विष्णु के त्रिविक्रम की कथा अनेक पुराणों में उपलब्ध होती है।

पौराणिक युग में विष्णु ने इतना ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया था कि जहाँ वेद में इन्द्र को सर्वोच्च देवता के रूप में माना जाता था और उसके प्रमाण में वेदों में सबसे अधिक मंत्र इन्द्र के सम्बन्ध में हैं, वहाँ पुराणों में विष्णु को सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित किया गया। उनके लिए स्वतंत्र पुराण की रचना हुई। उनके अवतारों मत्स्य, वाराह, कूर्म आदि के लिए भी अलग-अलग पुराण बनाए गए। पद्म-पुराण, ब्रह्म वैवर्त पुराण में भी विस्तृत रूप से उनका यशोगान किया गया है। पुराणों में विष्णु भक्ति के कुछ उदाहरण नीचे दे रहे हैं :—

नारद पुराण—

"पुण्डरीकाक्ष, कमल नयन, विश्वभावन, हृषीकेश, महापुरुष, सबके पूर्वज ! आपको नमस्कार है। ब्रह्मादि देवता भी जिनके परम-भाव को नहीं जानते और योगी भी जिन्हें नहीं देख पाते, उन ज्ञान स्वरूप भगवान विष्णु की मैं वन्दना करता हूँ। अन्तरिक्ष जिनकी नाभि है, द्यौलोक जिनका मस्तक है, और पृथ्वी जिनका चरण है, उन विश्वरूप भगवान को मैं प्रणाम करता हूँ। सम्पूर्ण दिशाएँ जिनके कान हैं, सूर्य और चन्द्रमा जिनके नेत्र हैं तथा ऋक्, साम और यजुर्वेद जिनसे प्रकाशित हुए हैं, उन ब्रह्मस्वरूप भगवान विष्णु को मैं नमस्कार करता हूँ। पृथ्वी और पंचभूत, तन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ तथा सूक्ष्म और स्थूल आदि पदार्थ जिनसे अस्तित्व लाभ करते हैं, सब ओर मुख वाले सर्वव्यापी परमेश्वर को मैं नमस्कार करता हूँ। जिन्हें सम्पूर्ण लोकों में उत्तम से उत्तम, निर्गुण, अत्यन्त सूक्ष्म, परम प्रकाश-मय परब्रह्म कहा गया है, उन भगवान विष्णु को मैं बारंबार प्रणाम करता हूं। योगेश्वर गण जिन्हें निर्विकार, अजन्मा, शुद्ध, सब ओर बांह वाले तथा ईश्वर मानते हैं, जो समस्त कारण तत्वों के भी कारण

हैं, जो भगवान सम्पूर्ण प्राणियों के अर्न्तयामी आत्मा हैं, यह गगन जिनका स्वरूप है तथा जो निर्गुण परमात्मा हैं, वे भगवान विष्णु मुझ पर प्रसन्न हों।"

नारद को उत्तर देते हुए सनक जी ने कहा–

जो मनीषी पुरुप समस्त प्राणियों को अपने आत्मा के ही समान मानते हैं, वे ही देवाधिदेव चक्र सुदर्शनधारी भगवान विष्णु के परम भाव को जानते हैं। जो असूया (दूसरों के दोष देखने) में संलग्न हो तपस्या, पूजा और ध्यान में प्रवृत्त होता है, उसकी वह तपस्या, पूजा और ध्यान सब व्यर्थ होते हैं। इसलिये शम, दम आदि गुणों के साधन में लग कर विधि-पूर्वक क्रिया योग में तत्पर हो मनुष्य मुक्ति के लिये सर्व-स्वरूप भगवान विष्णु की पूजा करे। जो सम्पूर्ण लोकों के हित-साधन में तत्पर हो मन, वाणी और क्रिया द्वारा देवेश्वर भगवान विष्णु का भली भाँति पूजन करता है, जो जगत के कारणभूत, सर्वान्तर्यामी एवं सर्वपापहारी सर्वव्यापी भगवान विष्णु की स्त्रोत आदि के द्वारा स्तुति करता है, वह कर्मयोगी कहा जाता है। उपवास आदि का, पुराण-श्रवण आदि सत्कर्म तथा पुष्प आदि सामग्रियों से जो भगवान् विष्णु की पूजा की जाती है उसे क्रिया योग कहा गया है। इस प्रकार जो भगवान विष्णु में भक्ति रख कर क्रिया योग में मन लगाने वाले हैं, उनके पूर्व जन्मों के किये हुये जघन्य पाप नष्ट हो जाते हैं।"

सनक जी ने नारद जी को सम्बोधित करते हुए कहा–

नारदजी ! यदि मुक्ति चाहते हो तो सच्चिदानन्दस्वरूप परमदेव भगवान् नारायणका सम्पूर्ण चित्त से भजन करो। भगवान् विष्णुकी शरण लेनेवाले मनुष्य को शत्रु मार नहीं सकते, ग्रह पीड़ा नहीं दे सकते तथा राक्षस उसकी ओर आँख उठाकर नहीं देख सकते। भगवान्

जनार्दनमें जिसकी दृढ़ भक्ति है, उसके सम्पूर्ण श्रेय सिद्ध हो जाते हैं। अतः भक्त पुरुष सबसे बढ़कर है। मनुष्यों के उन्हीं पैरों को सफल जानना चाहिये; जो भगवान् विष्णुके मन्दिर में दर्शनके लिये जाते हैं। उन्हीं हाथोंको सफल समझना चाहिये, जो भगवान् विष्णुकी पूजामें तत्पर होते हैं। पुरुषों के उन्हीं नेत्रोंको पूर्णतः सफल जानना चाहिये जो भगवान् जनार्दनका दर्शन करते हैं। साधु-पुरुषोंने उसी जिह्वाको सफल बताया है, जो निरन्तर हरिनामके जप और कीर्तन में लगी रहती है। मैं सत्य कहता हूँ और बार-बार सम्पूर्ण शास्त्रों का सार बतलाता हूँ—इस असार संसार में केवल श्रीहरिकी आराधना ही सत्य है। यह संसार-बन्धन अत्यन्त दृढ़ है और महान मोहमें डालने वाला है। भगवद्भक्तिरूपी कुठारसे इसको काटकर अत्यन्त सुखी हो जाओ। वही मन सार्थक है, जो भगवान विष्णु के चिन्तन में लगता है, तथा वे ही दोनों कान समस्त जगत्के लिये वन्दनीय हैं, जो भगवत्-कथाकी सुधाधारासे परिपूर्ण रहते हैं।

जिनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय; ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह विद्यमान हैं, उन्हींपर जगदीश्वर श्रीहरि संतुष्ट होते हैं। जो सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति दयाभाव रखता है और ब्राह्मणों के आदर-सत्कार में तत्पर रहता है, उसपर जगदीश्वर भगवान विष्णु प्रसन्न होते हैं। जो भगवान और उनके भक्तोंकी कथामें प्रेम रखता है, स्वयं भगवानकी कथा कहता है, साधु-महात्माओंका संग करता है और मनमें अहङ्कार नहीं लाता, उसपर भगवान विष्णु प्रसन्न रहते हैं। जो भूख-प्यास से लड़खड़ाकर गिरने आदि के अवसरों पर भी सदा भगवान विष्णु के नामका उच्चारण करता है, उसपर भगवान अधोक्षज (विष्णु) प्रसन्न होते हैं। मुने ! जो स्त्री पतिको प्राणके समान समझकर उनके आदर-सत्कारमें सदा लगी रहती है, उसपर प्रसन्न हो जगदीश्वर श्रीहरि उसे अपना परम धाम दे देते हैं। जो ईर्ष्या तथा दोषदृष्टिसे रहित होकर अहंकारसे दूर रहते हैं और

सदा देवाराधान किया करते है, उनपर भगवान केशव प्रसन्न होते हैं। अत: देवर्षे ! सुनो, तुम सदा श्रीहरिका भजन करो ।

सत्तम ! (अधिकांश) जीवों को कोटि सहस्र जन्मोंतक स्थावर आदि योनियोमें भटकनेके बाद कभी किसी प्रकार मनुष्य शरीर मिलता है। साधु-शिरोमणे ! मनुष्यजन्ममें भी देवाराधन की बुद्धि, दानकी बुद्धि और योग साधना की बुद्धि का प्राप्त होना मनुष्योंके पूर्वजन्म की तपस्याका फल है । जो दुर्लभ मानव-शरीर पाकर एक बार भी श्रीहरिकी पूजा नहीं करता, उससे बढ़कर मूर्ख, जड़बुद्धि कौन है ? दुर्लभ मानव-जन्म पाकर जो भगवान विष्णुकी पूजा नहीं करते, उन महामूर्ख मनुष्यों में विवेक कहाँ है ? ब्रह्मन् ! जगदीश्वर भगवान विष्णु आराधना करने पर मनोवाञ्छित फल देते हैं। फिर संसार-रूप अग्नि में जला हुआ कौन मानव उनकी पूजा नहीं करेगा ? मुनिश्रेष्ठ ! विष्णुभक्त चाण्डाल भी भक्तिहीन द्विजसे बढकर है। अत: काम क्रोध आदि को त्याग कर अविनाशी भगवान नारायण का भजन करना चाहिये । उनके प्रसन्न होने पर सब संतुष्ट होते हैं; क्योंकि वे भगवान श्रीहरि ही सबके भीतर विद्यमान हैं। जैसे सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम जगत् आकाश से व्याप्त है, उसी प्रकार इस चराचर विश्वको भगवान विष्णु ने व्याप्त कर रक्खा है। भगवान विष्णु के भजन से जन्म और मृत्यु दोनों का नाश हो जाता है। ध्यान, स्मरण, पूजन अथवा प्रणाममात्र कर लेने पर भगवान जनार्दन जीव के संसार बन्धन को काट देते हैं। ब्रह्मर्षे ! उनके नाम का उच्चारण करने मात्र से महापातकों का नाश हो जाता है। और उनकी विधिपूर्वक पूजा करके तो मनुष्य मोक्ष का भागी होता है ! ब्रह्मन् ! यह बड़े आश्चर्यकी बात है, बड़ी अद्भुत बात है और बड़ी विचित्र बात है कि भगवान विष्णुके नामके रहते हुए भी लोग जन्म-मृत्युरूप संसारमें चक्कर काटते हैं । जबतक इन्द्रियाँ शिथिल नहीं होतीं और जबतक

रोग-व्यधि नहीं सताते, तभीतक भगवान् विष्णुकी आराधना कर लेनी चाहिये।

उतङ्कमुनि ने भगवान की इस प्रकार स्तुति की–

जो सम्पूर्ण जगत् के निवासस्थान और उसके एकमात्र वन्धु हैं, उन आदिदेव भगवान् नारायण को मैं नमस्कार करता हूं। जो स्मरण करनेमात्रसे भक्तजनोंकी सारी पीड़ा नष्ट करदेते हैं, अपने हाथोंमें चक्र, कमल, शार्ङ्ग धनुष और खड्ग धारण करने वाले उन महाविष्णु की मैं शरण लेता हूँ। जिनकी नाभि से प्रकट हुए कमलसे उत्पन्न होकर ब्रह्माजी इन सम्पूर्ण लोकोंके समुदायकी सृष्टि करते हैं और जिनके क्रोधसे प्रकट हुए भगवान् रुद्र इस जगत्का संहार किया करते हैं, उन आदि देव भगवान् विष्णुको मैं प्रणाम करता हूं। जो लक्ष्मीजी के पति हैं, जिनके कमलदलके समान विशाल नेत्र हैं, जिनकी शक्ति अद्‌भुत है, जो सम्पूर्ण जगत्के एकमात्र कारण तथा वेदान्तवेद्य पुराणपुरुष हैं, उन तेजोराशि भगवान् विष्णु की मैं शरण लेता हूं। जो सवके आत्मा, अविनाशी और सर्वव्यापी हैं, जिनका नाम अच्युत है, जो ज्ञानस्वरूप तथा ज्ञानियोंको शरण देनेवाले हैं, एकमात्र ज्ञानसे ही जिनके तत्त्वका वोध होता है, जिनका कोई आदि नहीं है, यह व्यष्टि और समष्टि जगत् जिनका ही स्वरूप है, वे भगवान् विष्णु मुझपर प्रसन्न हों। जिनके वल और पराक्रमका अन्त नहीं है, जो गुण और जातिसे हीन तथा गुणस्वरूप हैं, ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ, नित्य तथा शरणागतोंकी पीड़ा दूर करनेवाले हैं, वे दयासागर परमात्मा मुझे वर प्रदान करें। जो स्थूल और सूक्ष्म आदि विशेष भेदोंसे युक्त जगद्की यथायोग्य रचना करके अपने वनाये हुए उस जगत्में स्वयं ही अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट हुए हैं, वह परमेश्वर आप ही हैं। हे अनन्त शक्ति-सम्पन्न परमात्मन् ! वह सव जगत् आप ही हैं; क्योंकि आपसे भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

भगवन् ! आपका जो शुद्ध स्वरूप है वह इन्द्रियातीत, गुण और जाति आदिसे रहित, निरञ्जन, निर्मल और अप्रमेय है। ज्ञानी संत-महात्मा उस परमार्थ-स्वरूपका दर्शन करते हैं। जैसे एक ही सुवर्णसे अनेक आभूषण बनते हैं और उपाधिके भेदसे उनके नाम और रूपमें भेद हो जाता है, उसी प्रकार सबके आत्म-स्वरूप एक ही सर्वेश्वर उपाधि-भेदसे मानो भिन्न-भिन्न रूपोंमें दृष्टिगोचर होते हैं। जिनकी मायासे मोहित चित्तवाले अज्ञानी पुरुप आत्मारूपसे प्रसिद्ध होते हुए भी उनका दर्शन नहीं कर पाते और मायासे रहित होनेपर वे ही उन सर्वात्मा परमेश्वरको अपने ही आत्माके रूपमें देखने लगते हैं, जो सर्वत्र व्यापक, ज्योतिःस्वरूप तथा उपमारहित हैं, उन विष्णु-भगवान्को मैं प्रणाम करता हूँ। यह सारा जगत् जिनसे प्रकट हुआ है, जिनके ही आधारपर स्थित है और चेतनता प्राप्त हुई है और जिनका ही यह स्वरूप है, उनको नमस्कार है। जो प्रणामकी पहुँचसे परे हैं, जिनका दूसरा कोई आधार नहीं है, जो स्वयं ही आधार और आधेयरूप हैं, उन परमानन्दमय चैतन्यस्वरूप भगवान् वासुदेव को मैं नमस्कार करता हूँ। सबकी हृदय-गुहामें जिनका निवास है, जो देवस्वरूप तथा योगियों द्वारा सेवित है और प्रणवमें उसके अर्थ एवं अधिदेवतारूपमें जिनकी स्थिति है, उन योगमार्गके आदिकारण परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ। जो नादस्वरूप, नादके बीज, प्रणवरूप, सत्स्वरूप, अविनाशी तथा सच्चिदानन्दमय हैं, उन तीक्ष्ण चक्र धारण करनेवाले भगवान् विष्णुको मैं प्रणाम करता हूं। जो जरा आदिसे रहित, इस जगत्के साक्षी, मन-वाणी के अगोचर, निरञ्जन तथा अनन्त नामसे प्रसिद्ध हैं, उन विष्णुरूप भगवान्को मैं प्रणाम करता हूँ। इन्द्रिय, मन, बुद्धि, सत्त्व, तेज, बल, धृति क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ—इन सबको भगवान् वासुदेवका स्वरूप कहा गया है। विद्या और अविद्या भी उन्हींके रूप हैं। वे ही परात्पर परमात्मा कहे गये हैं। जिनका आदि और अन्त नहीं है तथा जो सबका धारण-पोपण करनेवाले हैं, उन

शान्तस्वरूप भगवान् अच्युतकी जो महात्मा शरण लेते हैं, उन्हें सनातन मोक्ष प्राप्त होता है। जो श्रेष्ठ, वरण करने योग्य, वरदाता, पुराण, पुरुष, सनातन, सर्वगत तथा सर्व-स्वरूप हैं, उन भगवान्को मैं पुन: प्रणाम करता हूँ पुन: प्रणाम करता हूँ, पुन: प्रणाम करता हूँ। जिनका चरणोदक संसाररूपी रोगों को दूर करने वाला वैद्य है, जिनके चरणोंकी धूल निर्मलता (अन्त:शुद्धि) का साधन है तथा जिनका नाम समस्त पापोंका निवारण करने-वाला है, उन अप्रमेय पुरुष श्रीहरिकी मैं आराधना करता हूँ। जो सद्रूप, असद्रूप और उन सबसे विलक्षण हैं तथा जो श्रेष्ठ एवं श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठतर हैं, उन अविनाशी भगवान् विष्णु का मैं भजन करता हूँ। जो निरञ्जन, निराकर, सर्वत्र परिपूर्ण परमव्योममें विराजमान, विद्या और अविद्यासे परे हृदयकमलमें अन्तर्यामी रूपसे निवास करने वाले हैं, जो स्वयं प्रकाश, अनिर्देश्य (जाति, गुण और क्रिया आदिसे रहित), महान्से भी परम महान्, सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म, अजन्मा, सब प्रकारकी उपाधियोंसे रहित, नित्य, परमानन्द और सनातन परब्रह्म हैं, उन जगन्निवास भगवान् विष्णुकी मैं शरण लेता हूँ। क्रियानिष्ठ भक्त जिनका भजन करते हैं, योगीजन समाधि में जिनका दर्शन करते हैं, तथा जो पूज्य से भी परम पूज्य एवं शान्त हैं, उन भगवान् श्रीहरि की मैं शरण लेता हूँ। विद्वान पुरुष भी जिन्हें देख नहीं पाते, जो इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करके स्थित और सबसे श्रेष्ठ हैं, उन नित्य अविनाशी विभुको मैं प्रणाम करता हूँ। अन्त: करणके संयोगसे जिन्हें जीव कहा जाता है और अविद्याके कार्यसे रहित होनेपर जो परमात्मा कहलाते हैं, यह सम्पूर्ण जगत् जिनका स्वरूप है, जो सबके कारण, समस्त कर्मोके फलदाता, श्रेष्ठ, वरण करने योग्य तथा अजन्मा हैं, उन परात्पर भगवान्को मैं प्रणाम करता हूँ। जो सर्वज्ञ, सर्वगत, सर्वान्तिर्यामी, ज्ञानस्वरूप, ज्ञानके आश्रय तथा ज्ञानमें स्थित हैं, उन सर्वव्यापी श्रीहरि का मैं भजन करता हूँ। जो

वेदों के निधि हैं, वेदान्त के विज्ञान द्वारा जिनके परमार्थ स्वरूप का भलीभाँति निश्चय होता है, सूर्य और चन्द्रमा के तुल्य जिनके प्रकाशमान नेत्र हैं, जो ऐश्वर्यशाली इन्द्ररूप हैं, आकाशमें विचरनेवाले पक्षी एवं ग्रह-नक्षत्र आदि जिनके स्वरूप हैं तथा जो खगपति (गरुड़) स्वरूप हैं, उस भगवान् मुरारिको मैं प्रणाम करता हूँ। जो सबके ईश्वर, सबमें व्यापक, महान् वेदस्वरूप, वेद-वेत्ताओं में श्रेष्ठ, वाणी और मनकी पहुँचसे परे, अनन्त शक्तिसम्पन्न तथा एकमात्र ज्ञानके ही द्वारा जानने योग्य हैं, उन परम पुरुष श्रीहरिका मैं भजन करता हूँ। जिनकी सत्ता सर्वत्र परिपूर्ण है, जो इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, सोम, ईशान, सूर्य तथा इन्द्र आदिके द्वारा स्वयं ही सब लोकोंकी रक्षा करते हैं, उन अप्रमेय परमेश्वर की मैं शरण लेता हूं। जिनके सहस्रों मस्तक, सहस्रों पैर, सहस्रों भुजाएँ और सहस्रों नेत्र हैं, जो सम्पूर्ण यज्ञों-से सेवित तथा सबको संतोष प्रदान करनेवाले हैं, उन उग्रशक्तिसम्पन आदि पुरुष श्रीहरि को मैं प्रणाम करता हूँ। जो कालस्वरूप, काल-विभागके हेतु, तीनों गुणोंसे अतीत, गुणप्रिय, कामना पूर्ण करने वाले, सङ्गरहित, अतीन्द्रिय, विश्वपालक, तृष्णाहीन, निरीह, श्रेष्ठ. मनके द्वारा भी अगम्य, मनोमय और अन्नमय स्वरूप, सबमें व्याप्त; विज्ञान से सम्पन्न तथा शक्तिशाली हैं, जो वाणी के विषय नहीं हो सकते तथा जो सबके प्राणस्वरूप हैं, उन भगवान् का मैं भजन करता हूँ। जिनके रूपको, जिनके बल और प्रभाव को, जिनके विविध कर्मों को तथा जिनके प्रमाण को ब्रह्मा आदि देवता भी नहीं जानते, उन आत्मस्वरूप श्रीहरि की स्तुति मैं कैसे कर सकता हूँ ? मैं संसार-समुद्र में गिरा हुआ एक दीन मनुष्य हूँ, मोह से व्याकुल हूँ, सैकड़ों कामनाओं ने मुझे बाँध रक्खा है। मैं अकीर्तिभागी, चुगला, कृतघ्न, सदा अपवित्र, पाप-परायण तथा अत्यन्त क्रोधी हूं। दयासागर ! मुझ भयभीत की रक्षा कीजिये। मैं बार-बार आपकी शरण लेता हूं।

(पूर्व भाग, प्रथम खण्ड)

श्री सनक जी भगवान के महात्म्य का वर्णन करते हुए कहते हैं:—

" जो भगवान् विष्णु की आराधना में लगे रहकर सम्पूर्ण लोकों पर अनुग्रह रखते तथा धर्मकार्य में सदा तत्पर रहते है वे साक्षात् भगवान् विष्णु के स्वरूप माने गये हैं। जिनका चित्त भगवान् विष्णु की आराधना में लगा हुआ है, उनके करोड़ों जन्मों का पाप क्षण भर में नष्ट हो जाता है, फिर उनके मन में पाप का विचार कैसे उठ सकता है ? भगवान् विष्णु की आराधना विषयान्ध मनुष्यों के भी सम्पूर्ण दुःखों का नाश करने वाली कही गई है। वह भोग और मोक्ष देने वाली है। जो मनुष्य किसी के संग से, स्नेह से, भय से लोभ से, अथवा अज्ञान से भी भगवान् विष्णु की उपासना करता है, वह अक्षय सुख का भागी होता है। जो भगवान् विष्णु के चरणोदक का एक कण भी पी लेता है, वह सब तीर्थों में स्नान कर चुका। भगवान् को वह अत्यन्त प्रिय होता है। भगवान् विष्णु का चरणोदक अकाल मृत्यु का निवारण, समस्त रोगों का नाश और सम्पूर्ण दुःखों की शान्ति करने वाला माना गया है।"

नारद भगवान विष्णु की स्तुति करते हुए कहते हैं:—

"नारायण ! अच्युत ! अनन्त ! वासुदेव ! जनार्दन ! यज्ञेश यज्ञ पुरुश ! कृष्ण ! विष्णो ! आपको नमस्कार है। कमल नयन कमलाकान्त गङ्गाजनक केशव क्षीरसमुद्र में शयन करने वाले देवेश्वर दामोदर आपको नमस्कार है। श्री राम विष्णो नृसिह वामन प्रद्युम्न संकर्षण वासुदेव अज अनिरुद्ध निर्मल प्रकाश स्वरूप मुरारे आप सब प्रकार के भय से निरन्तर हमारी रक्षा कीजिये।"

"जो परसे भी परे परम प्रकाशस्वरूप परमात्मा सम्पूर्ण कार्य-कारणरूप जगत् में अन्तर्यामी रूप से निवास करते हैं। तथा जो सगुण

और निर्गुण रूप हैं, उनको नमस्कार है। जो माया से रहित हैं, परमात्मा जिनका नाम है, माया जिनकी शक्ति है, यह सम्पूर्ण विश्व जिनका स्वरूप है, जो योगियोंके ईश्वर, योगस्वरूप तथा योगगम्य हैं, उन सर्वव्यापी भगवान् विष्णु को नमस्कार है। जो ज्ञानस्वरूप, ज्ञानगम्य तथा सम्पूर्ण ज्ञान के एक मात्र हेतु हैं; ज्ञानेश्वर, ज्ञेय, ज्ञाता तथा विज्ञानसम्पत्तिरूप हैं, उन परमात्मा को नमस्कार है। जो ध्यानस्वरूप, ध्यानगम्य तथा ध्यान करने वाले साधकों के पाप का नाश करने वाले हैं; जो ध्यान के ईश्वर, श्रेष्ठ बुद्धि से युक्त तथा ध्याता, ध्येयस्वरूप हैं; उन परमेश्वर को नमस्कार है। सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि तथा ब्रह्मा आदि देवता, सिद्ध, यक्ष, असुर और नागगण जिनकी शक्ति से संयुक्त होकर ही कुछ करने में समर्थ होते हैं, जो अजन्मा, पुराण पुरुष, सत्यस्वरूप तथा स्तुति के अधीश्वर हैं, उन परमात्माको मैं सर्वदा नमस्कार करता हूँ। ब्रह्मन् ! जो ब्रह्माजी का रूप धारण करके संसार की सृष्टि और विष्णु रूप से जगत् का पालन करते हैं तथा कल्प का अन्त होने पर जो रुद्ररूप धारण करके संहार में प्रवृत्त होते हैं और एकार्णव के जल में अक्षयवट के पत्र पर शिशुरूप से अपने चरणारविन्द का रसपान करते हुए शयन करते हैं, उन अजन्मा परमेश्वर का मैं भजन करता हूँ। जिनके नाम का संकीर्तन करने से गजराज ग्राहके भयानक बन्धन से मुक्त हो गया, जो प्रकाशस्वरूप देवता अपने परम पद में नित्य विराजमान रहते हैं, उन आदि पुरुष भगवान विष्णु की मैं शरण लेता हूं। जो शिव की भक्ति करने वाले पुरुषों के लिए शिवस्वरूप और विष्णु का ध्यान करने वाले भक्तों के लिये विष्णुस्वरूप हैं, जो संकलपपूर्वक अपने देह धारण में स्वयं ही हेतु हैं, उन नित्य परमात्मा की मैं शरण लेता हूँ। जो केशी तथा नरकासुर का नाश करने वाले हैं, जिन्होंने बाल्यावस्था में अपने हाथ के अग्रभाग से गिरिराज गोवर्धन को धारण किया था, पृथ्वी के भार का अपहरण जिनका स्वभाविक विनोद है, उन दिव्य शक्ति सम्पन्न भगवान

वासुदेव को मैं सदा प्रणाम करता हूँ। जिन्होंने खम्ब में भयङ्कर नृसिंह रूप से अवतीर्ण हो पर्वतकी चट्टानके समान कठोर दैत्य हिरण्यकशिपु के वक्षःस्थल को विदीर्ण करके अपने भक्त प्रह्लाद की रक्षा की; उन अजन्मा परमेश्वर को मैं नमस्कार करता हूँ। जो आकाश आदि तत्त्वों से विभूषित, परमात्मा नाम से प्रसिद्ध, निरंजन, नित्य. अमेय-तत्व तथा कर्मरहित हैं। उन विश्वविधाता पुराणपुरुष परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ। जो ब्रह्मा, इन्द्र,रुद्र, अग्नि, वायु, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व, असुर तथा देवता आदि अपने विभिन्न स्वरूपों के साथ स्थित हैं, जो एक अद्वितीय परमेश्वर हैं, उन आदि पुरुष परमात्मा का भजन करता हूँ।

"क्षीरसागर में अमृतमन्थन के समय जिन्होंने देवताओं के हित के लिए मन्दराचल को अपनी पीठ पर धारण किया था, उन कूर्म-रूप-धारी भगवान विष्णु की मैं शरण लेता हूँ। जिन अनन्त परमात्मा ने अपनी दाढ़ों के अग्रभाग द्वारा एकार्णव के जल से इस पृथ्वी का उद्धार करके सम्पूर्ण जगत् को स्थापित किया, उन वाराह-रूपधारी भगवान् विष्णु को मैं नमस्कार करता हूँ। अपने भक्त प्रह्लाद की रक्षा करते हुए जिन्होंने पर्वत की शिला के समान अत्यन्त कठोर वक्ष वाले हिरण्यक-शिपु दैत्य को विदीर्ण करके मार डाला था, उन भगवान नृसिंह को मैं नमस्कार करता हूं। विरोचन कुमार बलि से तीन पग भूमि पाकर जिन्होंने दो ही पगों में ब्रह्मलोकपर्यन्त सम्पूर्ण विश्व को माप लिया और उसे पुनः देवताओं को समर्पित करदिया, उन अपराजित भगवान वामन को मैं नमस्कार करता हूँ। (पूर्वभाग–प्रथम खण्ड)

शुकदेव जी ने भगवान की इस प्रकार स्तुति की:—

"सम्पूर्ण लोकों के एकमात्र साक्षी आप भगवान वासुदेव को नमस्कार है। सम्पूर्ण जगत् के बीज स्वरूप, सर्वत्र परिपूर्ण एवं

निश्चल आत्मरूप आपको नमस्कार है। वासुकि नाग की शय्यापर शयन करने वाले श्वेतद्वीपनिवासी श्रीहरि को नमस्कार है। आप हंस, मत्स्य, वाराह तथा नरसिंहरूप धारण करने वाले हैं। ध्रुव के आराध्यदेव भी आप ही हैं। आप सांख्य और योग दोनों के स्वामी हैं। आपको नमस्कार है। चारों सनकादिक आप के ही अवतार हैं। आपने ही कच्छप और पृथुरूप धारण किया है। आत्मानन्द ही आपका स्वरूप है। आप ही नाभिपुत्र ऋषभदेव जी के रूप में प्रकट हुए हैं। जगत् की सृष्टि, पालन और संहार करने वाले आप ही हैं। आपको नमस्कार है। भृगुनन्दन परशुराम, रघुनन्दन श्री राम, परात्पर श्रीकृष्ण, वेदव्यास, बुद्ध तथा कल्कि भी आपके ही स्वरूप हैं। आपको नमस्कार है। कृष्ण, बलभद्र, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन चार व्यूहोंके रूपमें आप ही विराज रहे हैं। जानने और चिन्तन करने योग्य परमात्मा भी आप ही हैं। नर नारायण, शिपिविष्ट तथा विष्णु नाम से प्रसिद्ध आपको नमस्कार है। सत्य ही आपका धाम है! आप धामरहित हैं। गरुड़ आपके ही स्वरूप हैं। आप स्वयं प्रकाश, ऋभु (देवता), उत्तम व्रतका पालन करने के लिये विख्यात, उत्कृष्ट धाम वाले और अजित् हैं। आपको नमस्कार है। सम्पूर्ण विश्व आपका स्वरूप है। आप ही विश्वरूप में प्रकट हैं। सृष्टि, पालन और संहार करने वाले भी आप ही हैं। यज्ञ और उसके भोक्ता, स्थूल और सूक्ष्म तथा याचना करने वाले वामनरूप आपको नमस्कार है। सूर्य और चन्द्रमा आपके नेत्र हैं। साहस, ओज और बल आपसे भिन्न नहीं है। आप यज्ञों द्वारा यजन करने योग्य, साक्षी, अजन्मा तथा अनेक हाथ, पैर मस्तक वाले हैं। आपको नमस्कार है। आप लक्ष्मी के स्वामी, उनके निवास स्थान तथा भक्तों के अधीन रहने वाले हैं। आप शार्ङ्ग नामक धनुष धारण करते हैं। आठ प्रकृतियों के अधिपति, ब्रह्मा तथा अनन्त शक्तियों से सम्पन्न आप परमेश्वर को नमस्कार है। बृहदारण्यक उपनिषद् के द्वारा आपके तत्त्वका बोध

होता है । आप इन्द्रियों के प्रेरक तथा जगत्स्रष्टा ब्रह्मा हैं। आपके नेत्र विकसित कमल के समान हैं । क्षेत्रज्ञ के रूपमें आप ही प्रकाशित हो रहे हैं। आपको नमस्कार है। गोविन्द, जगत्कर्ता, जगन्नाथ, योगी, सत्य, सत्यप्रतिज्ञ, वैकुण्ठ और अच्युतरूप आपको नमस्कार है। अधोक्षज, धर्म, वामन, त्रिधातु, तेज पुञ्ज धारण करने वाले, विष्णु, अनन्त एवं कपिलरूप आपको नमस्कार है। आप ही विरिञ्चि नामसे प्रसिद्ध ब्रह्माजी हैं। तीन शिखरोंवाला त्रिकूट पर्वत आपका ही स्वरूप है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद आपके अभिन्न विग्रह हैं। एक सींगवाले शृङ्गी ऋषि भी आपकी ही विभूति हैं। आपका यश परम पवित्र है तथा सम्पूर्ण वेद-शास्त्र आपसे ही प्रकट हुए हैं। आपको नमस्कार है आप वृषाकपि (धर्म को अविचल रूप से स्थापित करने वाले विष्णु, शिव और इन्द्र) हैं। सम्पूर्ण समृद्धियों से सम्पन्न तथा प्रभु-सर्वशक्तिमान् हैं। यह सम्पूर्ण विश्व आपकी रचना है। भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक आपके ही स्वरूप हैं। आप दैत्योंका नाश करने वाले तथा निर्गुण रूप हैं। आपको नमस्कार है। आप निरञ्जन, नित्य, अव्यय और अक्षर रूप हैं। शरणागत वत्सल ईश्वर ! आपको नमस्कार है। आप मेरी रक्षा कीजिये। (पूर्वभाग-द्वितीय खण्ड)

विष्णु पुराण–

"भगवान विष्णु ब्रह्मा होकर रजोगुण का आश्रय लेकर इस संसार की रचना में प्रवृत्त होते हैं तथा रचना हो जाने पर सत्यगुरु-विशिष्ट अतुल पराक्रमी भगवान विष्णु उसका कल्पान्त पर्यन्त युग-युग में पालन करते हैं। फिर कल्प का अन्त होने पर अति दारुण तमः प्रधान रुद्र रूप धारण कर वे जनार्दन विष्णु तो समस्त भूतों का भक्षण कर संसार को जलमय करके परमेश्वर शेष शैया पर शयन करते हैं। जगने पर ब्रह्मा रूप होकर वे फिर जगत की रचना करते हैं।"

(१।२।६१–६४)

"भगवान विष्णु की आराधना करने से मनुष्य भूमण्डल सम्वन्धी समान मनोरथ स्वर्ग, स्वर्ग से भी श्रेष्ठ ब्रह्मपद और परम निर्वाण पद भी प्राप्त कर लेता है। वह जिस-जिस फल की जितनी-जितनी इच्छा करता है, अल्प हो या अधिक, श्री अच्युत की आराधना से निश्चय ही सब प्राप्त कर लेता है।" (३।८।६,७)

"यज्ञों का यजन करने वाला पुरुष उन विष्णु का ही यजन करता है, जप करने वाला उन्हीं का जप करता है और दूसरों की हिंसा करने वाला उन्हीं की हिंसा करता है क्योंकि भगवान हरि सर्व भूतमय हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने-अपने धर्म का पालन करते हुए ही विष्णु की आराधना करते हैं, अन्य प्रकार से नहीं।" (३।८ १०-१८)

स्कन्द पुराण—

भगवान विष्णु के चरणारविन्दों से सब भूतों को आश्रय देने वाली पृथवी उत्पन्न हुई। उन परमात्मा के कानों से सम्पूर्ण दिशाएँ प्रकट हुईं। उनके चिंतन मात्र से भूर्भुवः आदि लोक, रसातल आदि पाताल और यक्ष-राक्षसगण आदि उत्पन्न हुए। भगवान ने अपने मुख, वाक्; उरु और चरणों से क्रमश: ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि को जन्म दिया, वेद, यज्ञ, घोड़े, गो और भेड़ आदि जीव, जिनकी उत्पत्ति का कारण अचिन्त्य है, जिन परमेश्वर से उत्पन्न हुए हैं, उन्हीं भगवान विष्णु के संकल्प से स्थावर जङ्गम प्राणियों का समुदाय तथा भूत-भविष्य, वर्तमान काल भी प्रकट हुआ है। वे ही वड़वानल का रूप धारण करके समुद्रों का जल पीते हैं और प्रलय-काल में अपने भीतर विलीन हुए समस्त जगत की पुन: कल्प के आरम्भ में सृष्टि करते हैं। सूर्य और चन्द्रमा का रूप धारण कर के वे ही अहंकार का नाश करते और सबको काल के अनुसार धर्म

में लगाते हैं। इस प्रकार वे सब जीवों की जीवन वृत्ति चलाते हैं। (वैष्णव खण्ड-भूमि वाराह खण्ड)

यमराज भगवान विष्णु से प्रार्थना करते हैं, सूत में मणियों की भाँति आप में यह सब जगत गुंथा हुआ है। आपने ही इस विश्व को धारण किया है, आपने ही इसकी सृष्टि की है तथा आपने ही इसका पालन-पोषण किया है। आप इस विश्व के स्वामी, जगत की उत्पत्ति के कारण, संसार के निवास स्थान, जगद्गुरु, लोकसाक्षी, तथा आदि अंत से रहित हैं। आपको मैं प्रणाम करता हूँ। आपका वैभव पर, अपर एवं परात्पर से भी अतीत हैं। आपही इस विश्व के उत्पादक हैं। संसार के संताप-रूपी हिम को सुखा डालने वाले सूर्य आपको नमस्कार है।" (वैष्णव खण्ड-उत्कल खण्ड)

"भगवान दीनों और अनाथों के एकमात्र कारण हैं। भवसागर से पार उतारने के लिए नौका हैं। उनके चरण समस्त चराचर जगत के लिए वन्दनीय हैं। वे ही सबके परम आश्रय हैं। वे समस्त पापों को छुड़ाने वाले और सब आपत्तियों का नाश करने वाले हैं। विभूतियों का प्रसार करने वाले तथा सब योगियों को वरण करने वाले हैं। सम्पूर्ण जीवों का भरण तथा अखिल विश्व को धारण करने वाले भी वे ही हैं। वे समस्त भाषाओं को बोलने और समस्त दुष्कर्मों का विनाश करते हैं।" (वैष्णव खण्ड-उत्कल खण्ड)

"भगवान विष्णु समस्त शक्तियों के आश्रय, सम्पूर्ण गुणों की निधि तथा सबके ईश्वर हैं। वे निर्गुण, निष्कल, तथा अनंत हैं। सत् चित और आनन्द यही उनका स्वरूप है। उत्पत्ति, पालन, संहार, पुनरावृत्ति तथा नियमन,-प्रकाश, बंधन, मोक्ष, और जीविका-इन सबकी प्रवृत्ति जहाँ से होती है, वे ही ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध भगवान विष्णु हैं। वे ही विद्वानों में सम्पन्न सर्वव्यापी परमेश्वर हैं। ज्ञानी पुरुषों में उन्हीं को साक्षात् परब्रह्म कहा है। वेद, शास्त्र, स्मृति, पुराण,

इतिहास, पाञ्चरात्र और महाभारत-सब विष्णु स्वरूप हैं–विष्णु के ही प्रति-पादक हैं।"   (वैष्णव खण्ड–वैशाख मास माहात्म्य)

अग्निबिन्दु ने भगवान की स्तुति करते हुए कहा—"कमल के समान नेत्रों वाले भगवान! आप बाहर और भीतर को पवित्र करने वाले हैं। आपको नमस्कार है। आपके सहस्रों मस्तक, सहस्रों नेत्र और सहस्रों पैर हैं। आप अन्तर्यामी पुरुष हैं। आपके दोनों चरण सब प्रकार के द्वन्दों का निवारण करने वाले हैं।

(काशी खण्ड उत्तरार्ध)

भागवत—

महाराज प्रथु ने भगवान विष्णु से प्रार्थना की, "मोक्षपति प्रभो! आप वर देने वाले ब्रह्मा आदि देवताओं को भी वर देने की क्षमता रखते हैं। (४।२०।२३)।" मेरा आपसे यही निवेदन है कि आप मुझे दस हजार कान दे दें ताकि मैं आपके यशोगान को सुनता रहूँ। आपके चरण-कमल-मकरन्द रूपी अमृत कणों को लेकर महापुरुषों के मुख से जो वायु निकलती है, उसीमें इतनी शक्ति है कि वह तत्त्व को भूले हुए हम कुयोगियों को पुनः तत्वज्ञान करा देती है।" (४।२०।२४।२५)

"भगवान के जिस चेतनाधिष्टित विराट रूप में यह त्रिलोकी दृष्टिगोचर होता है, वह प्रकृति, सूत्रात्मा, महत्तत्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रा–इन नौ तत्वों के सहित ग्यारह इन्द्रिय तथा पञ्चभूत-इन सोलह विकारों से बना हुआ है।"   (१२।११।५)

"यह भगवान का ही पुरुष रूप है, पृथ्वी इसके चरण हैं, स्वर्ग मस्तक है, अन्तरिक्ष नाभि हैं, सूर्य नेत्र हैं, वायु नासिका है और दिशाऐं कान हैं। प्रजापति लिङ्ग है, मृत्यु गुण है, लोकपाल गण भुजाएँ हैं, चन्द्रमा मन है और यमराज भौंहें हैं। चन्द्रमा की चाँदनी दन्तावली है, वृक्ष रोम हैं और बादल ही विराट् पुरुष के सिर पर उगे हुए बाल हैं।"   (१२।११-६-८)

पद्म-पुराण—

"मन से जो कुछ संकल्प विकल्प होता है, चक्षुरादि इन्द्रियों से जिन-जिन विषयों का ग्रहण होता है और बुद्धि के द्वारा जिन-जिन वस्तुओं का आवलन होता है, वे देश के रूप में ही, काल के रूप में ही, अकाश वस्तु रूप में ही, सब भगवान विष्णु के ही स्वरूप हैं।"

(सृष्टि खण्ड २।११५)

"भगवान विष्णु ही महर्षियों के गुप्त रहस्य, सब कुछ देखने और जानने वालों के परम तत्व, अध्यात्मवेताओं के अध्यात्म, अधिदैव तथा अधिभूत हैं, वे ही परमर्षियों के परब्रह्म हैं। वेदों में प्रतिपादित यज उन्हीं का स्वरूप है। विद्वान पुरुष उन्हीं को तत्व मानते हैं। जो कर्ता, कारक, मन, बुद्धि, तंत्रज्ञ, प्रणय, पुरुष, शासन करने वाले और अद्वितीय समझे जाते हैं, जो पाँच प्रकार के प्रणव, ध्रुव और अन्तर तत्व हैं, वे ही परमात्मा नाना प्रकार के भावों द्वारा प्रतिपादित होते हैं। वे ही परब्रह्म हैं। (सृष्टि खण्ड)

इससे स्पष्ट है कि पुराणों ने विष्णु को सर्वोच्च आसन पर अधिष्टित किया।

• • •

उपनिषदों में विष्णु ७

वेदों को भारतीय ज्ञान विज्ञान का उद्‌गम केन्द्र माना जाता है। उनके महत्वपूर्ण स्थलों का विस्तार उपनिषदों में हुआ है। आत्म विद्या के रहस्य का उपनिषदों में भली-भाँति विवेचन हुआ है। वेद का रहस्य जानने के लिए उपनिषदों को समझना आवश्यक है। वेद की ईश्वरीय वाणी को मानव-जीवन में किस प्रकार व्यवहृत किया जाए इस समस्या के समाधान के लिए ऋषियों ने हजारों लाखों वर्षों तक गहन अरण्यों में जो तत्व चिंतन किया है, उसका निष्कर्ष उपनिषदों में उपस्थित है। भारत को समस्त विश्व ने जिस ज्ञान के कारण जगद्‌गुरु स्वीकार किया था, वह वेदों और स्पष्ट रूप से उपनिषदों में सन्निहित है। भारतीय तत्वज्ञान का जितना उत्कृष्ट विवेचन उपनिषदों में मिलता है, उतना अन्यन्त्र कहीं नहीं है। संसार के सभी तत्वदर्शियों के लिए यह ज्ञान अमृतोमय होता रहा है।

उपनिषदों जैसे महत्वपूर्ण विश्व-विख्यात आध्यात्मिक साहित्य में भी विष्णु की महत्ता का गान किया गया है। जो संक्षिप्त रूप से इस प्रकार है:—

नारायणोपनिषत्—

ॐ अथ पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत प्रजाः सृजेयेति। नारायणात्प्राणो जायते। मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्यो-

तिराप: पृथिवी विश्वस्य धारिणी। नारायणाद्ब्रह्मा जा
नारायणाद्रुद्रो जायते। नारायणादिन्द्रो जायते । नारायणात्प्र-
जापति: प्रजायते। नारायणाद्द्वादशादित्या रुद्रा वसव: सर्वाणि
छन्दांसि नारायणादेव समुत्पद्यन्ते । नाराणात्प्रवर्तन्ते ।
नारायणे प्रलीयन्ते। एतदृग्वेदशिरोऽधीते ॥ १ ॥ अथ नित्यो
नारायण:। ब्रह्मा नारायण: । शिवश्च नारायण:। शक्रश्च
नारायण:। कालश्च नारायण:। दिशश्च नारायण:। विदिशश्च
नारायण:। ऊर्ध्वं च नारायण:। अधश्च नारायण:। अन्त-
र्बहिश्च नारायण:। नारायण एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
निष्कलङ्को निरञ्जनो निर्विकल्पो निराख्यात: शुद्धो देव एको
नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित्। य एवं वेद स विष्णुरेव
भवति स विष्णुरेव भवति। एतद्यजुर्वेदशिरोऽधीते ॥ २ ॥

ॐ पुरुष रूप नारायण ने कामना की कि प्रजा की सृष्टि होनी चाहिये। तब नारायण में से प्राण की उत्पत्ति हुई, और मन तथा सब इन्द्रियों की उत्पत्ति भी उन्हीं से हुई। आकाश वायु, ज्योति, जल और पृथ्वी, जो विश्व को धारण करती है, इन सब पंचभूतों की उत्पत्ति भी नारायण से हुई। नारायण से ही ब्रह्माजी उत्पन्न हुये, नारायण से रुद्र की उत्पत्ति हुई। नारायण से इन्द्र उत्पन्न हुये। नारायण से प्रजापति उत्पन्न हुये। नारायण से ही बारह आदित्य, रुद्र, आठ वसु और सब प्रकार के छन्दों की उत्पत्ति हुई। ये नारायण में से ही आते हैं और उसी में लय को प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद के इस शिरोभाग (श्रेष्ठ अंग) का विद्वान अध्ययन करते हैं ॥ १ ॥

नारायण नित्य रूप है, नारायण ब्रह्मा रूप है, नारायण शिवरूप है, नारायण शक्र रूप है, नारायण काल रूप है, नारायण दिशारूप है, नारायण विदिशा रूप है, नारायण ही ऊपर है, नारायण ही नीचे है,

नारायण ही भीतर और वाहर है। जो कोई उत्पन्न हुआ है और उत्पन्न होगा वह सब नारायण रूप ही है। मात्र नारायण ही निष्कलङ्क निरंजन, निर्विकल्प, निराख्यात (वर्णन से रहित) और शुद्ध देव है, इनके अतिरिक्त और कहीं कोई नहीं है। जो इस प्रकार जानता है वह विष्णुरूप हो जाता है, वह विष्णु के समान हो जाता है। विद्वान लोग यजुर्वेदोक्त इस श्रेष्ठ तत्व का अध्ययन करते हैं ॥ २ ॥

मित्यग्रे व्याहरेत् । नम इति पश्चात् । नारायणायेत्युपरिष्टात् ! ॐ मित्येकाक्षरम् ॥ नम इति द्वे अक्षरे । नारायणायेति पञ्चाक्षराणि । एतद्वै नारायणस्याष्टाक्षरं पदम् । यो ह वै नारायणस्याष्टाक्षरं पदमध्येति । अनपब्रुवः सर्वमायुरेति । विन्दते प्राजापत्यं रायस्पोषं गौपत्यं ततोऽमृतत्वमश्नुते ततोऽमृतत्वमश्नु इति । एतत्सामवेदशिरोऽधीते ॥ ३ ॥ प्रत्यगानन्दं ब्रह्मपुरुषं प्रणवस्वरूपम् । अकार उकारो मकार इति । ता अनेकधा समभवत्तदेतदोमिति यमुक्त्वा मुच्यते योगी जन्मसंसारबन्धनात् । ॐ नमो नारायणायेति मन्त्रोपासको वैकुन्ठभुवनं गमिष्यति । तदिदं पुन्डरीकं विज्ञानधनं तस्मात्तडिदाभमात्रम् । ब्रह्माण्यो देवकीपुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदनः । ब्रह्मण्यः पुण्डरीकाक्षो ब्रह्मन्यो विष्णुरच्युत इति ।। सर्वभूतस्थमेकं वै नारायणः कारणपुरुषकारणं परं ब्रह्मोम् । एतदथर्वशिरोऽधीते ॥ ४ ॥ प्रातरधीयानो रात्रीकृतं पापं नाशयति । सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति । तत्सायं प्रातरधीयानो पापोऽपापो भवति । मध्यंदिनमादित्याभिमुखोऽधीयानः पंचमहापातकोपपातकात्प्रमुच्यते । सर्ववेदपरायणपुण्यं लभते । नारायणसायुज्यमवाप्नोति श्रीमन्नारायणसायुज्यमवाप्नोति य एवं वेद ।

आरम्भ में 'ॐ' का उच्चारण करना, उसके पीछे नमः उच्चारण करना, और अन्त में 'नारायण' का उच्चारण करना। 'ॐ' में एक अक्षर हैं, 'नम' में दो अक्षर हैं, और 'नारायणेति' में पांच अक्षर हैं। इस प्रकार यह नारायण का आठ अक्षर का मंत्र होता है, इसका जप और ध्यान करने से मनुष्य अकालमृत्यु से बचकर पूर्ण आयु को भोगता है। उसे प्रजा (स्त्री पुत्र आदि) धन सम्पत्ति की और गौ आदि पशुओं की प्राप्ति होती है। अन्त में वह अमृतत्व को प्राप्त होता हैं—अमृतत्व को प्राप्त होता है। सामवेद के इस शिरोभाग का विद्वजन अध्ययन करते हैं।

'अ'कार, 'उ'कार और 'म'कार युक्त यह प्रत्यक् (ॐ) आनन्द रूप, ब्रह्मपुरुष रूप और प्रणव स्वरूप है। यह अनेक प्रकार से सम-मात्रा है, इसको 'ॐ' कहते हैं और इसके जप से योगीजन संसार के समस्त बन्धनों और बार-बार जन्म लेने से छूट जाते हैं। 'ॐ' नमो नारायणायेति' इस मंत्र की उपासना करने वाला वैकुण्ठ धाम को जाता है। यह पुण्डरीक (हृदय रूपी कमल) विज्ञान रूप हैं, इससे विद्युत की आभा प्रकट होती है। ब्रह्म को ही देवकी पुत्र कहा जाता है, वे ही मधुसूदन हैं, वे ही पुण्डरीकाक्ष हैं और वे ही विष्णु तथा अच्युत हैं। सर्व प्राणी मात्र में वे ही नारायण रहते हैं, वे कारण पुरुष होते हुये भी कारण रहित हैं, वे ही परब्रह्म हैं। विद्वान लोग अथर्ववेद के इस शिरोभाग (सार भाग) का अध्ययन करते हैं॥ ४॥

प्रातः समय इस मंत्र का जप करने से रात्रि में जो पाप किये हों वे सब नष्ट हो जाते है और इसी प्रकार सायंकाल को जप करने से दिन के पाप दूर होते हैं। इस प्रकार प्रातः और सायं इसका जप करने से मनुष्य निष्पाप हो जाता है। दिन के मध्य (दोपहर) को सूर्य के सम्मुख इसका जप करने से पंच महापातकों से छुटकारा हो जाता है। उसे सब वेदों के परायण फल प्राप्त होता है और नारायण

का सायुज्य प्राप्त होता है। इस प्रकार जानने से नारायण से साक्षात्कार होता है ॥ ५ ॥

इसमें विष्णु को आदि सृष्टि और सर्वव्यापी देव माना गया है।

नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषत्—

नृसिंह विष्णु के अवतार माने जाते हैं। उपनिषद् में इसका इस प्रकार वर्णन है:—

सुप्रसिद्ध प्रजापति ने पुनः कहा—भगवान् का जो नृसिंह रूप विग्रह क्षीर-सागरशायी है, वह परमपद रूप है तथा योगियों के लिये भी ध्यान करने योग्य है।

भगवान-नृसिंह अन्तर्यामी और सर्वव्यापी परमेश्वर हैं। उन्हें ऋत और सत्य समझना चाहिए। वे मनुष्य और सिंह की संयुक्त आकृति वाले, काले-पीले रङ्ग से युक्त हैं। उनके नेत्र अत्यन्त विकराल तथा भयंकर हैं। वही कल्याणकारी शिव हैं। कण्ठ में नीलवर्ण और उसके ऊर्ध्व भाग में तेजोमय लोहित वर्ण का होने के कारण 'नील लोहित' कहलाते हैं। वे सर्व देवात्मक भगवान नृसिंह ही गिरिजा, उमापति, पशुपति, धनुर्धारी और अत्यन्त तेजस्वी महेश्वर हैं। वे सम्पूर्ण विद्याओं और भूतों के स्वामी हैं। जो देवपति, ब्रह्मा के भी स्वामी और यजुर्वेद के वाच्यार्थ हैं, उन भगवान् नृसिंह को साम ही जान लो, जो ऐसा जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त होता है।

एक समय की बात है कि मृत्यु, पाप और संसार से सब देवता अत्यन्त भयभीत हुए और भाग कर प्रजापति ब्रह्माजी की शरण में पहुँचे। ब्रह्माजी ने उन्हें भगवान् नृसिंह का मंत्रराज आनुष्टुप्

बताया । देवताओं ने इस मन्त्र की सिद्धि द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त करली । वे सब पापों से मुक्त हो गये और इस संसार रूपी समुद्र को भी लाँघ गये । अतः जो मनुष्य मृत्यु, पाप और भवसागर से भय मानता हो, वह इस मंत्रराज की शरण ग्रहण करे । जो इस प्रकार मंत्रराज की शरण लेता है वह मृत्यु, पाप और इस संसार से भी तर जाता है ।

प्रसिद्ध प्रजापति ने इसका उत्तर दिया—'भगवान् नृसिंह अपनी महिमा से सब देवताओं, सब भूतों, सब आत्माओं और सब लोकों को ऊपर उठाते हैं, वही उनकी सृष्टि, स्थिति और संहार करते हैं, वे ही उन्हें अपने में लीन कर लेते हैं । संसार पर दूसरों से अनुग्रह कराते हैं और स्वयं भी करते हैं । इसीलिए उन्हें उग्र कहा जाता है । इस विषय में ऋग्वेद में कहा है 'श्रुतियाँ जिनकी स्तुति करती हैं, उन्हीं परमेश्वर की स्तुति करो । वे हृदय रूप गर्त्त में हैं, नवीन तरुणाई से शोभायमान हैं, सिंह रूप से प्रकट होते हुए भी भलों के लिये विकराल नहीं हैं । सब पर कृपा करने के लिये वे सब स्थान पर तथा सबके समीप पहुँचते हैं । वे सन्तजनों पर कृपा और दुष्टों को नाश करने वाले हैं, इसलिये उग्र कहे जाते हैं । हे भगवान नृसिंह ! आप इस स्तुति से संतुष्ट होकर मुझ स्तोता को सुखी करो । आपकी भयंकर सेना हम पर आक्रमण न करे, वह कहीं अन्यत्र जाय । इस मंत्र में भगवान् नृसिंह की 'उग्र' कह कर स्तुति की है, इसलिये उन्हें उग्र कहा गया है ।'

इसके पश्चात देवताओं ने प्रश्न किया—'भगवान ! प्रभु श्री नृसिंह को 'वीर' क्यों कहा गया है ? 'इस पर ब्रह्माजी ने कहा –'भगवान नृसिंह अपनी महिमा के द्वारा ही सब भूतों के साथ विभिन्न प्रकार के खेल खेलते हैं । वही सब लोकों और सब देवताओं में व्याप्त हैं । सभी आत्मा उन्हीं का प्रतिरूप मात्र हैं । वही सृष्टि के पालन और विनाश

करने वाले हैं। सम्पूर्ण विश्व प्रलय के पश्चात उन्हीं में लीन हो जाता है, इसलिए वे 'वीर' कहे गए हैं।

ऋग्वेद में भी भगवान् को वीर कहा गया है, वे भक्तों पर तुरन्त कृपा करने वाले हैं, कर्मठ हैं क्योंकि सोमयाग में पाषाण हाथ में लेकर अध्वर्यु आदि के रूप में सोम निष्पीडन करते हैं। यही देवताओं की रचना करने की कामना करते रहते हैं।

देवताओं ने प्रश्न किया—'भगवान् को 'महाविष्णु' क्यों कहा जाता है ? ब्रह्माजी बोले—'भगवान् नृसिंह अपनी महिमा से सब देवताओं; सब आत्माओं, समस्त भूतों और सम्पूर्ण लोकों को व्याप्त करते हैं। माँस–पिन्ड में चिकनाई व्याप्त रहने के समान देह के सब अवयवों में व्याप्त हैं यह संसार प्रलय काल में, उनमें ही लय हो जाता है, क्योंकि यह उन्हीं से सम्बन्धित है।"

ऋग्वेद मैं भी इनकी महिमा का वर्णन हुआ है—जो सर्वव्यापी होने से समस्त संसार में व्याप्त है, जो प्रजा पालक और प्रजा के उपास्यदेव हैं, जिनसे प्रवल अन्य कोई भी प्रकट नहीं हुआ, वे भगवान सोलह कलाओं से युक्त होकर तीनों प्रकार के तेजों में व्याप्त रहते हैं। इसीलिए इन्हें 'महाविष्णु' कहा जाता है।

देवता पूछने लगे—"यह 'ज्वलन्त' क्यों कहे जाते हैं? "प्रजा पति ने उत्तर दिया—"भगवान अपने महत्व से ही सब देवताओं, सब आत्माओं, सब लोकों और सब भूतों को अपने तेज से स्वयं ही प्रकाशित रहते करते हैं। सभी लोक और ज्योतियाँ उनके तेज से प्रकाशति होकर अपना प्रकाश फैलाते हैं। ऋग्वेद में कहा है कि—"वे सविता हैं, प्रसविता भी वही हैं, वे प्रकाश से युक्त हैं। वे स्वयं प्रज्ज्वलित रह कर दूसरों को भी प्रज्ज्वलित करते हैं। वे स्वयं तपते और दूसरों को तपाते हैं। वे अपने तेज से ही कान्तियुक्त हैं तथा अपनी कान्ति से

दूसरों को कान्तिमान बनाते हैं। वे रूप एवं सुशोभित हैं तथा अन्य पदार्थ उन्हीं के द्वारा सुशोभित होते हैं। इसीलिए ज्ञानीजन उन्हें 'ज्वलन्त' कहते हैं।"

देवता पूछने लगे—"वे 'सर्वतोमुख' किस लिए कहे जाते हैं ? ब्रह्माजी ने कहा–'सब प्राणियों, आत्माओं देवताओं और सभी लोकों को वे अपनी महिमा के द्वारा ही इंद्रियों से परे होते हुए भी सबको सब ओर देखते हैं। वे सब ओर से ग्रहण करते और सब ओर गमन करते हैं। ऋग्वेद में उनकी महिमा का वर्णन इस प्रकार किया गया है—'जो भगवान सृष्टि से पूर्व अकेले ही थे और स्वयं ही इस विश्व रूप से उत्पन्न हो गये, जिनके द्वारा इस विश्व की सृष्टि हुई.जो सब लोकों का पालन करते हैं तथा समस्त सृष्टि अन्त में उन्हीं में लीन हो जाती हैं, वे भगवान सर्वतोमुख है। उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ। इसमें भगवान को सर्वतोमुख कहा गया है। इस लिये वे 'सर्वतोमुख' कहाते हैं।"

देवताओं ने पूछा—"भगवान को नृसिंह क्यों कहते हैं ? ब्रह्मा जी बोले—"सब प्राणियों में मानव का पराक्रम प्रसिद्ध है और सिंह भी सबसे अधिक पराक्रमी होता है। अतः नर और सिंह दोनों के संयुक्त रूप से पराक्रम में अधिक प्रबलता होती है, इसलिए भगवान ने यह रूप धारण किया है। वे अपने इस रूप मे विश्व का कल्याण करते हैं। उनका यह स्वरूप अविनाशी एवं सनातन है। वेद में कहा है— "भगवान विष्णु सिंह रूप धारण कर स्तोताओं द्वारा स्तुत होते हैं। विभिन्न स्तोत्रों द्वारा उनकी स्तुति की जाती हैं। स्तोतागण विभिन्न प्रकार की शक्तियों को पाने के लिए उनकी स्तुति करते हैं। सिंह रूपधारी होने पर भी भगवान अपने भक्तों के लिए भयङ्कर नहीं होते। वे पृथिवी और पर्वत सर्वत्र हैं सब रूपों में स्थित हैं और स्तोता को वाणी में भी निहित हैं। इनके तीन पगों में तीन लोक समा गए। इसी लिये इन्हें 'नृसिंह कहा जाता है।"

तुलस्युपनिषत्—

तुलसी को विष्णु की पत्नी माना गया है। तुलसी से विष्णु का घनिष्ट सम्बन्ध है। तुलसी द्वारा पूजा करने से विष्णु प्रसन्न होते हैं। उपनिषद् में उसका इस प्रकार वर्णन है :—

श्यामां श्यामवपुर्धरां ऋक्स्वरूपां यजुर्मनां [?] ब्रह्माथर्वप्राणां कल्पहस्तां पुराणपठितां अमृतोद्भवां अमृतरसमञ्जरीं अनन्तां अनन्तरसभोगदां वैष्णवीं विष्णु वल्लभां मृत्युजन्मनिबर्हणीं दर्शनात्पापनाशिनीं स्पर्शनात्पावनीं अभिवन्दनाद्रोगनाशिनी सेवनात्मृत्युनाशिनीं वैकुण्ठार्चनाद्विपद्धन्त्रीं भक्षणात् वयुनप्रदां प्रादक्षिण्याद्दारिद्र्यनाशिनीं मूलमृल्लेपनान्महापापभंजनीं घ्राणतर्पणादन्तर्मलनाशिनीं य एवं वेद स वैष्णवो भवति। वृथा न छिन्द्यात्। दृष्ट्वा प्रदक्षिणं कुर्यात्। यां न स्पृशेत्। पर्वणि न विचिन्वेत्। यदि विचिन्वति स विष्णुहा भवति। श्रीतुलस्यै स्वाहा। विष्णुप्रियायै स्वाहा। अमृतायै स्वाहा। श्रीतुलस्यै विद्महे विष्णु प्रियायै धीमही। तन्नो अमृता प्रचोदयात्॥

इस कृष्ण वर्ण वाली, श्यामसुन्दर प्रिय ऋग्वेद स्वरूप, यजुर्वेद चित्त वाली, ब्रह्माथर्ववेद प्राण वाली कल्प (वेदाङ्ग) की हाथ रूप, पुराण में विख्यात, अमृत से उत्पन्न होने वाली, अमृत रस की मञ्जरी के समान अनन्तरूप असंख्य रस तथा भोग देने वाली, वैष्णवी विष्णु सम्बन्धी वस्तु विष्णु प्रिया, मृत्यु तथा जन्म को समाप्त करने वाली, देखने से पाप नाशक, छूने से पवित्र करने वाली, प्रणाम से रोगनाशक, सेवन से मृत्यु दूर करने वाली, विष्णु पूजन करने से (उनके पूजन में चढ़ाने से) विपत्ति नाशिका, खाने से प्राणों में शक्ति देने वाली, परिक्रमा से दारिद्र्य् नाशक, जड़ में मिट्टी लगाने से (जैसे पौधों की सुरक्षा के लिए मिट्टी लगाई जाती है) महापाप को भञ्जन (समाप्त)

कर देने वाली, सूंघने से अन्दर के मैल को नाश कर देने वाली है। तुलसी को जो इस रूप में श्रद्धापूर्वक देखता है, समझता है, वह सच्चा विष्णु-भक्त है। इसे व्यर्थ न तोड़ें। कहीं देख लें तो परिक्रमा करें। रात को न छूएँ। पर्व के दिन न तोड़ें। यदि तोड़ेगा तो वह विष्णु-द्रोही कहलायेगा। श्री तुलसी जो कि विष्णु भगवान् की प्यारी है, अमृत स्वरूप है, उसे नमस्कार पहुँचे। इस विष्णु प्रिय श्री तुलसी का हम ध्यान करते हैं, इसके प्रति अगाध श्रद्धा रखते हैं, सो वह अमृत स्वरूप हमें अमृतत्व के लिए प्रेरित करें।

अमृतेऽमृतरूपासि अमृतत्वप्रदायिनि।
त्वं मानुद्धर संसारात् क्षीरसागरकन्यके ॥
श्रीसखि त्वं सदानन्दे मुकुन्दस्य सदा प्रिये।
वरदाभयहस्ताभ्यां मां विलोकय दुर्लभे ॥
अवृक्षवृक्षरूपासि वृक्षत्वं मे विनाशय।
तुलस्यतुलरूपासि तुलाकोटिनिभेऽजरे ॥
अतुले त्वतुलायां हि हरिरेकोऽस्ति नान्यथा।
त्वमेव जगतां धात्री त्वमेव विष्णुवल्लभा ॥
त्वमेव सुरसंसेव्या त्वमेव मोक्षदायिनी।
त्वच्छायायां वसेल्लक्ष्मीस्त्वन्मूले विष्णुरव्ययः ॥
समन्ताद्देवताः सर्वाः सिद्धचारणपन्नगः।
यन्मूले सर्वतीर्थानि यन्मध्ये ब्रह्मदेवताः ॥

हे क्षीर समुद्र की कन्या तुलसी! तू अमृत स्वरूप है, इसीलिए 'अमृता' कहलाती है। तू अमृतत्व की देने वाली है, तू मुझे इस संसार से उद्धृत कर ले। हे लक्ष्मी की सहेली! तू सदा आनन्दमय है तथा हमेशा ही विष्णुजी की प्रिय है। हे दुष्प्राप्य! तू मुझे वरदान तथा अभय की मुद्रा से युक्त हाथों से सुशोभित होकर कृपादृष्टि से देख।

यद्यपि तू पेड़ नहीं है, तथापि माहात्म्य की अधिकता से वृक्ष ही है, सो तू मेरी अज्ञानता को दूर कर दे। हे तुलसी तू अतुलरूप (जिसके रूप की तुलना नहीं) है। तू जराहीन है तेरी तुलना में करोड़ों तुलनाएँ भी नहीं हैं, तू ही करोड़ों तुलनाओं स्वरूप है। तुलनाहीन ! तेरी तुलना में तो केवल एक मात्र भगवान् विष्णु ही टिकते है और कोई नहीं। तू ही संसार की पालन करने वाली है तथा तू ही भगवान विष्णु की प्रिय है। तू ही देवताओं द्वारा सेवा करने योग्य तथा मोक्ष देने वाली है। तेरी ही छाया में लक्ष्मी निवास करती है तथा तेरे मूल में (जड़ में) ही भगवान् विष्णु का निवास स्थल है। सारे देवता, सिद्ध, चारण, नाग, जिससे मूल में चारों तरफ से रहते हैं तथा सारे तीर्थ भी जिसके मूल में निवास करते हैं एवम् जिसके मध्य में ब्रह्मा देवता रहते हैं।

यदग्रे वेदशास्त्राणि तुलसीं तां नमाम्यहम् ।
तुलसि श्रीसखि शुभे पापहारिणि पुण्यदे ।।
नमस्ते नारदनुते नारायणमनः प्रिये ।
ब्रह्मानन्दाश्रु संजाते वृन्दावननिवासिनि ।।
सर्वावयवण्सम्पूर्णे अमृतोपनिषद्रसे ।
त्वं मामुद्धर कल्याणि महापापाब्धिदुस्तरात् ।।
सर्वेषामपि पापानां प्रायश्चित्तं त्वमेव हि ।
देवानां च ऋषीणां च पितृणां त्वं सदा प्रिये ।।
विना श्रीतुलसीं विप्रा येऽपि श्राद्धं प्रकुर्व्वते ।
वृथा भवति तच्छ्राद्धं पितृणां नोगपच्छति ।।
तुलसीपत्रमुत्सृज्य यदि पूजां करोति वै ।
आसुरो सा भवेत् पूजा विष्णु प्रीतिकरी न च ।।
यज्ञं दानं जपं तीर्थं वै देवतार्चनम् ।
तर्पणं मार्जनं चान्यन्न कुर्यात्तुलसीं विना ।।

तुलसीदारुमणिभिः जपः सर्वार्थसाधकः ।
एवं न वेद यः कश्चित् स विप्रः श्वपचाधमः ।।

जिसके अग्रभाग में वेदशास्त्र रहते हैं, उस तुभ तुलसी को मैं प्रणाम करता हूँ। हे तुलसी ! तू लक्ष्मी की सखि कल्याणमयी पापहरण करने वाली तथा पुण्यदात्री है। हे विष्णु के मन को अच्छी लगने वाली, नारद से हमेशा प्रणाम किये जाने वाली, स्तुति किये जाने वाली तुलसी ! तू ब्रह्मा के आनन्दाश्रुओं से उत्पन्न है तथा वृन्दावन में निवास करने वाली है। हे सभी अङ्गों-अवयवों से पूर्ण ! तथा तुलस्युपनिषद् की रस रूप हे कल्याणी ! तू मुझे महापाप के दुस्तर समुद्र से उबार ले। सभी पापों की प्रायश्चितभूत तू ही है। तू देवताओं, ऋषियों तथा पितरों की सदा ही अत्यन्त प्रिय है। जो भी ब्राह्मण बिना तुलसी के प्रयोग किये श्राद्ध करते हैं, वह श्राद्ध व्यर्थ हो जाता है तथा पितरों को प्राप्त नहीं होता। यदि कोई तुलसी को छोड़कर (अर्थात पूजा की वस्तुओं में न रखकर) पूजन करता है तो वह पूजा आसुरी कही जाती है तथा वह पूजा विष्णु को प्रसन्न करने वाली नहीं होती। यज्ञ, दान, जप, तीर्थ, श्राद्ध, देवताओं का पूजन, तर्पण तथा मार्जन तथा अन्य भी इसी प्रकार के धार्मिक कृत्य तुलसी के बिना नहीं करने चाहिए। तुलसी की लकड़ी के मनकों वाली माला सभी इच्छित वस्तुओं की साधिका है। जो कोई ब्राह्मण इस तथ्य को नहीं जानता, वह चाण्डाल के समान अथवा उससे भी अधिक नीच है।

इस प्रकार विष्णु की महत्ता का प्रतिपादन उपनिषदों ने किया है।

• • •

ब्राह्मण ग्रंथों में विष्णु

वेदों के बाद ब्राह्मण ग्रंथों का स्थान आता है। कतिपय विद्वान तो इन्हें वेदों का अति प्राचीन भाष्य मानते हैं। इनके निर्माण का उद्देश्य यद्यपि कर्म काण्डविधि पर प्रकाश डालना था। कर्मकाण्ड में जिन तथ्यों को समझना कठिन था, उनका विस्तार पूर्वक अलङ्कारिक शैली में लिखा है। अत: ब्राह्मण ग्रंथों का उद्देश्य वेदों की ग्रंथियों को सुलझाना ही था। इस लिए जो विषय इनमें प्रतिपादित किए गए हैं उनमें शंकासमाधान के लिए पूर्ण जानकारी की सामग्री प्रस्तुत करते हैं। उनकी बात मान्य भी है क्योंकि वेदों के पश्चात इन्हीं का महत्वपूर्ण स्थान है।

ब्राह्मण काल में यज्ञ एक महत्वपूर्ण उपासना और कर्मकाण्ड स्वीकार किया जाता था। देवताओं में विष्णु ने भी एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था। अत: ब्राह्मणों ने "यज्ञो वै विष्णु" यज्ञ ही विष्णु है, की घोषणा की वेदों में तो यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया था। ब्राह्मणों ने भी उन्हें वही स्थान दिया। उस समय तक विष्णु की उच्च प्रतिष्ठापना हो ही चुकी थी। इस लिए विष्णु को यज्ञ का रूप अंकित किया गया। अन्य देवताओं को हीन दृष्टि में देखा जाने लगा। वेद में अग्नि को उच्च स्थान प्राप्त है। उसे देवताओं का पुरोहित कहा जाता है। इन्द्र के पश्चात् अग्नि के ही सबसे अधिक मंत्र उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद का आरम्भ भी अग्नि से होता है शतपथ ब्राह्मण में भी यज्ञ को सृष्टिकर्ता रूप कहा गया है।

शथपथ ब्राह्मण (१।२) में कहा है विष्णु ही यज्ञ है। यज्ञ प्रथम पाद से पृथ्वी द्वितीय से अन्तरिक्ष तथा तृतीय से आकाश का अतिक्रमण कर लेता है। अथवा प्रथम पाद से पृथ्वी से अन्तरिक्ष में जाकर द्वितीय पद से आकाश चला जाता है। तथा उत्तम तृतीय पद से सारी सृष्टि को बाँध लेता है। ऐतरेय ब्राह्मण (१।२३) में देवों द्वारा यज्ञ में तीन उपसद द्वारा असुरों का पृथ्वी अन्तरिक्ष तथा आकाश से हटाये जाने का वर्णन है। यज्ञ के यह तीन उपसद भी विष्णु के त्रिविक्रम हैं।

शथपथ ब्राह्मण में द्वितीय अध्याय पंचम ब्राह्मण में यज्ञरूप विष्णु की विस्तृत कथा आती है। उसका सार यह है कि देवता और असुर दोनों प्रजापति की संतान थे। दोनों आपस में स्पर्धा करते ! असुर बलवान होगए और उन्होंने देवताओं को परास्त कर लिया, उनका राज्य छीन लिया। देवता यज्ञात्मक विष्णु के पास पहुँचे और उन्हें लेकर असुरों के पास गए ताकि वह उन्हें अपना भाग दिलवा सकें। विष्णु वामन के रूप में थे। असुरों ने निश्चय किया कि देवताओं को उतना ही स्थान दिया जाएगा जितने में वामन लेट सकें। देवताओं ने प्राची दिशा से दक्षिण पश्चिम को विष्णु को भूमि में डाल कर और उत्तर से गायत्री आदि छन्दों द्वारा स्तुति करके सारी पृथ्वी पर अधिकार प्राप्त कर लिया।

विष्णु त्रिविक्रम प्रसिद्ध हैं। ऐतरेय ब्राह्मण ६।३।१५ के अनुसार जब देवों और असुरों में लोक विभाजन पर संघर्ष हुआ तो असुरों ने निश्चय किया कि इन्द्र को उतनी ही भूमि दी जाएगी जितनी कि विष्णु अपने तीन पग में ले सकें। विष्णु ने अपने ३ पगों में समस्त लोक, वेद और वाणी नाप लिए और देवताओं को पृथ्वी का निष्कण्टक राज्य दिलाया। शथपथ ब्राह्मण १।७।३।९ में भी इसी बात की कथा उपलब्ध होती है।

पुराणों में विष्णु के कूर्म, मत्स्य, वराह और वामनादि अवतारों की विस्तृत कथाएँ आती हैं। उनको इतना महत्व दिया गया

है कि उनके स्वतंत्र पुराणों की भी रचना होगई। ब्राह्मणों में भी तत्सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध होती है। शतपथ ब्राह्मण २।८।१।१ के अनुसार एक बार घोर वर्षा हुई, सारी सृष्टि में जल ही जल दिखाई देने लगा। प्रलय की स्थिति आगई। केवल एक विचित्र मछली ही बच पाई। भगवान मनु को पूर्व सूचना प्राप्त हो चुकी थी कि वह अपनी नाव को इस मत्स्य के साथ बांध दें तो वह बच जाएँगे। उन्हें सृष्टि के सारे बीजों को भी बचाकर रखने का आदेश दिया गया था। मनु ने ऐसा ही किया और इस प्रकार उनकी प्राण रक्षा हुई। जब स्थिति सामान्य हो गई तो उन्होंने एक वृहद् यज्ञ का आयोजन किया जिससे सारी सृष्टि की पुनः उत्पत्ति हुई।

शथपथ ब्राह्मण १।२।२।१ में वामन की कथा आती है कि जब असुरों और देवों में झगड़ा हुआ तो असुर विजयी हुए। बलि उनके नेता थे। बलि के पास देवताओं का शिष्टमण्डल विष्णु के नेतृत्व में गया। विष्णु वामन रूप में थे। बलि ने कहा वामन जितनी भूमि पर लेट सकें, उतनी देवताओं को दी जाएगी। देवताओं ने इसे स्वीकार कर लिया। वामन ने अपना रूप विस्तृत किया और वह सारी पृथ्वी पर फैल गए। इस तरह से सारा पृथ्वी का राज्य असुरों से छीन कर देवों को दिलाया।

शथपथ ब्राह्मण १४।१।२।११ में वाराह भगवान की कथा आती है जिसमें उन्होंने पृथ्वी को जल से ऊपर उठा लिया। पुराणों में वाराह को विष्णु का रूप बताया गया है।

शथपथ ब्राह्मण ७।५।१।५ और जैमिनीय ब्राह्मण ३।२७२ में कूर्मावतार की कथा है जिसमें प्रजापति ने जल पर कूर्म का रूप धारण किया और सृष्टि की रचना की। ब्राह्मणों के प्रजापति के रूप को पुराणों ने विष्णु का रूप स्वीकार किया है।

इस तरह से ब्राह्मण ग्रन्थों ने विष्णु के महत्व को दर्शाया है।

• • •

महाभारत में विष्णु ६

महाभारत की गणना उच्चकोटि के धर्मग्रंथों में होती है। उसकी महत्ता इसी से प्रकट होती है कि उसे पाँचवाँ वेद कहा जाता है। इसमें लोकधर्म, राजनीति, समाजनीति, तत्वज्ञान, व्यवहार आदि महत्वपूर्ण विषयों का सुन्दर विवेचन है। इसे धर्मग्रंथ अथवा राजनीति शास्त्र भी कहा जा सकता है। धर्म और नीति के उपदेश इसमें भरे पड़े हैं। महाभारत को प्राचीन भारत वर्ष का विश्व कोष कहा जाता है। यह प्राचीन भूगोल, समाजशास्त्र शासन पद्धति, नीति और धर्म के आदर्श की खान है। गीता जिसे अध्यात्म दर्शन का अपूर्व ग्रंथ माना है, महाभारत का एक भाग है। गीता के उपदेशक कृष्ण भगवान, विष्णु के अवतार माने जाते हैं महाभारत के प्रणेता महर्षि व्यास भी भगवान विष्णु के अवतार स्वीकार किए गए हैं। अतः महाभारत जैसे ऐतिहासिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ में विष्णु की महत्ता का प्रतिपादन स्वाभाविक है। अनेकों स्थानों पर इस प्रकार वर्णन आया है:—

अनुशासन पर्व अध्याय १४१ मे भीष्म जी ने युधिष्ठिर से कहा पुरुष को चाहिये कि वह देवों के प्रभु विष्णु की सहस्रनाम से स्तुतिकर के भक्ति पूर्वक पूजा करे। यजमान उन सर्वलोक महेश्वर विष्णु का ध्यान करे। उस लोकाध्यक्ष विष्णु की स्तुति करने से पुरुष समस्त दुखों से निवृत हो जाते हैं। जो समस्त पवित्र वस्तुओं में पवित्र, समस्त मंगलों में मंगल, देवों के देव और प्राणियों के अन्यतम् पिता हैं, सृष्टि के आरम्भ में समस्त प्राणी जिन से उत्पन्न हुए और प्रलय के समय जिन

में लीन हो जाते हैं, उन जगन्नाथ और लोक नायक विष्णु का सहस्र-नाम स्तव तुम सुनो। वह सहस्रनाम इस प्रकार है:—

ओं विश्व, विष्णु, वषट्कार, भूतभव्यभवत्प्रभु, भूतकृत्, भाव, भूतात्मा, भूतभावन, पूतात्मा, परमात्मा, मुक्तानांपरमागति, अव्यय, पुरुष, साक्षी, क्षेत्रज्ञ, अक्षर, योग, योगविदांनेता, प्रधानपुरुषेश्वर, नारसिंहवपु, श्रीमान, केशव, पुरुषोत्तम, सर्व, शर्व, शिव, स्थाणु, भूतादि, निधि, अव्यय, सम्भव, भावन, भर्ता, प्रभव, प्रभु, ईश्वर, स्वम्भू, शम्भु, आदित्य, पुष्कराक्ष, महास्वन, अनादि, निधन, धाता, विधाता, धातुकत्तम, अप्रमेय, हृषीकेश, पद्मनाभ, अमरप्रभु, विश्वकर्मा, मनु, तव्ष्टा, स्थविर, स्थविर, ध्रुव, अग्राह्य, शाश्वत, कृष्ण, लोहिताक्ष, प्रतर्दन, प्रभूत, त्रिककुद्धाम, पवित्र, परममंगल, ईशान, प्राणद, प्राण, ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, प्रजापति, हिरण्यगर्भ, भूगर्भ, माधव, मधुसूदन, ईश्वर, विक्रमी, धन्वी, मेधावी, विक्रम, क्रम, अनुत्तम, दुराधर्ष, कृतज्ञ, कृति, आत्मवान्, सुरेश, शरण, शर्म, विश्वरेता, प्रजाभव, अह, संवत्सर, व्याल, प्रत्यय, सर्वदर्शन, अज, सर्वेश्वर, सिद्ध, सिद्धि, सर्वादि, अच्युत, वृषाकपि, अमेयात्मा, शर्वः, सर्वयोग, विनिःसृत, वसु, वसुमनाः, सत्य, समात्मा, असम्मित, समअमाघ, पुण्डरीकाक्ष, वृषकर्मा, वृषाकृति, रुद्र, बहुशिरा, बभ्रु, विश्वयोनि, शुचिश्रवा, अमृत, शाश्वत, स्थाणु, वरारोह, महातप, सर्वग, सर्वविद्, भानु, विष्वक्सेन, जनार्दन, वेद, वेदवित्, (चारों वेदों के ज्ञाता) अव्यङ्ग, वेदाङ्ग, वेदावित, (वेदों का विचार करने वाले) ,कवि, लोकाध्यक्ष, सुराध्यक्ष, धर्माध्यक्ष, कृता, कृत, चतुरात्मा, चतुर्व्यूह, चतुर्दंष्ट, चतुर्भुज, भ्राजिष्णु, भोजन, भोक्ता, सहिष्णु, जगदादिज, अनघ, विजय, जेता, विश्वयोनि, पुनर्वसु, उपेन्द्र, वामन, प्रांशु, अमेघ, शुचि, अर्जित, अतीन्द्र, सग्रह, सर्ग, धृतात्मा, नियम, यम, वेद्य, वैद्य, सदायोगी, वीरहा, माधव, मधु, अतिन्द्रिय, महाभाग, महोत्साह, महाबल, महाबुद्धि, महावीर्य, महाशक्ति, महाद्युति

अनिर्देश्यवपु, श्रीमान् अमेयात्मा, महाशक्तिधृक्, महेष्वास, महीभर्ता, श्रीनिवास, सतांगति, अनिरुद्ध, सुरानन्द, गोविन्द, गोविन्दीपति, मरीचि, दमन, हंस, सुवर्ण, भुजगोत्तम, हिरण्यनाभ, सुतप, पद्मनाभ, प्रजापति, अमृत्यु, सर्वदृक्, सिंह, सन्धाता, संधिमान, स्थिर, अज, दुर्मर्षण, शास्ता, विश्रुतात्मा, सुरारिहा, गुरु, गुरुत्तम, धाम, सत्य, सत्यपराक्रम, निमिष, अनिमिष, स्त्रग्वी, वाचस्पति उदारधी, अग्रणी, ग्रामणी, श्रीमान्, न्याय, नेता, समीरण, सहस्रमूर्धा, विश्वात्मा, सहस्राक्ष, सहस्रपात्, आवर्तन, निवृतात्मा, संवृत, सम्प्रमर्दन, अहः, (सूर्य रूप से जगत्, को भलीभाँति आवृत करने वाले), संवर्तक, वन्हि, अनिल, धरणीधर, सुप्रसाद, प्रसन्नात्मा, विश्वधृग्, विश्वभूग्, विभु, सत्कर्ता, सत्कृत, साधु, जन्हु, नारायण, नर, असंख्येय, अप्रमेयात्मा, विशिष्ट, शिष्ट, शिष्टकृत, शुचि, सिद्धार्थ, सिद्धि, सङ्कल्प, सिद्धिद, सिद्धिसाधन, वृबाही, वृषभ, विष्णु, वृषपर्वा, वृपोदर, वर्धन, धर्मान, विविक्त, श्रतिसागर, सुभुज. दुर्धर, वाग्मी, महेन्द्र, वसुद, वसु, नैकरूप, वृहद्रूप, शिपिविष्ट, प्रकाशन, ओज, तेज, धुतिधर, प्रकाशात्मा, प्रतापन, ऋद्ध, स्पाष्टाक्षर, मंत्र, चन्द्रांश, भास्करद्युति, अमृत:शूद्भव, भानु, शशविन्दु, सुरेश्वर, औषध, जगतसेतु, सत्यधर्म, पराक्रम, भूतभव्य, भवन्नाथ, पवन, पावन, अनल, कामहा, कामकृत, कान्त, काम, कामप्रद, प्रभु, युगादिकृत, युगावर्ती, नैकनाम, महाशन, अदृश्य, अव्यक्तरूप, सहस्रजित्, अनन्तजित्, इष्ट, विशिष्ट, (सर्वश्रेष्ठ) शिष्टेषु, शिखण्डी, नहुष, वृष, क्रोधहा, क्रोधकृत्, कर्ता, विश्ववाहु, महीधर, अच्युत (जन्मादिष्ट विकारशून्य) प्रथित, प्राण, प्राणद, वासवानुज, अपांनिधि अधिष्ठान, अप्रमत्त, प्रतिष्ठित, स्कन्द, स्कन्दधर, धुर्य, वरद, वायुवाहन, वासुदेव, वृहद्भान, आदिदेव, पुरन्दर, अशोक, तारण, तार, शूर, शौर्य, जनेश्वर, अनुकूल, शतावर्त, पद्मी, पद्मनिभेक्षण, पद्मनाभ, अरविन्दाक्ष पद्मगर्भ, शरीरभृत,

महर्द्धि, ऋद्ध, वृद्धात्मा, महाक्ष, गरुणध्वज, अतुल, शरभ, भीम, समयज्ञ, हविर्हरि, सर्वलक्षण, लक्षराय, लक्ष्मीवान्, समितिञ्जय, विक्षस, रोहित, मार्गहेतु, दामोदर, सह, महीधर, महाभाग, वेगवान्, अमिताशन, उद्भव, क्षोभशा, देव, श्रीगर्भ, परमेश्वर, करण, कारण, कर्त्ता, विकर्त्ता, गहन, गुह, व्यवसाय, व्यवस्थान, संस्थान, स्थानद, ध्रुव, पर्धि, परमस्पष्ट, तुष्ट, पुष्ट, शुभेक्षण, राम, विराम, विरज, मार्ग, नेय, नय, अनय, वीर, शक्तिमताँश्रेष्ठ, धर्म, धर्मविदुत्तम, वैकुन्ठ, पुसव, प्राण, प्राणद, प्रणव; पृथु, हिरण्यगर्भ शत्रुघ्न, व्याप्त, अधोक्षज, ऋतु, सुदर्शन काल, परमेष्ठी, परिग्रह, उग्र, संवत्सर, दक्ष, विश्राम, विश्वदक्षिण, विस्तार, स्थावर, स्थाणु, प्रमाण, वीजमव्यय, अर्थ, अवर्थ, महाकोश, महाभोग, महाधन, अनिर्विण्णम, स्थविर, अभू: धर्मयूप, महामख, नक्षत्रनेमि, नक्षत्री, क्षम, क्षाम, समोहन, यज्ञ, इज्य, महेज्य, क्रतु, सत्र, सतांगति, सर्वदर्शी, विमुच्या, सर्वज्ञ, ज्ञान, उत्ताम, सुव्रत, सुमुख, सूक्ष्म, सुकोप, सुखद, सुहृत, मनोहर, जितक्रोध, वारवाहु, विदाकरण, स्वापन, स्ववश, व्यापी, नैकात्मा, नैककर्मक, वत्सर, वत्सल, वासी, रत्नगर्भ; धनेश्वर, धर्मगुप्त, धर्मकृत, धर्मी, सदसद्, क्षर, अक्षर, अविज्ञाता, सहस्रांशु, विधाता, कृतलक्षण, गभस्ति, नेमि, सत्वस्त, सिंह, भूतमहेश्वर, आदिदेव, महादेव, देवेश, देवप्रद्गुरु, उत्तर, गोपति, गोप्ता, ज्ञानगम्य, पुरातन, शरीरभूत भृत, भोक्ता, कवीन्द्र, भूरिदक्षिण, सोमप, अमृतप, सोम, पुरुजित, पुरुसतम, विनय, जय, सत्यसन्ध, दशार्ह, सात्वतांपति, जीव, विनपिता, साक्षी, मुकुन्द, अमित, विक्रम, अम्भोनिधि, अनन्तात्मा, महोदधिशय, अन्तक, अज, महार्ह, स्वाभक्त, जितामित्र, प्रमोदन, आनन्द नदंन, नन्द, सत्य धर्म, त्रिविक्रम, महर्षि, कपिलाचार्य, कृतज्ञ, मेदिनीपति, त्रिपद, दशाध्यक्ष, महाशृङ्ग, कृलान्तकृत, महावराह, गोविन्द, सुषेण, कनकाङ्गदी गुह्य, गम्भीर, गहन, गुप्त, चक्रगदाधर, वेधा, (विधाता) स्वाङ्गो, जित, कृष्ण, छन्द, सङ्कर्षण, अच्युत, वरुण, वारुण, वृक्ष, पुपराक्षु,

महामना, भगवान, भगत, नन्दी, वनमाली, हलायुध, आदित्य, ज्योतिरादित्य, सहिष्णु, गतिसत्तम, सुधन्वा, खन्डपरशु, दारुण, द्रविणप्रद, दिवधृक्, सर्वदृग, व्यास, वाचस्पति अयोनिज, त्रिसाया, सामज, साम, निवार्ण, भेषज, भिषक्, सयासकृत, शम, शान्त, निष्ठाशान्ति परायण मुभाङ्ग, शान्तिद, स्रश, कुमुद, कुवलेन्द्र, गोतित, गोप्त, वृषलाक्ष, विपप्रिय, अनिवर्ती, निद्रतात्मा, संक्षप्ता, क्षेमकृत, शिव, श्रीवत्सवक्षा, श्रीवास, श्रीपति, श्रीमतांवर, श्रोद, श्रीश, श्रीनिवास, श्रीनिधि, श्रीविभावना, श्रीधर, श्रीमन्, श्रेय, श्रीमान, लोकत्रयाश्रम, स्वज्ञ, स्वङ्ग, शतानन्द, नन्दि, ज्योति, गणेश्वर, विजितात्मा, विधेयात्मा, साकीर्ति, छिन्नसंशय, उदीर्ण, सर्वतश्चक्षु, अनीश, शाश्वत, स्थिर, भूशय, भूषण, भूति, विशोक, शोकनाशन, अर्चित्मान, अचिति, कुम्भ, विशुधात्मा, विशोधन, अनिरुद्ध, अप्रतिरथ, प्रद्युम्न, अदित, विक्रम, कालनेमिनिहा, वीर, शूर, शौरि, जनेश्वर, त्रिलोकराम, त्रिलोकात्मा, केशव, केशिहा, हरि कामदेव, कामपाल, कामी, कान्त, कृतागम, अनिर्देश्यवपु, विष्णु, वीर, अनन्त, धनञ्जय, ब्रह्मण्य, ब्रह्मकृत, ब्रह्मा, ब्रह्म, ब्रह्मविर्धन, ब्रह्मवित, ब्राह्मण, ब्रह्मी, ब्रह्मज्ञ, ब्राह्मणप्रिय, महाक्रम, महाकर्मा, महातेजा, महोरज, महाकुतु, महायज्ञ, महार्णव, स्तब्धा, स्तवप्रिय, स्तोत्र, स्तुति, स्तोता, रणप्रिय, पूर्ण, पूर्णयता, प्रणाम, पुण्यकीर्ति, अनामय, मनोजव, तीर्थङ्कर, वसुदेव, वसुप्रद, वासुदेव, वसु, वसुमना, हवि, सद्गति, सत्कृति, सत्ता, सद्भूति, सत्परायण शूरसेन, यदुश्रेष्ठ. सन्निवास, सुयामनु, भूतावास, वासुदेव, सर्वासुनिलय, अनल. दर्पहा, आप्त, दुर्धर, अपराजिता, विश्वमूर्ति, महामूर्ति' दीप्तमूर्ति, अमूर्तिमान्, अनेकमूर्ति, अव्यक्त, शतमूर्ति, शतानन, एक, अनेक, सवः, कः; यत्, तत्, अनुत्तमपद, लोकवन्धु, लोकनाथ, माधव, भक्तवत्सल, सुवर्णवर्ण, हेमाङ्ग, वरांङ्ग, चन्दनागदी, वीरहा, विषम, शून्य; घृताशी, अचल, चल, अमानी, मानद, मान्य, लोक स्वामी, त्रिलोकधृत, सुमेधा, मेधज, धन्य, सत्यमेध, धराधर,

तेज, वृप, द्युतिधर, सर्वशास्त्र, मृतांवर, प्रग्रह, निग्रह, व्यग्र, नैकशृङ्ग, गदाग्रज, चतुर्मूर्ति, चतुर्बाहु, चतुर्व्यूह चतुर्गति, चतुरात्मा, चतुर्भाव, चतुर्वेदविद, एकपाद, समावर्त, निवृतात्मा, दुर्जय, दुरतिक्रम, दुर्लभ, दुर्गम, दुर्ग, दुरावास, दुरारिहा, शुभाङ्ग, लोकसारंग, सुतन्तु, तन्तुवर्द्धन, इन्द्रकर्मा, महाकर्मा, कृतकर्मा, कृतागम उदभव, सुन्दर, सुन्द, रत्ननाभ, सुलोचन, अर्क, वाजसन, शृङ्गी, जयन्त, सर्ववित्, जयी, सवर्णविन्दु, अक्षोभ्य, सर्ववागीश्वरेश्वर, महाहृद, महागर्त्त, महाभूत, महानिधि, कुमुद, कुन्दर, कुन्द, परजन्य, पवन, अनिल अमृताश, अमृतवपु, सर्वज्ञ, सर्वतोमुख, सुलभ, सुवर्त, सिद्ध, शत्रुजित, शत्रुतापन, न्येग्रोध, उदुम्बर, अश्वत्थ, चाणूरान्ध्र, निपूदन, सहस्रार्चि, सप्तैधा, सप्तवाहन, अमूर्ति, अनद्य, अचिन्त्य, भयकृत्, भयनाशन, अणु, वृहत्, कृश, स्थूल, गुणभृत्, निर्गुण, महान्, अधृत, स्वधृता स्वास्य, प्राग्वश, वेशवर्द्धन, भारभृत्, कथित, योगी, योगेश, सर्वकामद, आश्रम; श्रमण, क्षाम, सुवर्ण, वायुवाहन, धनुर्धर, धनुर्वेद, दण्ड, दमयिता, दम, अपराजितः सर्वसह, नियन्ता, नियम, यम, सत्यवान्: सात्विक, सत्य, सत्यधर्म, परायण, अभिप्राय, प्रियार्ह, अर्ह, प्रियकृत, प्रियदर्शन, विहायसगति, ज्योति, सुरुचि, हुतिभुक, विभु, रवि, विरोचन, सूर्य, सविता, रविलोचन, अनन्त, हुतिभुक्, भोक्ता, सुखद, नैकज, अग्रज, अनिर्विराण, सदामर्षी, लोकाधिष्ठान, अद्भुत, सनात्, सनातनतम, कपिल, कपि, अव्यय, स्वास्तिद, स्वास्तिकृत, स्वस्ति, स्वस्तिभुक, स्वास्तिदक्षिण, अरौद्र, कुण्डली, चक्री, विक्रम्यूर्जित, शासन, शब्दातिग, शब्दासह, शिशिर, शर्वरीकर, अक्रूर, पेशल, दक्षिण, क्षमिणांवर, विद्वत्तम, वीतभय, पुण्यश्रवणकीर्तन, उत्तारण, दुष्कृतिहा, पुण्य, दुःस्वप्ननाशन, वीरहा, रक्षण, सन्त, जीवन, पर्यवस्थित, अनन्तरूप, अनन्तश्री, जितमन्यु, भयावह, चतुरस्त्र, गभीरात्मा, विदिशा, व्यादिश, दिश, अनादि, भू, भुवो, लक्ष्मी, सुवीर, रुचिराङ्गद, जनन, जन, जन्मादि, भीम, भीमपराक्रम, आधार, निलय,

धाता, पुष्पहास, प्रजागर, ऊर्ध्वर्ग, सव्यथाचार, प्राणद, प्रणव, प्रण, प्रमाण, प्राणनिलय, प्राणभृत, प्राणजीवन, तत्व, तत्ववित्, एकात्मा, जन्ममृत्युजरातिग, भूर्भव, तत्, तार, सविता, प्रपितामह, यज्ञ, यज्ञपति, यज्वा, यज्ञाङ्ग, यज्ञवाहन, यज्ञभृति, यज्ञकृत्, यज्ञी, यज्ञभुक्, यज्ञसाधन, यज्ञान्तकृत्, यज्ञगुह्य, अन्न, अन्नाद, आत्मयोनि, स्वयंजात, वैखान, सामगायन, देवकीनन्दन, सृष्टा, क्षितीश, पापनाशन, शङ्खभृत्, नन्दकी, चक्री, शार्ङ्गधन्वा, गदाधर, रथाङ्गपाणि, अक्षोभ्य, सर्वप्रहरणायुध, ॐ नमः इति ।

"जो व्यक्ति इस सहस्रनाम का पाठ व कीर्तन करते हैं, उनका इस लोक अथवा परलोक में सदैव शुभ ही होता है। इससे ब्राह्मण को वेद पारगत्व, क्षत्रिय की युद्ध विजय, वैश्य की व्यापार में सफलता और शूद्र को सुख की उपलब्धि होती है। धर्म की कामना करने वाले को धर्म लाभ, लक्ष्मी की इच्छा करने वाले को लक्ष्मी प्राप्ति, संतान की अभिलाषा वाले को संतति की प्राप्ति होती है।"

"इस सहस्रनाम का भक्ति पूर्वक पाठ करने वाले को महायश सम्पत्ति और सुख मिलता है। वह गुणी, तेजस्वी, स्वस्थ, वीर्यवान, कान्तिवान, रूपवान और बलवान होता है। रोगी यदि इस स्तोत्र का पाठ करे तो उसका रोग दूर हो जाता है। बन्धन में पड़ा व्यक्ति बन्धन मुक्त हो जाता है और दुःखी का दुःख छूट जाता है। जो व्यक्ति विष्णु का ध्यान करता है, उसके पाप समाप्त हो जाते हैं, उसका अन्तःकरण पवित्र हो जाता है और उसे परब्रह्म की प्राप्ति होती है। उनके भक्तों का कहीं अमङ्गल नहीं होता और न उनको व्याधि, मृत्यु और जरा सताती है।"

"सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, आकाश, दिशाएँ, पृथ्वी, महासागर यह सब उन्हीं के तपोबल से रुके हुए हैं। देव, दैत्य, यज्ञ, सर्प,

राक्षस, गन्धर्व और समस्त स्थावर जंगम जगत उनके इशारे पर काम करता है। मन, बुद्धि, इन्द्रियां, सत्व, तेज, बल, धैर्य, शरीर और आत्मा उनमें विष्णु के रूप हैं। योग, सांख्य, ज्ञान, विद्याऐं, शिल्पादि कर्म, वेद शास्त्र और विज्ञान सबका सृजन करने वाले वही विष्णु ही हैं। एक मात्र विष्णु ही अनेक रूपों को धारण कर त्रिलोकी में व्याप्त हो रहे हैं और सब भूतों के आत्मा हो सबको भोगते हैं। विष्णु अविनाशी हैं। विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश करने वाले भगवान विष्णु का ही भजन करते हैं, वह कभी परामर्प को प्राप्त नहीं होंगे।"

भीष्म पर्व, अध्याय ६८ में भीष्म ने भगवान विष्णु की स्तुति की और कहा कि पूर्वकाल में देवताओं और ब्रह्मर्षियों ने एक साथ मिल कर इनकी इस तरह स्तुति की थी :—

नारद ने कहा—"भगवन् ! आप देवताओं और साध्यों के प्रभु हैं। अन्य लोकों की वृद्धि करने और सबके मनकी बात जानने में समर्थ हैं।

मार्कण्डेय जी ने कहा—"आप भूत, भविष्यत और वर्तमान रूप हैं, आप यज्ञों के यज्ञ और तप के भी तप हैं।"

भृगु जी का कहना है—"आप देवताओं के भी देवता हैं।"

द्वैपायन जी का कथन है "आप वसुओं के वासुदेव हैं, इन्द्र को इन्द्रासन पर अवस्थित करने वाले हैं और देवताओं में परम देव हैं।"

कहते हैं कि प्रजा की सृष्टि के समय आप दक्ष प्रजापति थे। अंगिरा के अनुसार आप समस्त लोकों की रचना करने वाले हैं।

देवल की सम्मति है, "आपका शरीर और मन अव्यक्त और व्यक्त रूप है। आपने ही देवताओं को उत्पन्न किया है।"

असित का कहना है—"आपके सरसे आकाश है, भुजाओं से पृथ्वी व्याप्त है। तीनों लोक आपके उदर हैं। तपस्वियों का कहना है कि आपही सनातन पुरुष हैं।

आत्मदर्शी ऋषिगण आपको सत् का भी सत् स्वीकार करते हैं। आप उदार हैं युद्धक्षेत्र में कभी पीछे न हटने वाले और समस्त धर्मों में प्रधान राजर्षियों की परमगति हैं। सदा योग साधना में लीन सनत्कुमार आदि इस तरह भगवान की स्तुति किया करते हैं।

जो प्राणीमात्र के हृदय में सर्व व्यापक होकर निवास करते हैं, वे विष्णु भगवान ही एक मात्र शास्त्र हैं। उनके अतिरिक्त और कोई शास्त्र नहीं है। जिनका जीव मात्र के हृदय में निवास है, वे ही एक मात्र गुरु हैं। उनको छोड़ कर और कोई गुरु है ही नहीं। प्राणीमात्र के हृदय में निवास करने वाले विष्णु ही एक मात्र बन्धु हैं। इन्द्र ने उन्हीं परम गुरुदेव के पास रह कर अमरत्व प्राप्त किया है। वही एक मात्र द्रष्टा हैं। उनके अतिरिक्त और कोई द्रष्टा नहीं हैं।

(आश्वमेधिक पर्व, २६ अध्याय)

भगवान ने अपनी बिभूतियों का वर्णन करते हुए कहा है—"आदित्यों में मैं विष्णु नामक आदित्य हूँ।"

(भीष्म पर्व, ३४ अध्याय)

महाभारत में इस प्रकार विष्णु की महिमा का गान किया गया है जो उनकी श्रेष्ठता का द्योतक है।

• • •

स्मृति में विष्णु

१०

भारतीय धार्मिक साहित्य में 'स्मृतियों' को एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। धार्मिक बातों में वेद के बाद 'स्मृति' को ही मान्यता है। धर्म का श्रीगणेश जहाँ से हुआ है, उसमें स्मृति प्रमुख है। धर्म सूत्र के अनुसार धर्म का मूल है—वेद, स्मृति और सदाचार। अतः स्पष्ट है कि धर्म की मीमांसा में वेद के बाद स्मृति को ही प्रामाणिक माना जाता है। यह स्मृतियाँ ऋषियों की सार्वभौम मनोवैज्ञानिक कुशलता का परिचय देती हैं। वास्तव में स्मृतियों ने हमारे धार्मिक साहित्य को समृद्ध किया है। यदि यह न होतीं तो धार्मिक साहित्य दरिद्र ही कहा जाता। भारतीय सामाजिक सुव्यवस्था ने विश्व के इतिहास में जो अपनी श्रेष्ठता की धाक जमाई थी, उनका मूल कारण स्मृतियों द्वारा बनाए गए निश्चय ही थे।

स्मृतियों में विष्णु स्मृति अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है, क्योंकि सामाजिक सुव्यवस्था के लिए इसमें ठोस नियमों का निर्देश दिया गया है। इसमें भगवान विष्णु के वाराह अवतार सम्बन्धी निम्न सामग्री उपलब्ध होती है:—

ब्रह्मरात्र्यां व्यतीतायां प्रबुद्धे पद्मसम्भवे ।
विष्णुः सिसृक्षुर्भूतानि ज्ञात्वा भूमिं जलानुगाम् ॥ १

जलक्रीड़ारुचि शुभं कल्पादिषु यथा पुरा ।
वाराहमास्थितियोरूपमुज्जहार वसुन्धराम् ॥ २

वेदपादो यूपदंष्ट्रः क्रतुवक्त्र श्चितामुखः ।
अग्निजिह्वो दर्भरोमा ब्रह्मशीर्षो महातपाः ।। ३
अहोरात्रेक्षणो दिव्यो वेदाङ्गश्रुतिभूषणः ।
आज्यनासः श्रवस्तुण्डः सामघोषमहास्वनः ।। ४
धर्मसत्यमयः श्रीमान् क्रमविक्रमसत्कृतः ।
प्रायश्चित्तमयो वीरः प्रांशुजानुर्महावृषः ।। ५
उद्गात्रन्त्रो होमलिङ्गो बीजौषधिमहाफलः ।
वेद्यन्तरात्मा मन्त्रस्फिग्विकृतः सोमशोणितः ।। ६
वेदस्कन्धो हविर्गन्धो हव्यकव्यादिवेगवान् ।
प्राग्वंशकायो द्युतिमान् नानादीक्षाभिरन्वितः ।। ७

ब्रह्मा की रात्रि के समाप्त हो जाने पर और पद्म से समुत्पन्न होने वाले ब्रह्मा के ज्ञान से युक्त जागृत होने पर समस्त पृथ्वी को जल से पूर्ण जान कर भगवान् विष्णु को प्राणियों की सृष्टि करने की इच्छा उत्पन्न हुई ।।१।। पहिले कल्पादि की भांति जल की क्रीड़ा करने में रुचि रखने वाला शुभ वाराह (सूकर) का रूप धारण करके वसुन्धरा (पृथ्वी) का उद्धार किया था अर्थात् निम्न लोक में गई हुई जलमग्न पृथ्वी को ऊपर ले आये ।।२।। (इससे आगे कई श्लोकों में वाराह के स्वरूप का दिव्य वर्णन किया जाता है कि इस विष्णु के वाराह स्वरूप की क्या विशेषताऐं थीं) चार वेद उनके चार चरण थे, यूप दाढ़ थी, क्रतु वक्त्र और चिता मुख था, अग्नि ही जिह्वा थी, दर्भ रोम स्थानीय थे, ब्रह्म शीर्ष (मस्तक ! था और महान् तप वाला स्वरूप था ।।३।। अहोरात्र अर्थात् दिन और रात्रि उनका ईक्षण (नेत्र युग्म) था, वेदों के अङ्ग दिव्य श्रुति (कर्ण) भूषण थे । आज्य अर्थात् घृत नासिका थी, श्रुवा ही तुण्ड (मुख) था और सामवेद की ध्वनि ही उनका महान् घोर शब्द था ।।४।। धर्म और सत्य से पूर्ण स्वरूप था, शोभा से युक्त और क्रम-विक्रम के द्वारा सत्कार किये हुए थे । प्रायश्चित्त से

परिपूर्ण वीर, प्रांशु जानु (घुटनों) वाले और एक महान् वृष के समान स्वरूप था ।।५।। उद्गाता अन्न था, होम ही लिङ्ग था तथा बीज और औषधि के महान् फल वाला स्वरूप था। वेदी ही उनकी अन्तरात्मा थी मन्त्रों की स्फिक् की विकृति वाले थे और सोम ही शोणित था ।।६।। वेद वाराह का स्कन्ध था, हवि गन्ध था, हव्य-कव्यादि ही वेग थे। प्राग्वंश काया वाले थे, द्युति से युक्त और अनेक प्रकार की दीक्षाओं से युक्त थे ।।७।।

दक्षिणाहृदयो योगमहामन्त्रमयो महान् ।
उपाकर्मोष्ठरुचिरः प्रवर्ग्यावर्त्तभूषणः ।। ८
नानाच्छन्दोगतिपथो गुह्योपनिषदासनः ।
छायापत्नीसहायोऽसौ मणिशृङ्गइवोदितः ।। ९
महीं सागरपर्यन्तां सशैलवनकाननाम् ।
एकार्णवजलभ्रष्टामेकार्णवगतः प्रभु ।। १०
दंष्ट्राग्रेण समुद्धृत्य लोकानां हितकाम्यया ।
आदिदेवो महायोगी चकार जगतीं पुनः ।। ११
एवं यज्ञवराहेण भूत्वा भूतहितार्थिना ।
उद्धृता पृथिवी सर्वा रसातलगता पुरा ।। १२
उद्धृत्य निश्चले स्थाने स्थापिता च तथा स्व
यथास्थानं विभज्यापस्तद्गता मधुसूदनः ।। १३
सामुद्रयश्च समुद्रेषु नादेयाश्च नदीषुच ।
पल्ललेषु च पाल्लल्यः सरःसु च सरोवराः ।। १४

दक्षिणा वाराह अवतारी विष्णु का हृदय है, योग और महामन्त्रों से पूर्ण है, महान और उपाकर्म ही सुन्दर ओष्ठ वाले हैं। प्रवर्ग्या और आवर्त्त के भूषण वाले हैं ।।८।। अनेक प्रकार के छन्द ही उनकी गति का पथ हैं, गुह्य उपनिषद् आसन हैं। यह छाया रूपी पत्नी की सहायता वाले उदित मणि शृङ्ग के समान हैं ।।९।। इस प्रकार के उक्त

विशेषणों से विशिष्ट वाराह का अवतार धारण करने वाले प्रभु पर्वत, वनों के सहित समुद्र पर्यन्त समस्त भूमण्डल को, जो कि एकर्णव में जल में मग्न हो गया था, स्वयं आर्णव में (समुद्र के अन्दर) जाकर लोकों के कल्याण की कामना से दाढ़ के अग्रभाग से उठा कर ले आये और महान् योगी आदि देव ने फिर जगत् की रचना कर डाली ॥२०-११॥ इस प्रकार प्राणियों के हित चाहने वाले विष्णु भगवान् ने यज्ञ वराह होकर अर्थात् यज्ञ रूप वाराह का स्वरूप धारण करके पहिले रसातल में डूबी हुई पृथ्वी का उद्धार किया था ॥१२॥ रसातल से उस पृथ्वी मण्डल का उद्धार कर उसे अपने निश्चल स्थान पर स्थापित कर दिया। मधुसूदन भगवान् ने उस भूमि पर स्थित जो जलाशय थे, उनको भी विभक्त कर ठीक-ठीक स्थानों पर कायम कर दिया था ॥१३॥ जो जल समुद्र का था उसे समुद्रों में, नदियों के जल को नदियों में, छोटे पल्लवों के जल को पल्लवों में और सरोवर के जल को सरोवरों में स्थापित यथावत् कर दिया था ॥१४॥

पातालसप्तक चक्रे लोकाना सप्तकं तथा ।
द्वीपानामुदधीनाञ्च स्थानानि विविधानिच ॥ १५
स्थानपालांल्लोकपालान्नदीशैलवनस्पतीन् ।
ऋषींश्च सप्त धर्मज्ञान वेदान् साङ्गान् सुरासुरान ॥ १६
पिशाचोरगगन्धर्वयक्षराक्षसमानुषान् ।
पशुपक्षिमृगाद्यांश्च भूतग्रामं चतुर्व्विधम् ॥ १७
मेघेन्द्रचापसम्पातान् यज्ञांश्च विविधांस्तथा ।
एवं वराहो भगवान् कृत्वेदं सचराचरम् ॥ १८
जगज्जगाम लोकानामविज्ञातां तदा गतिम् ।
अविज्ञातां गतिं याते देवदेव जनार्द्दने ॥ १९
वसुधा चिन्तयामास का धृतिर्म्मे भविष्यति ।
पृच्छामि कश्यपं गत्वा स मे वक्ष्यत्यसंशयम् ॥ २०

मदीयां वहते चिन्तां नित्यमेव महामुनि, ।
एवं स निश्चयं कृत्वा देवी स्त्रीरूपधारिणी ।। २१
जगाम कश्यपं द्रष्टुं दृष्टवांस्ताश्ञ्च कश्यपः ।
नीलपङ्कजपत्राक्षीं शारदेन्दुनिभाननाम् ।। २२

अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल और पाताल इस तरह पाताल सप्तक की रचना की तथा भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महालोक, जनलोक और सत्य लोक इस तरह इन सात लोकों की सृष्टि की एवं द्वीपों की और अनेक सागरों की रचना की थी ।।१५।। स्थानपाल, लोकपाल, नदी, नद, पर्वत, वनस्पति धर्म के ज्ञाता सात विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज अत्रि, गौतम, कश्यप, वसिष्ठ, ऋषि वेद, वेदाङ्ग, सुर और असुर, पिशाच, उरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, मनुष्य, पशु, मृगादि चार प्रकार के (स्वेदज, उद्भिज, अण्डज, जरायुज) प्राणियों का समूह, मेघ, इन्द्र धनुष, विद्युत् और विविध प्रकार के यज्ञों की वराह भगवान् ने रचना कर इस चराचर जगत् का निर्माण किया और लोगों की अज्ञात गति से स्वयं चले गये। इस प्रकार उस अविज्ञात गति से देवों के देव भगवान वाराह अवतारी विष्णु के चले जाने पर सारी पृथ्वी सोचने लगी कि मेरी धृति क्या होगी ? उसने सोचा कि मैं कश्यप ऋषि के पास जाकर अपनी स्थिति के विषय में पूछूँ तो वे मुझे निश्चय ही सभी कुछ बतला देंगे ।।१६–२०।। महामुनि कश्यप नित्य ही मेरे विषय में विशेष ध्यान रखते हैं। ऐसा निश्चय करके वह पृथ्वी स्त्री का रूप धारण करने वाली देवी, कश्यप ऋषि से मिलने के लिये गई और कश्यप मुनि ने उनको देखा कि वह नील कमल के दलों के समान सुन्दर नेत्रों वाली और शरत्कालीन चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख वाली है ।।२१–२२।।

रूपयौवनसपपन्ना विनीतवदुपस्थिताम् ।
समीपमागता दृष्टा पूजयामास कश्यपः ।। २७

उवाच ता वरारोहे ! विज्ञातं हृद्गतं मया !
धरे तव विशालाक्षि ! गच्छदेवि जनार्द्दनम् ।। २८
स ने वक्ष्यत्यशेषेण भाविनी ते यथा स्थितिः ।
क्षीरोदे बसतिस्तस्य मया ज्ञाता शुभानने ।। २९
ध्यानयोगेन चार्वङ्गि तज्ज्ञानं तत्प्रसादतः ।
इत्येवमुक्ता सम्पूज्य कश्यपं वसुधा ततः ।।
प्रययौ केशव द्रष्टुं क्षीरोदमथ सागरम् ।। ३०
सा ददर्शमितर्निधिं चन्द्ररश्मिमनोहरम् ।
पवनक्षोभसंजातवीचीशतसमाकुलम् ।। ३१
हिमवच्छतसङ्काशं भूमण्डलमिवापरम् ।
वीचीहस्तैर्धवलितैराह्वयानमिव क्षितिम् ।। ३२

रूप और यौवन से युक्त, विनीत भाव वाले की तरह समीप उपस्थित होने वाली उस स्त्री स्वरूप वाली भूमिदेवी को देखा अ कश्यप ऋषि ने उसका पूजा-सत्कार किया ।।२७।। कश्यप ऋषि उ बोले—हे वरारोहे ! मैंने तुम्हारे हृदय में रहने वाला भाव जान लि है। हे विशाल नेत्रों वाली भूमि ! तुम जनार्दन भगवान के पास जा ।।२८।। वह तुम्हारी जो भी होने वाली स्थिति होगी सभी कुछ पूर्ण से बतला देंगे। मुझे यह ज्ञात हुआ है कि उनका निवास स्थान क्षी सागर में है। यह बात भी मैंने हे सुन्दर अङ्गों वाली ! अपने ध्य योग से और उनकी कृपा से जान पायी है। इस प्रकार से कही ज वाली पृथ्वी कश्यप ऋषि की पूजा कर केशव भगवान के दर्शन क के लिये क्षीर-सागर को गई ।।२९–३०।। उस भूमि ने अमृत के नि को चन्द्रमा की किरणों से परम सुन्दर और वायु के कारण होने व क्षोभ से बहुत-सी लहरों से समाकुल देखा ।।३१।। यहाँ क्षीर-सागर वर्णन किया जाता है कि वह किस प्रकार का था—वह अमृत की ख क्षीर-सागर सैकड़ों हिमवानों के समान दूसरे भू-मण्डल की त

था जो तरङ्ग रूपी हाथों से मानों भूमि को अपने निकट बुला रहा हो ॥ ३२ ॥

तैरेव शुभ्रतां चन्द्रे विदधानमिवानिशम् ।
अन्तरस्थेन हरिणा विगताशेषकल्मषम् ॥ ३३
तं दृष्ट्वा पुण्डरीकाक्षं ववन्दे मधुसूदनम् ।
जानुभ्यामवनीं गत्वा विज्ञापयति चाप्यथ ॥ ३४
उद्धृताहं त्वया देव ! रसातलतलङ्गता ।
स्वे स्थाने स्थापिता विष्णो ! लोचानां हितकाम्यया ॥३५
तत्राधुना मे देवेश ! का धृतिर्वै भविष्यति ।
एवमुक्तस्तदा देव्या देवो वचनमब्रवीत् ॥ ३६
वर्णाश्रमाचाररताः शास्त्रैकतत्परायणाः ।
त्वां धरे ! धारयिष्यन्ति तेषां तद्भार आहितः ॥ ३७
एवमुक्ता वसुमती देवदेवमभाषत ।
वर्णानामाश्रमाणाञ्च धर्मान् वद सनातनान् ॥ ३८
त्वत्तोऽहं श्रोतुमिच्छामि त्वं हि मे परमा गतिः ।
नमस्ते देव ! देवेश ! देवारिबलसूदनः ॥ ३९
आश्रमाचारसंयुक्तान् सरहस्यान् ससंग्रहान् ।
एवमुक्तस्तु देवेशः पुनः क्षोणीमभाषत ॥ ४०

वह उन्हीं धवलित तरंगों से चन्द्रमा में शुभ्रता कर रहा था । अन्दर भगवान के निवास करने से जिसके समस्त कल्मषों का नाश हो गया था ॥३३॥ कमल के समान नेत्र वाले उन भगवान मधुसूदन को देखकर अपने घुटनों के बल भूमि पर बैठ कर उनको प्रणाम किया और वह स्त्री स्वरूप वाली पृथ्वी भगवान से कहने लगी ॥३४॥ हे स्वामिन् ! आपने मेरा उद्धार किया और जल से ऊपर निकाल कर मुझे ले आये जब कि मैं एकदम नीचे रसातल में चली गई थी । हे विष्णो ! आपने मुझे अपने ठीक स्थान पर स्थापित कर दिया और लोकों के हित की

रक्षा की ॥३५॥ हे देवेश ! अब मेरी स्थिति क्या होगी ? यह मुझे बतलाइये। इस प्रकार पृथ्वी के द्वारा कहे जाने पर भगवान् विष्णु बोले ॥३६॥ हे पृथ्वी ! वर्ण और आश्रमों के आचार में प्रेम करने वाले, वर्णाश्रम धर्म को निवाहने वाले पुरुष तुझे धारण करेंगे। उनको ही इसका भार सौंपा गया है ।३७। इस प्रकार से जब भगवान विष्णु ने पृथ्वी से कहा तो वह पुनः भगवान से बोली—आप कृपा कर वर्णों और आश्रमों के सनातन धर्मों को बतलाइये ॥३८॥ हे देव देवेश्वर ! यह बात मैं आप से ही सुनना चाहती हूँ। आप ही मेरी परम गति हैं। हे देवों के शत्रुओं के बल को नष्ट करने वाले देव ! मेरा आपको नमस्कार है ॥३९॥ इस प्रकार पृथ्वी के द्वारा प्रार्थित भगवान रहस्यों के सहित तथा संग्रहों मे समन्वित आश्रमों के आचार एवं धर्मों को पृथ्वी को बताने लगे ॥४०॥

विष्णु स्मृति के शेष भाग में भगवान ने पृथ्वी को वर्णाश्रम धर्म का सुन्दर उपदेश दिया है। उसमें चारों वर्णों के धर्म, राजधर्म, अन्न हव्यादि शुद्धि धर्म, विवाह धर्म, स्त्री धर्म, दश संस्कार, गुरु, जीव हिंसा प्रायश्चित, नरक, चान्द्रायण-व्रत, वेद, गृहस्थाश्रम के कर्तव्य, ब्राह्ममुहूर्त के कृत्य, द्विजातियों के कर्तव्य, योग कर्म विधान, स्नान, देव पूजन, देव पित्र विधान, अग्नि स्थापन, इन्द्रिय निग्रह, श्राद्ध, दान, आदि विषयों का सांगोपांग वर्णन किया गया है। यह ऐसे सामाजिक नियम हैं जिनसे मानव विकास होता है और समाज में सुव्यवस्था बनी रहती है।

विष्णु स्मृति के प्रणेता ने यह मानव निर्माण के उपदेश भगवान विष्णु के मुख से कहलाए हैं। इससे स्पष्ट है कि विष्णु स्मृति काल में श्रेष्ठ देवता माने जाते थे और जन-साधारण पर उनका अच्छा प्रभाव था, तभी स्मृतिकार ने उनके माध्यम को चुना।

रामायण कथा का आधार ही भगवान विष्णु हैं। जब पृथ्वी लोक पर रावण के अत्याचार बढ़ गए तो देवताओं ने विश्व शान्ति की स्थापना के उद्देश्य से समस्या के समाधान के लिए प्रजापति ब्रह्मा से हस्तक्षेप करने के लिए निवेदन किया—"भगवन! रावण नामक राक्षस आप से वर प्राप्त करके जनता के लिए बहुत दुःखदायी सिद्ध हो रहा है। हम उसके पराक्रम को दबाने की सामर्थ्य नहीं रखते। आपने प्रसन्न होकर उसे वर दे दिया है। इसलिए उस वर का सम्मान करते हुए हम उसके अत्याचारों को सहते चले आ रहे हैं। उसने त्रिलोकी को परेशान कर रखा है। वह दुष्ट ऊँची स्थिति वालों से द्वेष करता है। वह देवराज इन्द्र को भी दबाना चाहता है। आपके वरदान से उसकी उद्दण्डता इतनी बढ़ गई है कि वह ऋषियों, यक्षों, गन्धर्वों, असुरों और ब्राह्मणों को कष्ट देता और अपमानित करता है। सभी देवता उससे डरते हैं। उसके पास जाकर सूर्य का ताप समाप्त हो जाता है। वायु तीव्र वेग से नहीं चलती और समुद्र भी स्तब्ध हो जाता है। वह देखने में अत्यन्त भयंकर लगता है। उससे हमें भय लगता है। आप उसके वध के लिए कोई उपाय सोचें।

(वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड, सर्ग १५, श्लोक ६-११)

देवताओं की प्रार्थना सुन कर ब्रह्मा जी ने कहा—"उस दुष्ट की मृत्यु का उपाय मैं जान गया। उसने यह वर माँगा था कि वह

... मारा जाए और मन इसकी स्वीकृति दे दी थी। मनुष्यों को वह हीन दृष्टि से देखता था। इसलिए उनसे अवध्य होने का वरदान नहीं माँगा। इस लिए वह मनुष्य के हाथों से ही मारा जाएगा। और कोई उसे मार नहीं सकता।" यह बात सुन कर ऋषि और देवता प्रसन्न हुए। उसी समय भगवान विष्णु भी गरुड़ पर सवार होकर आ गए। देवताओं ने उनकी स्तुति की और वह सभा में विराजमान हो गए। तब सभी देवताओं ने विनीत भाव से उनसे प्रार्थना की कि हम लोक कल्याण की इच्छा से आपके ऊपर कार्य भार डाल रहे हैं। अयोध्या के राजा दशरथ तेजस्वी, धर्मज्ञ और उदार वृत्ति के हैं। उनके ३ रानियाँ हैं। आप चार स्वरूप बना कर उन तीन रानियों से चार पुत्रों के रूप में अवतार ग्रहण कीजिए और विश्व को संताप देने वाले राक्षस-राज रावण को मनुष्य रूप धारण कर के मार डालिए। वह मूर्ख सभी के लिए बहुत कष्टदायक सिद्ध हो रहा है। उसने ऋषियों, गन्धर्वों आदि को स्वर्ग से भूमि पर गिरा दिया है। इसीलिए हम आपकी शरण में आए हैं। अब आपही हमारी परमगति हैं। अतः आप मनुष्य-लोक में अवतार लेने का निश्चय करें।" (श्लोक १२-२५)

देवताओं की प्रार्थना सुन कर भगवान विष्णु ने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा—"तुम्हें भयभीत नहीं होना चाहिए। मैं तुम्हारे कल्याण के लिए रावण को पुत्र, पौत्र, अमात्य, मन्त्री और बन्धु-बान्धवों सहित युद्ध में मार डालूंगा। देवों और ऋषियों को कष्ट देने वाले उस राक्षस का वध करके ११ हजार वर्षों तक इस पृथ्वी पर निवास करूँगा।" (श्लोक २८-२९)

हम देखते हैं कि भगवान ने अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण किया और अवतार लेकर राम के रूप में अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष

किया और असुरता का नाश किया। उन्होंने मनुष्य रूप में ऐसी मर्यादाएँ और आदर्श स्थापित किए जिनको आज भी भारतीय जनता अपना मार्ग दर्शक मानती आ रही है। राम कथा ने भारतीय जनता के हृदयों पर एक अमिट छाप ही नहीं डाली वरन् वह सारे दक्षिण पूर्व एशिया में व्यापक रूप से फैल गई और सारे विश्व के विद्वानों ने इसका अध्ययन, मनन और चिंतन किया और अपने देश की भाषा में इसका अनुवाद प्रकाशित करके गर्व का अनुभव किया। आज राम केवल भारत के ही आदर्श नहीं हैं वरन् वह सारे विश्व के बौद्धिक आकाश पर छाए हुए हैं। इसके मूल में भगवान विष्णु की ही झलक दिखाई देती है। रामायण में सर्वत्र वह चमकते हैं।

• • •

गीता में विष्णु १२

गीता में अवतारवाद का उल्लेख चौथे अध्याय में ज्ञान-कर्म संन्यास योग पर विचार करते हुए किया गया है। उसमें विष्णु के अवतार माने जाने वाले कृष्ण स्वयं अपने अवतार लेने का रहस्य बताते हैं। जब वह अर्जुन को बताते हैं "इस कर्मयोग का उपदेश मैंने विवस्वान (सूर्य) को दिया था, विवस्वान ने मनु को मनु ने इक्ष्वाकु को दिया। आज उसी परम्परा में यह योग तुझे बता रहा हूं "(४।१-३) तो अर्जुन ने शंका उपस्थित की कि आपका जन्म तो अभी हुआ है। और विवस्वान का इससे बहुत पहले हो चुका है। फिर मैं कैसे मान लूं कि आपने इस कर्मयोग का उपदेश पहले विवस्वान को दिया था।" (४।४)

इसके उत्तर में भगवान स्पष्ट करते हैं कि मेरे और तेरे अनेकों जन्म हो चुके हैं। उनके सम्बन्ध में मुझे तो पूरी जानकारी है परन्तु तू उन्हें नहीं जानता "(४।५)। अपने मूल तत्व का निरूपण करते हुए। भगवान फिर कहते हैं "मैं समस्त प्राणियों का स्वामी और जन्म विरहित हूं, मेरे आत्मस्वरूप में कभी भी विकार उत्पन्न नहीं होता फिर भी मैं अपनी प्रकृति में अधिष्ठि हो माया से जन्म लिया करता हूं" (४।६)। अपने अवतार लेने के उद्देश्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए भगवान कहते हैं कि "जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म की शक्ति बढ जाती है। तब-तब मैं मनुष्य रूप में जन्म लेकर अवतार लिया करता हूं" (४।७) मेरे अवतार ग्रहण करने का उद्देश्य

साधु वृत्ति के व्यक्तियों का संरक्षण और दुष्टों का नाश होता है। मैं धर्म की स्थापना के लिए ही जन्म लिया करता हूँ।" (४।८)

हम देखते हैं कि भगवान ने स्वयं व्यवहारिक रूप में इस उद्देश्य की पूर्ति की। कंस जैसे निरंकुश अत्याचारी राजा को छोटी आयु में ही परलोक भेजा जरासंध के वर्बरता पूर्ण व्यवहार से हजारों कैद राजाओं को छुटकारा दिलाया पाण्डवों जैसे साधु वृति के व्यक्तियों का पक्ष लेकर (जो केवल कौरवों से ५ ग्राम की भूमि लेकर ही संतुष्ट हो रहे थे) अन्यायी कौरवों का विरोध किया और उनके नाश की व्यवस्था की। इस तरह से उन्होंने सारे जीवन में दुष्टों का नाश और साधुता का संरक्षण किया है।

अर्जुन के माध्यम से भगवान ने गीता रूपी ऐसा अमृत पिलाया है जिससे अमरपद की प्राप्ति निश्चित है। दैनिक व्यवहारों में यह हमारे भक्ति दर्शन का काम करती है। आरम्भ में ही भगवान ने संघर्ष करने की प्रेरणा दी है। अर्जुन के मन में अनेकों प्रकार के द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं। वह जीवन से निराश हो जाते हैं। संघर्ष से डरते हैं। चिन्तायें उन्हें घेरती हैं। वह जीवन युद्ध से अलग होने की योजना वनाते हैं। अर्जुन जैसी परिस्थितियाँ हर व्यक्ति के जीवन में आती हैं, जो भयावने रूप में उसे निराशाजनक स्थिति में ला देती है। वह जीवन से परेशान हो जाता है। भगवान इसी जीवन दर्शन का निरूपण अर्जुन के माध्यम से करते हैं। उसे समझाते हैं। कि संघर्ष ही जीवन है और आलस्य ही मृत्यु है। सक्रियता ही विकाश का हेतु है, यही शक्ति और सिद्धि का मूल है। निठल्लेपन से वृहद् शक्तियाँ भी कुण्ठित और सीमित हो जाती हैं। संघर्ष एक तपश्चर्या है जिसकी अग्नि में तपकर मनुष्य सोने की तरह चमकता है। तपने से ही चमक आती है, उसी से दृढ़ता वढ़ती है। जो व्यक्ति आग में तपना नहीं चाहता, कठिनाइयों और बाधाओं से जूझना नहीं चाहता, वह हर समय असफलता अवनति, भय

और निराशा के ही दर्शन करता है। वैभव, सम्पदा यश, प्रगति सब कुछ संघर्ष से मिलता है। इसलिए भगवान ने निराशा में डूबे विश्व को संघर्ष का महामंत्र दिया है कि वह कर्म को अपना कर्तव्य समझकर करता चला जाए, उसमें आसक्ति न करे, उसके फल की आशा न करे तभी दु:खों से दूर होगा।

जब अर्जुन बन्धु बान्धवों को मारने की अपेक्षा भीख माँग कर जीवन निर्वाह करना अधिक श्रेयस्कर समझता है और उनके खून से अपने हाथ रंगना नहीं चाहता है, भगवान ने उसे जीवन और मृत्यु का दर्शन समझाया है। भगवान ने कहा—

जीवन और मृत्यु की व्याख्या—

"मृत्यु का अर्थ नाश नहीं है। इसका वास्तविक अर्थ तो यह है कि जीव एक शरीर छोड़कर दूसरा उपयुक्त शरीर धारण कर लेता है। जिस तरह कोई व्यक्ति पुराने और जीर्ण-शीर्ण कपड़ों को त्याग कर नये वस्त्र ग्रहण कर लेता है, उसी तरह शरीर का स्वामी आत्मा पुराने शरीर को छोड़ कर नये-नये शरीर धारण करता है।"

महाभारत (शान्ति पर्व १५।१६) में इस प्रकार समझाया गया है कि आत्मा एक घर त्याग कर दूसरे घर में प्रवेश करती है। एक अमरीकन लेखक ने इसे यूं व्यक्त किया है कि यह पुस्तक की पुरानी जिल्द तोड़कर नई जिल्द बाँधना है।

भगवान ने कहा—"यह शरीर का स्वामी आत्मा नित्य, अविनाशी और अचिंत्य है" (गीता २ । १८) "यह किसी से मारे जाने वाला नहीं है" (२ । १६)। "इसको शस्त्रों से काटा नहीं जा सकता, इसे अग्नि से जलाया नहीं जा सकता, इसे पानी से भिगोया या गलाया नहीं जा सकता और वायु से सुखाया नहीं जा सकता" (२।२३)। इसकी रक्षा

ऐसे यन्त्र करते हैं जिन पर इस जगत की किसी वस्तु का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। यह ऐसा अदृश्य तत्व है जो सदैव एक-सा बना रहता है, जिसकी वृद्धावस्था और नाश कभी नहीं होता जिसमें किसी प्रकार का कोई भी परिवर्तन नहीं होता। "इससे सम्बन्धित शरीर का वध भी हो जाय तो यह मारा नहीं जाता" (गीता २।२०)। यह अज, नित्य, शाश्वत और पुरातन है।

अर्जुन को पुनः भगवान ने आश्वासन दिलाया कि "तुम अमर आत्मा हो तुम्हारा कभी जन्म नहीं हुआ है। अतः तुम्हारी कभी मृत्य भी नहीं होगी' (गीता २। २०) तुम्हारा जीवन स्वतंत्र और शाश्वत है। तुम्हें केवल अनुभूति मात्र करना है। तुम अज्ञान की जंजीरों से जकड़े हुये हो। केवल इन बन्धनों को खोलना ही है। इन बन्धनों से मुक्त होकर तुम अपने वास्तविक स्वच्छ और पवित्र रूप को देखोगे। उस रूप के दर्शन होने पर तुम सदैव शाश्वत आनन्द की मस्ती में झूमते रहोगे। अतः अपने को शरीर मानना छोड़ दो। शरीर नाशवान और अनित्य है" (गीता २। १८) उसकी प्रकृति में उत्पत्ति, स्थिति और लय ओत-प्रोत है उसका नाश अश्वयमभावी है। यदि उससे घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़े रहोगे तो भय, दुःखों और चिन्ताओं का आना भी निश्चित है। उसे केवल आत्मा का औजार मात्र मानोगे तो सदैव सुखी रहोगे और इसके वियोग का भय भी नष्ट हो जायगा।

जब आत्मा अजर, अमर और नित्य है तो यह शोक किसका ? शरीर तो नाशवान् और अनित्य है। उसे तो एक दिन नष्ट होना ही है। नष्ट होना तो उसका स्वभाव ही है। शरीर के स्वाभाविक कर्म पर शोक करना व्यर्थ है और अज्ञानता का परिचायक है—भगवान अर्जुन को समझाते हैं कि "सुख-दुःख देने वाले बाह्य सृष्टि के पदार्थों के इन्द्रियों से जो संयोग हैं, उनकी उत्पत्ति होती है और नाश होता है। अतएव वह अनित्य व नाशवान हैं। अतः उनको सहन कर" (गीता २। १४)।

इसलिए ज्ञानी पुरुषों की पहिचान यही बताई गई है कि वह नाशवान् शरीर के वियोग पर शोक नहीं करते (गीता २ । ११) । इन अनित्य पदार्थों से होने वाले सुख-दु:ख से जो ज्ञानी प्रभावित नहीं होता उसी को अमृतत्व की उपलब्धि होती है" (गीता २ । १५) केवल सिद्धान्त को जानना पर्याप्त नहीं है, उसे व्यवहार में लाना अनिवार्य है । आत्मा के सिद्धान्त को व्यवहार में लाने से ही मृत्यु के डर से मुक्त हुआ जा सकता है । क्योंकि यदि ज्ञानी यह मानता है कि "शरीर में निवास करने वाला शरीर के स्वामी आत्मा का किसी भी स्थिति में वध करना असम्भव है तो उसका शोक किस प्रकार का ?" (गीता २ । ३०) भगवान एक और तर्क भी देते हैं "यदि यह भी मान लिया जाय कि यह आत्मा नित्य नहीं है और शरीर के साथ ही इसका नाश हो जाता है तो भी शोक करने का कोई कारण नहीं दिखाई देता क्यों कि जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु निश्चित है और जो मर गया है, उसका जन्म लेना निश्चित है । अत: इसका शोक करना व्यर्थ है" (गीता २ । २६, १७) शोक उसका होता है जो पुन: प्राप्त न हो । जीव एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण कर लेता है । इस लिए "एक देह छोड़कर दूसरी देह प्राप्त हो जाया करती है । अत: ज्ञानी पुरुष उसमें मोह नहीं करता" (गीता २ । १३) ।

जो व्यक्ति इस ज्ञान को अपने व्यवहारिक जीवन में उतार लेता है, उसका मन सदैव आशा और विश्वास से ओत: प्रोत रहता है । वह निरंतर संघर्ष रत रहने को अपने जीवन का लक्ष्य बनाता है । वह सोचता है कि उसका कोई भी कार्य व्यर्थ नहीं जाता । जो कार्य अब अधूरा रह गया है, उसको अगले जन्म में पूरा कर लूंगा, कर्तव्य की सीढ़ी पर चढ़ कर निरंतर ऊपर उठाए रहूँगा ।

भगवान अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करने की प्रेरणा देते हैं। उसे सुनने को पाप समझते हैं । कर्म योग की अपूर्व

शिक्षा देते हैं। यज्ञीय जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देते हैं और स्वार्थी को पापी और चोरों की संज्ञा देते हैं। गीता के ७०० श्लोकों में भगवान ने अर्जुन को सभी कल्याणकारी उपदेश दिए उनका सार यह है कि हमें अपने जीवन का उच्चतम लक्ष्य निर्धारित करना चाहिये और उसकी पूर्ति के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए। असफलताओं से निराश नहीं होना चाहिए। सदैव आशा और विश्वास के साथ डटे रह कर अपना कार्य करते रहना ही सफलता का मार्ग है। भगवान जब मन में अवतरित होते हैं तब भी मन को ढाढ़स बंधाने को यही उपदेश देते हैं। हर मन में अर्जुन और कृष्ण का संवाद होता है। जो उस पर ध्यान देता है, वही लाभ उठाता है।

भगवान विष्णु ने कृष्ण के रूप में अवतार लेकर एक महानतम कार्य का सम्पादन किया, यही उनके मतानुसार उनका लक्ष्य है। इस रूप में उन्होंने गीता के रूप में ऐसा ज्ञान रत्न संसार को दिया है जिस की आभा युगों-युगों तक स्थिर रहेगी और जीवन जीने की कला का प्रकाश देती रहेगी

• • •

बौद्ध सिद्ध साहित्य पर वैष्णव धर्म का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। उनके वज्रयानी तंत्रग्रंथों, जातकों और महायान बौद्ध सूत्रों में विष्णु के अवतारों, राम, कृष्ण, वराह और हयग्रीव आदि का उल्लेख मिलता है। श्री गोकुलदासजी ने इस सम्बन्ध में अच्छा अध्ययन किया है। उन्होंने अपनी पुस्तक "सिगनीफिकेंस एण्ड इम्पोरटेंस आफ जातक" में सिद्ध किया है कि चूंकि भक्ति-तत्व भागवत का मूलाधार है और गृहस्थों के लिए स्वर्ग और संन्यासियों के लिए मोक्ष का वर्णन हुआ है, उसी तरह महायान ग्रंथों और जातकों में भी इन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है जो उनकी अपनी नहीं भागवत-धर्म की देन है।

वैष्णव धर्म का यह विश्वास है कि जब-जब धर्म को हानि होती है और साधु पुरुषों पर संकट आता है, भगवान दुष्टों के नाश और साधु वृत्ति के व्यक्तियों के संरक्षण के लिए युग-युग में अवतार ग्रहण करते हैं। विष्णु की यह अवलोकितेश्वर भी करोड़ों बौद्धों के रूप में सैकड़ों कल्पों में विश्व कल्याण के लिए अवतार लेते हैं। बुद्धधर्म के अनुसार वह ईश्वर, महेश्वर, बौद्ध, बोधिसत्व, कुबेर, पिशाच, सेनापति, ब्राह्मण, यक्ष, गन्धर्व, इन्द्र, ब्रह्मा, चक्रवर्ती, श्रावक आदि रूप ग्रहण करते हैं। तिब्बत के बौद्ध धर्म में वह पितृ देवता माने गये हैं।

वैष्णव धर्म में चौबीस अवतारों की मान्यता है। संख्याबद्ध बुद्धों में भी चौबीस बुद्धों का वर्णन मिलता है। वैष्णव धर्म के अवतारों

में व्यास, कपिल आदि का नाम आता है। महायान सूत्रों की तरह लंकावतार सूत्र में जो शाक्य सिद्धार्थ के अवतारों की सूची दी गई है उस में भी व्यास और कपिलाद का नाम आता है। नारायण विष्णु, वासुदेव के अवतारों की चर्चा भागवत में है। लंकावतार सूत्र में कहा है कि बुद्ध के असंख्यों अवतार होंगे और वह अज्ञान का पर्दा हटाकर ज्ञान का प्रकाश करेंगे। गीता की परम्परा के अनुसार इसमें भी लिखा है कि बुद्ध धर्म की हानि देख कर अवतार लेते हैं और युग-युग में धर्म की संस्थापना करते हैं। भागवत की तरह लंकावतार सूत्र में भी सत्ययुग, द्वापर, त्रेता और कलियुग की बात कही गई है।

सेनर्ट और पुसिन अपनी पुस्तक "दी एज आफ इम्पीरियल यूनिट" में लिखते हैं कि भागवत और बौद्ध धर्मों में समानता है। महायान ग्रंथों में गीता का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। विष्णु-पद की तरह बौद्ध धर्म में बुद्ध के पद-चिन्हों की पूजा प्रचलित हुई। नारायण पूजा ने भी बौद्ध सिद्धान्तों को प्रभावित किया है। "बोधिसत्व" पुस्तक में सद्धर्म पुंडरीक पर गीता के प्रभाव को स्वीकार किया गया है।

घट-जातक में कृष्ण का कंस को मारना और द्वारका चले जाने की कथा आती है। कुणाल जातक में कृष्ण द्वारा द्रौपदी की रक्षा करने का वर्णन है। दीघ निकाय १। ३ में कृष्ण को एक ऋषि के रूप में वर्णित किया गया है।

विष्णु के प्रसिद्ध दशावतार माने जाते हैं। बौद्ध साहित्य में भी इस परम्परा का अनुकरण किया गया है। 'धर्म पूजा विधान' में बुद्ध को महा विष्णु कहा गया है। 'शून्य पुराण' में उन्हें नारायण का अवतार स्वीकार किया गया है।

अवलोकितेश्वर में विष्णु की मूर्तियों का अनुकरण किया गया है। विष्णु की चतुर्भुज मूर्ति प्रसिद्ध है जिसके हाथों में वह शंख, चक्र,

कमल और गदा धारण किए रहते हैं। "इम्पीरियल कन्नौज" पुस्तक के अनुसार अवलोकितेश्वर की मूर्ति भी चतुर्भुज है। उसके एक ओर सुखमाला और दूसरी ओर हयग्रीव हैं। उनके हाथ में कमल है।

ललितविस्तर में बुद्ध को नारायण का अवतार माना गया है। नरसिंह अवतार का भी उल्लेख है। लंकावतार सूत्र में कृष्ण और राम का वर्णन किया गया है।

सिद्धों का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है—सेकोद्देशटीका। उसमें वज्र लक्ष्मी और "वज्रविष्णवे नमः" का उल्लेख है और वाराही, लक्ष्मी, नारायणी का भी वर्णन है।

बौद्ध धर्म में जो मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं, उनके हयग्रीव की मूर्तियों की समानता विद्वानों ने विष्णु के अवतार हयग्रीव से की है। "दी एज आफ इम्पीरियल कन्नौज" के लेखक ने सिद्ध किया है कि चूंकि बौद्ध धर्म की हयग्रीव मूर्ति में हयमुख है और उस मूर्ति के हाथों में आयुध है, उससे पता चलता है कि विष्णु के हयग्रीव से इसकी समानता है। 'साधन माला' में हयग्रीव की पूजा उपासना की महिमा का वर्णन किया गया है वह भी वैष्णव अवतारों की परम्परा के अनुकूल है, क्यों कि 'साधन माला' में कहा गया है "जो हयग्रीव की पूर्ण रूप से उपासना कर लेता है, वह विद्या धरों के लोक को प्राप्त होता है और वहाँ सब तरह के आनन्द भोगता है। उस लोक में देवराज इन्द्र उसके छत्रपति, ब्रह्मा मंत्री और विष्णु प्रतिहार के रूप में होंगे। उसके चारों ओर देवता ही देवता होंगे। शंकर उसके गुणों को प्रदर्शित करेंगे।"

लंकावतार सूत्र में बुद्ध की दिव्य वाणी का विस्तृत वर्णन है। उसमें कहा गया है कि बुद्ध के हृदय में श्रीवत्स शोभा देता है। स्मरण रहे यह विष्णु का प्रसिद्ध चिन्ह है। इसी ग्रंथ में बुद्ध ने अनेकों पौराणिक

देवताओं-सोम, सूर्य, राम, व्यास, कपिल, इन्द्र, वलि, वरुण के साथ विष्णु को भी अपना रूप माना है। इस ग्रन्थ में यह भी कहा है कि बुद्ध के बाद विष्णु, व्यास आदि दार्शनिक अवतार लेगें।

ललित विस्तर में नारायण और विष्णु को स्मरण किया गया है, नारायण से एक रूपता स्थापित की गई है और बुद्ध को नारायण की उपाधि दी गई हैं। उन्हें नारायण के सदृश शक्तिशाली सिद्ध किया गया है। और नारायण की तरह अभेद्य और अच्छेद्य की संज्ञा दी गई है, साक्षात् नारायण का अवतार ही घोषित किया गया है।

इसके अतिरिक्त "सुखावती" में भी नारायण वज्र का वर्णन है और उसका पर्याप्त गुणगान किया गया है।

बौद्धों के महायान और वज्रयान दोनों सम्प्रदायों में मंजुश्री को श्रेष्ठ देव माना गया है, उनके अनेकों रूपों की चर्चा है। उनसे सम्बधित अनेकों मंत्रों का प्रयोग होता है। उन्हें बुद्धि देने वाला देव स्वीकार किया गया है। मंजुश्री कल्प में बुद्ध का वाल्यवतार माना गया है। 'साधन माला' में मंजुश्री का स्वरूप विष्णु से मिलता जुलता है। उनकी मूर्ति में वज्र और खड्ग के साथ कमल और चक्र हैं जो विष्णु मूर्ति के प्रसिद्ध अंग हैं। मंजुश्री मूलकल्प में भी मंजुश्री बुद्ध को विष्णु के चिह्नों को ग्रहण करते दिखाया गया है। मंजुश्री जीवों में विष्णु स्वरूप वताए गए है। मंजुश्री कुमार की एक मूर्ति वाराह रूप में वनाई गई है। इस मंत्र में विष्णु से सम्वन्धित गरुड़ और चतुर्भुज शब्दों का खुला प्रयोग हुआ है।

सिद्ध साहित्य में विष्णु के जगन्नाथ रूप को काफी महत्व दिया गया है। उन्हें गुरु रूप में नमस्कार किया गया है और स्तुति की गई है। बोधिचर्यावतार में बुद्ध को जगन्नाथ कहा गया है। यहां जगन्नाथ

का शक्ति शाली देव के रूप में अभिहित किया है। उन्हें विश्व की रक्षा का भार ग्रहण करने वाला, मोक्ष और निर्वाण का देने वाला और समस्त दुःखों को हरण करने वाला बताया गया है। "ज्ञान सिद्ध" में उन्हें सर्व बुद्धिमय की संज्ञा दी गई है।

उपरोक्त तथ्यों से बौद्धों के 'सिद्ध साहित्य' में विष्णु की छाप परिलक्षित होती है। यह अनुकरण उस समय वैष्णव भक्ति के व्यापक प्रसार का द्योतक है।

• • •

जैन साहित्य में विष्णु १४

वैष्णव धर्म इस देश का एक व्यापक धर्म रहा है। अतः अन्य धर्मों के सम्प्रदायों पर भी इसकी छाप पड़ी है। बौद्ध साहित्य की तरह जैन साहित्य भी इससे प्रभावित हुआ है । जैन प्रबन्ध काव्यों और पौराणिक साहित्य में विष्णु और उनके अवतारों का उल्लेख विभिन्न रूपों में आता है ।

पुष्पदंत के महापुराण में ऋषभादि तीर्थंकरों को विष्णु से तद्रूपता दिखाई गई है। राम और कृष्ण के अवतारी रूप इतने प्रचलित हो गए थे कि अनेकों स्थलों पर उनको अवतार ग्रहण करते बताया गया है।

महापुराण में ऋषभ को सम्बोन्धित करते हुए प्रार्थना की गई है कि—" वह वराह के रूप में पृथ्वी का उद्धार करने वाले हैं " (१।१७।५।१०)। वह गोवर्धन उठाने वाले हैं (३।८५।१६, छता १६)। वे मधु का वध करने वाले मधुसूदन और त्रिलोकी के स्वामी हैं (१।१०।५।१४) उन्हें श्री और पृथ्वी का पति कहा गया है (२।३८।१८।१०) इन्हें विष्णु की पत्नियाँ माना जाता है । संभवनाथ को पृथ्वी का समुद्धारक कहा गया है (२।४०।७।८) एक तीर्थंकर को गोपाल नाम दिया गया है (२।४८।१०।८) एक तीर्थंकर लक्ष्मी को शरीर में धारण करते हैं (२।४४।२।३)।

एक कथा में विजय और त्रिसृष्ट को नारायण, पुरुषोत्तम और धरणीधरादि नामों से स्मरण किया गया है (५१।१३।१५,५१।१४।७-८)।

त्रिपृष्ठ जब अश्वग्रीव से युद्ध करने के लिए तत्पर होते हैं तो देवियाँ उन्हें कामोदि की नामक गदा, शार्ङ्गधनुष, पंच जन्य शंख, और कौस्तुभ मणि देती हैं (५२।६।१५, ५२।६।१-३) स्पष्ट रूप से यह आयुध पौराणिक विष्णु के माने गये हैं।

"तिलोयपण्णत्ति" पुस्तक महापुराण से भी पूर्व की बनी हुई है। इसमें नौ वासुदेवों को विष्णु कहा गया है। पद्मानंद महाकाव्य में भी यही बात कही गई है (८।१।७५)। इसके अतिरिक्त जरासंध, अश्वग्रीव, मधु, वलि, निशुंभ, प्रह्लाद आदि वासुदेवों को भी प्रतिविष्णु और विष्णुमध्य कहा गया है (८।१।७६)।

विष्णु के अवतारों वामन, नरसिंह, कूर्म, वराह आदि अवतारों की कथाऐं, जैन साहित्य में उपलब्ध होती हैं। जैनों के विष्णु पुराण (२३७।३-३-८) में विष्णु के वामनावतार की कथा आती है। पुराणों में विष्णु इन्द्र को राज्य वापिस दिलाने के लिए ३ पग भूमि माँगने के लिए बौने ब्राह्मण ब्रह्मचारी का रूप धारण करते हैं। वहाँ वह ध्यानस्थ जैन मुनियों के लिए ३ पग भूमि माँगते हैं। पुराणों में वामन अपने-तीन पगों से सारी त्रिलोकी को नाप लेते हैं और तीसरा पैर रखने के लिए कोई स्थान नहीं मिलता तो वलि अपना सर नीचे कर देते हैं जिससे वह पाताल को चले जाते हैं। हरिवंश पुराण (२३८।२०।५१-५३) के अनुसार वामन ने एक पग मेरु पर्वत की चोटी पर रखा और दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर। जब तीसरा पग रखने को कोई स्थान नहीं दिखाई दिया तो वह आकाश में चक्कर काटने लगा।

'लीलावई कहा' में हिरण्यकशिपु का वध करने वाले विष्णु को याद किया गया है। इससे नरसिंहावतार का आभास होता है। "णायकुमार चरित्त" में विष्णु वराह रूप धारण करते हैं और पृथ्वी के उद्धारक रूप में चित्रित किए गए हैं (१।४।८)। पुष्पदंत के

महापुराण (१-१२-५,१०) में भी विष्णु के वराह रूप की कथा आती है। यहाँ भी उन्हें पृथ्वी का उद्धार करने वाला दिखाया गया है। 'पद्म चरित्र' (१, १०, २) में विष्णु के कूर्मावतार की कथा आती है। यहाँ भी वह पृथ्वी धारण करते हैं।

रामदूत हनुमान को जैन पुराणों में बीसवें कामदेव के नाम से स्मरण किया गया है। श्री कृष्ण पुत्र प्रद्युम्न को वैष्णव पुराणों में कामदेव का अवतार माना गया है। महापुराण (२।७३।८।६) में भी उनको यही स्थान दिया गया है।

पुराणों में विष्णु के २४ अवतार माने जाते हैं। जैन साहित्य में २४ तीर्थंकर स्वीकार किए गए हैं। भागवत (१।२।५, २।६।४१-४५) में विष्णु के अनंत अवतारों की बात आई है। इसके अनुकरण पर जैनों के महापुराण पर (८।४) में भी पुष्पदंत ने भूत भविष्य में अवतीर्ण हुए और आगे आने वाले जिनों की संख्या को अनंत की संज्ञा दी है।

कपिल को पौराणिक २४ देवताओं में माना जाता है। महापुराण में इन्हें मणिकेतु रूप में चित्रित किया गया है। सनत्कुमार भी पौराणिक अवतारों की सूची में हैं। उन्हें चौथे चक्रवर्ती के रूप में स्मरण किया गया है।

भगवान कृष्ण की जो लीला कथाऐं पुराणों में मिलती है, वह कुछ परिवर्तित रूप में जैन साहित्य में उपलब्ध होती हैं। महापुराण (३।८५।१७।११-१२) में जो कृष्ण-कथा कही गई है, उसमें उन्हें शेषशायी, धर्नुधारी और शंख बजाने वाला कहा गया है। जब कंस को कृष्ण का इस प्रकार का परिचय मिलता है तो वह उनसे अपनी पुत्री के विवाह का प्रस्ताव करते हैं (८५।१८।६-१०) और कृष्ण उसे स्वीकार कर लेते हैं (८५।२२-२४) भागवत में कृष्ण तो कंस के

घोर शत्रु हैं और उसका वध करते हैं। इतना परिवर्तन जैन-साहित्य में कृष्ण कथा का किया गया है परन्तु कृष्ण-कथा को महत्वपूर्ण समझते हुए उसे गृहीत अवश्य किया गया है।

जैन साहित्य में ६३ महापुरुषों को वन्द्य माना गया है, उनमें नौ वलदेव, नौ वासुदेव और नौ प्रति-वासुदेवों का नाम भी आता है। इनकी कथाऐं भी पौराणिक अवतारों से अर्जित की गई हैं। प्रथम त्रिषष्ट वासुदेव को विष्णु और नारायण कहा जाता है। इन वासुदेवों और प्रति वासुदेवों का आधार कृष्ण और वलराम ही हैं। कृष्ण से स्थायी सम्पर्क स्थापित करने के लिए कृष्ण और बलदेव की पहले जन्मों में जैन मुनि होने की घोषणा की गई है। दूसरे जन्म में उन्हें मुनिद्वय वलदेव कृष्ण के रूप में अवतार ग्रहण करते दिखाया गया है। (हरिवंश ८४।८।१८) एक अन्य स्थान पर (८५।८) उन्हें विष्णु वामन का अवतार माना गया है।

जैन साहित्य के आदि महाकवि स्वयम्भू ने "पउम चरिउ" में राम लक्ष्मण कथा का विस्तृत विवेचन किया है। उनका अवतार लेना उन्हें भले ही अभीष्ट न हो परन्तु रामायण के विभिन्न स्थलों को उन्हें लेना ही पड़ा है। इस प्रबन्ध काव्य में राम-लक्ष्मण को हरि हलधर का अवतार वताया गया है। स्वयम्भू ने राम और लक्ष्मण को वलदेव और वासुदेव के रूप में चित्रित किया है। सीता स्वयंवर की कथा भी इसमें आती है जिसमें राम और लक्ष्मण को 'वलराम-हरि' कहा गया है। इस कथा को कवि ने पूरा जैनी रंग चढ़ाया प्रतीत होता है। उन्हें जैन धर्म का मानने वाला तो कहा ही गया है। उसके अतिरिक्त उन्हें जैन धर्म का प्रचारक भी वताया गया है। उनसे जैन धर्म मानने वालों को पुरस्कार भी दिलाए गए हैं। कहीं-कहीं रामायण कथा को ज्यों का त्यों भी लिया गया है। रामायण में उनके अवतार धारण करने का उद्देश्य असुरों और राक्षसों का नाश

रहा है और वही उन्होंने इस रूप में किया भी है। स्वयम्भू कवि ने 'पद्म चरित्र' में राम और लक्ष्मण को असुरारि कहा है (१६।६।१०२)। एक अन्य स्थान पर (३१।१५।६-७) दोनों का लक्ष्य असुरों का संहार बताते हैं।

जैन साहित्य में लक्ष्मण को विष्णु का तद्‌रूप ही बताया गया है। 'पउम चरिउ' में लक्ष्मण को विभिन्न नामों से अभिहित किया गया है। वह नाम पुराणों में विष्णु के पर्याय हैं। लक्ष्मण को गोविन्द, गोवर्धन, श्री वत्स, शार्ङ्गधर, जनार्दन, वासुदेव, हरि, विष्णु, केशव आदि नामों से स्मरण किया गया है। यह सब विष्णु के ही नाम हैं।

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि जैन साहित्य में विष्णु और उनके अवतारों का जैनीकरण किया गया है। जन साधारण में विष्णु के व्यापक प्रभाव के अभाव में यह असम्भव था। अतः जैन साहित्य में भी विष्णु को उपयुक्त स्थान देना पड़ा है।

संत-सगुण व निगुर्ण—दोनों तरह की उपासना के पक्षपाती रहे हैं। सगुण उपासकों के लिए तो अवतारवाद समर्थन स्वाभाविक है। निर्गुण उपासकों ने समय-समय पर अवतारवाद की आलोचना की है और इसे सारहीन बताया है परन्तु अपनी वाणियों में अन्य स्थानों पर उन्होंने समर्थन भी किया है। वह जानते थे कि सगुण उसासना उनके लिए भले ही उपयुक्त न हो परन्तु जन साधारण के लिए तो वह अधिक अनुकूल बैठती है। यदि निम्न बौद्धिकस्तर के व्यक्तियों में निर्गुण उपासना का प्रचार किया जाए तो सम्भव है वह उसके तत्व और महत्व को ग्रहण न कर सकें। इस लिए निर्गुण उपासना को मानने वाले संतों ने भी ईश्वरीय तत्वों का प्रतिपादन करने के लिए अवतारों का सहारा लिया है। अवतारों में विष्णु और उनके अवतार प्रमुख माने जाते हैं। अतः अपनी वाणियों में उन्होंने खुलकर विष्णु के व्यापक मूल्यों का समर्थन किया है।

कबीर की गणना निर्गुण रूप के मानने वाले संतों में होती है। वह राम के निर्गुण रूप को ही चाहते थे। उन्होंने कहा भी है:—

"निरमल निरमल राम गुण गावै, सो भगता मेरे मनि भावै।
जे जन लेहि राम कों नांउ, ताकी मैं बलिहारी जांउ॥
जिहि घटि राम रहै भरपूर, ताकी मैं चरनन की धूरि।"

परन्तु डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर के पदों में प्रयुक्त विष्णु के नामों को निर्गुण के साथ-साथ सगुण अर्थों में भी स्वीकार

किया है। उदाहरण के लिए अनेकों पद लिए जा सकते हैं। एक पद में विष्णु की नाभि से ब्रह्मा को उत्पन्न हुआ बताते हैं। उनके चरणों से गंगा निकल रही है। उसी विष्णु भक्ति की वह इच्छा भी करते हैं—

"जाकै नाभि पदम सु उदित ब्रह्मा, चरन गंग तरंग रे।
कहै कबीर हरि भगति वांछू, जगत्त गुर गौब्यंद रे।।"

हरि भजन के प्रताप का गुणगान करते हुए कबीर कहते हैं। कि इससे क्षुद्र महान हो जाता है, पत्थर पानी पर तैरने की क्षमता प्राप्त कर लेते हैं। अधम भील और अजाति गणिका जैसे कुपात्र को पात्र बनकर स्वर्ग को जाते हैं—

"है हरि भजन को प्रवान।
नीच पावैं 'ऊंच पदवी' बाजते नीसान।
भजन को प्रताप ऐसे, तिरे जल पाखान।।
अधम भील अजाति गनिका, चढ़ैं जात विमान।।"

नरसिंह अवतार को सर्व सखा की उपाधि देते हुए कबीर कहते हैं :—

"सर्व सखा को एक हरिस्वामी सो गुरु नाम दयो।
संत प्रहलाद की पैज जिन राखी हरनाखुस नख बिदरयो।।"

एक अन्य पद में नरसिंह अवतार को संतों का उद्धार करने वाला बताया है:—

"सर्व सखा का एक हरिस्वामी, जो गुरु नाम दयो।
संत प्रहलाद की पैंज जिन राखी, हरनाखुस नख बिद्रयो।।
घर के देव पिता को छोड़ो गुरु की सबद लयो।
कहत कबीर सकल पाप खंडन, संतन्ह लै उबरयो।।"

कबीर ने नामोपासना के महत्व को भी प्रतिपादित किया है:—

"नहीं छोड़ोरे बला राम नाम, मोहि और पढ़ सूं कौन काम ।
प्रह्लाद पधारे पढ़न साल, संग सखा लीयो बहुत बाल ।।"

संत दादू जहाँ संत और राम की एक ही श्रेणी गिनते हैं:—

"जहाँ राम तहं संत जन, जहाँ साधु तहं राम ।
दादू दुन्यू एक है, अरस परस विसराम ।।"

वहाँ नरसिंह अवतार का अधार तेज पुन्ज की संज्ञा देते हैं:—

कीमति नहिं करतार के, ऐसा है भगवंत ।
निरसंघ नुर अपार है, तेज पुंज सब मांहि ।।"

संत साहित्य में सम्भवतः आदि हिंदी कवि जयदेव ने संत काव्य में चक्र धारण करने वाले विष्णु की उपासना करने और उनकी शरण में जाने का आग्रह किया है।

"तजि सकल दुहक्रित दुरमती भजु चक्रवर सरणं ।"

पंढरपुर में विट्ठल भगवान को कृष्ण का अवतार माना जाता है। संत नाम देव के वह इष्ट रहे है। उन्होंने जहाँ विष्णु के अन्य नामों की स्तुति में पद गाए हैं वहाँ विट्ठल भगवान का भी नाम आता है:—

"मेरो बाप माधो तू धन केसौ, सावलियो विट्ठलराइ ।
कर धरे चक्र वैकुंठ ते आयो, तू रे गज के प्रान उधारयो ।।"

एक पद में ही वह अनेकों को सम्मिलित करके प्रशंसा करते हुए कहते हैं :—

"कर धरे चक्र बैकुण्ठ ते आयो, तू रे गज के प्रान उधारयो ।
दुहसासन की सभा द्रोपदी अंबर लेत उबारयो ।।
गौतम नारी अहल्ला तारी, पा पन्न केतिक तारयो ।
ऐसा अधम अजाति नामदेव तव सरनागति आयो ।।"

नरसिंह अवतार का भी उल्लेख नामदेव ने किया है।

"हरि हरनाखस हो परान, अजैमल कोजो वैकुंठहि थान ॥"

राम द्वारा अहिल्या के उद्धार के प्रसंग में वह कहते हैं :—

"गौतम नारि अहलिआ तारो पावन केतक तारी अले।"

कृष्ण की स्तुति में देवकी को धन्य बताते हुए कहते हैं :—

"धनि धनि मेघा रोमावली, धनि धनि कुसन ओढ़ै कांवली।
धनि धनि तू माता देवकी, जिस गृह रमइआ कवला पती ॥

वीतराग शुकदेव और कर्मयोगी जनक जिसकी उपासना करते हैं, उस हरि का भजन करने के लिए गुरु रामदास जी अनुरोध करते हैं:—

"जपियो नाम सुक जनक गुरु वचनी हरि हरि सरण परे।
दालदु भंजि सुदामे मिलिआ भाती भाई तरे।
भगति वछलु हरि नाम कृतारथु गुरमुखि कृपा करे।
मेरे मन नाम जपत उधरे। ध्रू प्रहिलाद विदरन दासी
सुतु गुरमुखी ना तरे।"

गुरु अर्जुन देव ने विष्णु के विविध रूपों की स्तुति की है:—

"धरणी धर ईस नरसिंघ नारायण, दाड़ा अग्रे प्रथमि धराइण।
बावन रूपु कीआ तुधु करते समही सेती है चंगा ॥
श्री रंग वैकुंठ के वासी, मछु कछु कुरमु आगिआ अउतरासी।
केशव चलत करहि निराले कीता लोड़हि सो होइगा ॥"

वह भगवान को रक्षक और भक्तों का सहायक मानते हैं। साधुओं को संसार से तारने वाले, निन्दकों व दुष्टों को क्षण भर में नष्ट करने वाले बताया है :—

रखै रखण हरि आपि उबारिअनु।
गुरु की पैरी पाइ काज सवारिअनु ॥

होश्रा श्रापि दइश्रालु मनुहु न विसारिश्रनु ।
साकत निंदक दुसट खिन मांहि विदारिश्रनु ।।"

जहाँ वह राम को घट-घट वासी मानते हैं, वहाँ उन्हें असुरों का संहार करने वाला भी बताया है :—

"असुर संघारगु राम हमारा घटि घटि रमइश्रा रामु पिश्रारा ।"

गुरु नानक ने भी एक स्थान पर ऐसे ही भाव प्रकट किए है—
असुर संहारण रामु हमारा घटि घटि रमइया राम पिश्रारा ।"

राम कथा का परिचय देते हुए सेतुबाँध कर लंका विजय की गाथा गाकर देवताओं के उद्धार की बात करते हैं :—

गुरुमुखि बांधिश्रो सेतु विधाते लंका लूटी दैत संतापै ।
रामचन्द्र मारिश्रो अहिरावणु भेदु वभीषण गुरुमुखि परचाइणु ।
गुरमुखि साइर पाइण तारे, गुरमुखि कोटि तेतीस श्रधारे ।!"

गुरु ग्रंथ साहब में आए एक पद के अनुसार सतयुग में विष्णु वामन रूप में बलि का छलने वाले, त्रेता में रघुवंश में उत्पन्न राम रूप में, द्वापर में कंस का वध करके उग्रसेन का राज्य दिलाने वाले कृष्ण मुरारी के रूप में और कलयुग में वह गुरु नानक, अंगद देव और अमर दास के रूप में प्रकट हुए :—

"सतजुगि तै माणिश्रो छलियो वलि बावन भाइश्रो ।
तवै तै माणिश्रो राम रघुवंसु कहाइश्रो ।।
दुश्रपरि कृसन मुरारि कंस किरतारथु कीश्रो ।
उग्रसैण कइ राजु श्रभै भगतह जन दीश्रो ।।
कलिजुगि प्रमाणु नानक गुरु अंगद अमरु कहाइश्रा ।।"

गुरु अमरदास ने विष्णु के नरसिंह अवतार के प्रसंग में प्रह्लाद का उदाहरण देते हुये भक्तों के रक्षक रूप में उन्हें व्यक्त किया है :—

"भगता दी सदा तू रखदा हरि जीउ घुरि तू रखदा आइआ ।
प्रह्लाद जन तुधु राखि लह हरि जीउ हरणाखसु मारि पचाइआ।।"

गुरु ग्रंथ साहब में संग्रह किए गए एक पद में त्रिलोचन कवि नारायण की निंदा करने वाले को मूर्ख कहते हैं। उन्होंने भला और बुरा सभी के कर्ता नारायण को ही माना है। अनेकों पातकियों का उद्धार करने वाला बताया है :—

"नारायण निंदसि काइ भूली गवारी । दुक्रितु सुक्रितु भारो करमुरी ।
अनेक पातिक हरता त्रिभवण नाथुरी ।
तीरथि तीरथि भ्रमता लहै न पार री,
करम करि कपालु मफीटसिरी ।
अमृत ससीअ धेन लछिमी कलपतर,
सिखारि सुनागर नदी चे नाथ ।।
करम करि खारु मफीटसिरी ।"

संत रैदास अजामिल गज और गणिका का उद्धार करने वाले विष्णु पर अटल विश्वास प्रकट करते हुए कहते हैं कि जब उन उदार ने ऐसे दुरमतियों को तार दिया तो कोई कारण नहीं कि वह मुझे न तारे।

"लाग बाकी कहाँ जानै, तीन लोक पवेत रे ।
अजामिल गज गनिका तारी, तारी कुंजर की वास रे ।
ऐसे दुरमत मुक्त किये, तो क्यों न तरै रैदास रे ।"

"रैदास और उनका काव्य" में रैदास द्वारा रचित नरसिंह अवतार की विस्तृत कथा का वर्णन है। एक पद में वह हिरण्य कशिपु को मार कर प्रह्लाद को राज तिलक प्रदान करते हैं:—

"नख-सों उदर बिडारिआ, तिलक दिया महराजा ।
सप्तदीप नव खंड में तीन लोक भई गाजा ।।"

संत सुन्दर दास उस भगवान का भजन करने का उपदेश देते हैं जिसकी शिक्षा शंकर ने गौरी को दी, जिसके नाम का शेष जाप करते हैं, जिसका प्रचार नारद ने किया, जो ध्रुव के ध्यान में और प्रह्लाद के लिए अवतीर्ण हुए:—

"राम नाम शंकर कह्यो गौरी को उपदेश ।
सुन्दर ताही राम को सदा जपतु है सेस ।।
राम नाम नारद कह्यो, सोई ध्रुव के ध्यान ।
प्रकट् भये प्रह्लाद पुनि सुन्दर भजि भगवान ।"

हिरण्यकशिपु का वध करने वाले को ही तुकाराम ने अपना स्वामी बताया है ।

"कहे तुका जो सांई हमारा, यिरन कश्यप जिन मारहि डारा "

संत कवि रज्जव ने नारायण को समस्त सृष्टि का आदि कारण बताया है:—

"सबका कारण आदि नारायण । कारिज में औतार ।
रज्जव कही विचारि कर, तामे फेर न सार ।।"

माया के माध्यम से वही नारायण आत्मा के रूप में अवतरित होते बताए गए हैं—

"रज्जब माया ब्रह्म में, आतम ले अवतार ।
भूत भेद जाने नहीं, सिर दे सिरजन हार ।।"

उन्होंने नारायण को आदि दीपक रूप में स्वीकार किया है । और समस्त जगत की आत्माएँ दर्पण की तरह उसके प्रकाश से प्रतिविम्वित होती है :—

"औतार आतम आरसी । आदि नारायन दीप ।
रज्जब एक अनेक विधि, ये दीपक दीप उदीप ।।"

धन्ना भक्त अपने भक्तों का कार्य सिद्ध करने वाले गोपाल की आरती करते हैं—

"गोपाल तेरा आरता।
जे जन तुमरी भगति करे वें तिनके काज सँवारता ।।"

संतों में निराकार और साकार–भगवान के दोनों रूपों को मानने वाले हुए हैं और अपनी आस्थाओं के आधार पर दोनों रूपों की अभिव्यक्ति की है। जिन कबीर ने अवतारवाद की कट्टर आलोचना की है, उनके शरीर छोड़ने के बाद उनके शिष्यों ने उन्हें अवतारी रूप में प्रस्तुत कर दिया। ऐसा लगता है कि उन्हें स्थायी रूप से अपना आदर्श स्तम्भ स्थापित करने के लिए अवतारवाद के अतिरिक्त और कोई आलम्बन नही मिला।

उपरोक्त उदाहरणों से विदित है कि निर्गुण उपासकों ने भी विष्णु और उनके अवतारों के सगुण रूपों का वर्णन किया है। जन-साधारण में मानव मूल्य की आस्थाओं को स्थापित करने के लिए उन्होंने इसे आवश्यक समझा। संत साहित्य में विष्णु व्यापक रूप से दृष्टि गोचर होते हैं क्योंकि विभिन्न रूपों में उन्होंने विष्णु का प्रतिपादन किया है। अत: संत साहित्य में विष्णु एक विशिष्ट स्थान रखते हैं।

मध्यकालीन साहित्य में विष्णु और उनके अवतारों के सम्बन्ध में जो जानकारी उपलब्ध होती है, उससे विदित होता है कि उस समय जन-साधारण में विष्णु और उनके अवतारों पर आस्था स्थिर हो चुकी थी। मध्यकालीन कवियों ने अपनी रचनाओं में कहीं विस्तृत और कहीं सांकेतिक उल्लेख किया है।

गुरु ग्रंथ साहब में आए एक पद में गुरु अर्जुन देव ने बुद्ध और कल्कि ने अतिरिक्त अन्य अवतारों का उल्लेख किया है। मराठी संत देवदास ने राम और कृष्ण को अवतार माना है।

अजेब बने नंदलाल ।
दस अवतार राम-कृष्ण बन्यो है ।
सब गोपी खुशाल !

उनके समय के एक कवि बालकृष्ण लक्ष्मण पाठक के स्वांगों के संग्रह "ललित संग्रह" में अवतारों की चर्चा करते हुए उन्हें दीनों का उद्धार करने वाले और दुष्टों का संहार करने वाले बताया है।

ऐसे महाराज निर्गुण निराकार, उन्नो लिए दश अवतार ।
किया दुष्टन का संहार, वो दीनोद्धार महाराज हैं मेहरबान ।।

'राग कल्पद्रुम' में बैजू बावरा का गाया हुआ एक पद उपलब्ध मिलता है जिसमें विष्णु के अवतारों की चर्चा की गई है—

"मछ-कछ वराह वरहर वामन परसराम,
राम हलधर नारायण बुध कल्की नाना विध वपु धारण।
वैजू के प्रभु एक ते अनेक हीय वहुरूप वहुभेष धरे,
अपने सेवक के जन्म मरण निवारण।।"

इसी ग्रंथ में एक और अपरिचित कवि का एक पद आता है जिसमें पहले तो जगन्नाथ, बलभद्र, और सहोदरा के जप करने का अनुरोध किया गया है और मच्छ, कच्छ, वराह आदि अवतारों का वर्णन करते हुए वृन्दावन में निवास करने वाले महाप्रभु को 'कलकी' में प्रकट होने के लिए कहा गया है।

"जगन्नाथ वलभद्र सहोदरा चक्र सुदरसन रट रे।
ब्रह्म शेष महेश शारदा पार न पावे भट रे।।
मच्छ कच्छ वाराह अवतार रूप धारे जो नट रे।
नरहरि वामन परसराम मुनि राम कृष्ण भए भट रे।।
मा हिंसा परमोधरम इति वाक्य प्रगट रे।
वृन्दावन के वासी महाप्रभू कलकी होय परगट रे।।"

तुलसी ने 'विनयपत्रिका' मे राम की स्तुति करते हुए उन्हें 'कोशलाधीश जगदीश' कहा गया है और उसी के साथ राम, वामन, मत्स्य, वाराह आदि अवतारों का वर्णन किया है।

'सूर सागर' में सूर ने दशावतारों की चर्चा की है और अलग अलग नाम गिनाए हैं। विद्यापति ने 'पदावली' में एकादश अवतारों की बात कही है—

"राजा सिवसिंह रूप नारायन एकादश अवतारे।"

'पृथ्वीराज रासो' में दश अवतारों को माना गया है—

"कहै ब्रह्म अवतार दस धरे भगत हित काज।
रूप रूप अति दैत्य दलि द्रोपद सुता रखि लाज।।"

'गोरखवानी' में दश अवतारों का इस प्रकार वर्णन है—

"विश्न दस अवतार थाप्या असाध कन्द्रप ।
जती गोरखनाथ साध्या ।।"

कश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र का 'दशावतार चरित्र' नाम का एक काव्य ग्रन्थ उपलब्ध होता है जिसमें रामकृष्ण, बुद्ध, नरसिंह, वराह, कूर्म, मत्स्य आदि अवतारों का नाम दिया गया है।

"मत्स्य: कूर्मो वराह: पुरुषहरिवपुर्वामनो गामदग्नय: ।
काकुत्स्थ: कंसहन्ता स च सुगत मुनि: कर्किनामा च विष्णु ।"

महाकवि चन्द ने अवतारों की इस प्रकार प्रार्थना की है—

"मछ कछ वाराह प्रनम्मिय नारसिंघ वामन फरसम्मिय ।
सुग्र-दसरथ हलधर नम्मिय बुद्ध कलंक नमो वहु नम्भ्रिय ।।"

बंगाल के कवि मयूर भट्ट के श्री धर्म पुराण काव्य में दश अवतारों का उल्लेख करते हुए उनके पाँच भौतिक स्वरूपों का प्रासंगिक वर्णन हुआ है। बंगाल के ही एक कवि चंडीदास की रचना 'श्री कृष्ण कीर्तन' उपलब्ध होती है जिसमें श्री कृष्ण को स्वर्ग, पाताल, वन, जल, थल, पर्वतादि का आदि कारण बताया गया है। सूर्य चन्द्र का भी कर्ता धर्ता उन्हीं को घोषित किया गया है। उन्हीं को मत्स्यरूप में वेदों उद्धारक, नरसिंहरूप में हिरण्यकशिपु का वध करने वाले, परशुराम रूप में क्षत्रियों के काल, बामन रूप में बलि को छलने वाले, राम रूप में रावण का वध करने वाले, कल्कि रूप में दुष्टों का दलन करने वाले बताया गया है।

निम्वार्क सम्प्रदाय के परशुरामाचार्य ने अपनी रचना "परशु-राम सागर" में अलग-अलग अवतारों का वर्णन किया है।

राग कल्पद्रुम में कवि कान्हदास का एक पद मिलता है जिसमें राम को प्रमुखता देते हुए शेष अवतारों को उन्हीं का रूप बताया गया है—

"श्री रघुनाथ जी मेरे का वरन सके गुण तेरे !
प्रभु प्रथम मीन वपु धर्‍यो संखासुर गरव प्रहारयो ।।
ब्रह्मा को वेद जो दीने तुम काज सुख के कीने ।
प्रभु कच्छप रूप बनायो मन्दराचल पीठ धराश्रो ।।
शूकर नरहरि वपुधारी प्रह्लाद प्रतिज्ञा पारी ।
तुम हरि बल वामन स्वामी तुम परशुराम वरनामी ।।
तुम ही रघुवंश उजागर तुम कृष्णानन्द के नागर ।
बुद्ध निकलंक रूप तिहारो हर भक्तन के रखवारो ।।
अवगत गत नाथ तिहारो, जाए दास कान्हर बलिहारी ।"

'रामचन्द्रिका' के प्रणेता श्री केशवदास ने भी रामचन्द्र की स्तुति में दश अवतारों का उल्लेख किया है।

परमानन्ददास के एक पद में श्री कृष्ण को प्रमुखता दी गई है तथा शेष को उनका अवतार बताया गया है--

"परमेश्वर पुरुषोत्तम स्वामी यशुमति सुत कहलाया है।
मच्छ कच्छ वराह औ वामन रामरूप दर्शाया है ।।"

बंगाल के प्रसिद्ध कवि गुरु जयदेव ने अपनी लोकप्रिय रचना "गीत गोविन्द" में दश अततारों का अलग अलग उल्लेख किया है और उनकी स्तुति भी की है ।

'नाथ सिद्धों की वानियाँ' संग्रह के एक पद में अवतरों की चर्चा करते हुए विष्णु को दश अवतार धारण करके गर्भ में संकट सहन करने का उल्लेख है।

"विसन जेन दस औतारं महा संकट ग्रभ वासं।"

इसमें भले अवतारवाद की आलोचना की गई हो परन्तु यह तो लक्षित होता ही है कि इस समय अवतारों की धारणा स्थिर थी। लोक प्रिय मान्यताओं की ही कटु आलोचना करने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

रसिक सम्प्रदाय से सम्बन्धित रचना "पुराण संहित:" में अलग श्लोकों में मत्स्य, वराह, नरसिंह, राम, हलधर, बुद्ध और कलकि का उल्लेख है।

उपरोक्त उदाहरणों से विदित होता है कि मध्यकालीन साहित्य में विष्णु और उनके अवतारों की तत्कालीन लोकप्रियता को स्वीकार किया गया है। कवि लोक भावनाओं और अपनी आस्थाओं का ही प्रधिनिधित्व करते हैं। वह सामयिक महत्वपूर्ण विषयों को ही अपने अन्तस्थल की गहराइयों से स्पर्श करने की आज्ञा प्रदान करते हैं। कवि में परतंत्र बुद्धि नहीं होती। वह अपनी स्वतंत्र बुद्धि से विषयों का निरूपण करता है। उसकी रचनाओं में लोक दर्पण दिखाई देता है। मध्यकालीन कवियों ने निश्चित रूप से जनता के विश्वासों को व्यक्त किया है। इससे विष्णु की लोकप्रियता की धारणा दृढ़ ही होती है।

• • •

आजकल तो कला ने एक ऐसा रूप ले लिया है जो नग्नता, अनैतिकता, असामाजिकता आदि कुप्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती है। संस्कृति के नाम पर युवतियों के नाच गाने और अश्लील हाव भावों के प्रदर्शन को ही कला का रूप दे दिया गया है। कला के नाम पर न जाने आज समाज में क्या-क्या हो रहा है और कैसे-कैसे घातक तत्व पनप रहे हैं जो भारत जैसे नैतिक समाज के लिए अपमानजनक ही सिद्ध होते हैं। कला आज कुपथ की द्योतक हो गई है परन्तु प्राचीन काल में यह हमारे दैनिक जीवन का एक अंग थी। इस विकृत रूप को देख कर ही विवेकशाली व्यक्ति इन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं और इसे ऐसे समाज के लिए अभिहित करते हैं जो नैतिक दृष्टि से गिरा हुआ है।

आज कला का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। कलाकार धर्म और धर्म के समर्थकों को हेय दृष्टि से देखते हैं। परन्तु पहले कला का धर्म से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। कला धर्म का एक अंग रही है, वह धर्म आश्रय से ही पनपी और विकसित हुई है। इसकी उन्नति का आधार धर्म रहा है। धर्म की छत्र छाया में ही इसका पालन-पोषण हुआ है। इस लिए इसमें धार्मिकता ओत्-प्रोत् थी। अजन्ता, एलोरा की गुफाओं के सुन्दर भित्ति चित्र इसके साक्षी हैं। धर्म का प्रतिपादन करने में महाकाव्य ही श्रेष्ठतम माने जाते हैं। शिव को स्वरों का आदि जनक और स्रष्टा कहा जाता है। मूर्ति कला का विकास धर्म के लिए ही हुआ था। प्राचीन काल की अधिकांश मूर्तियां धर्म से सम्बन्धित उपलब्ध होती हैं। कला

की हर शाखा में धर्म का प्रवेश रहा है। क्योंकि वह नैतिक, शिक्षाप्रद और प्रेरक विचारों की प्रतीक रही है। देवी देवताओं के चरणों के प्रदर्शन, उनकी स्तुति और जनता में लाए आदर्शों की स्थापना के लिए यह प्रेरणा का स्रोत रही है। भारतीय ललित कलाओं में भी विष्णु को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है उनका संक्षिप्त विवेचन यहाँ करना अभीष्ट है।

काव्य—

भारतीय ललित कलाओं का उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति रहा है। उनके भावों की अभिव्यञ्जना इसी मार्ग की ओर बढ़ाती है। इसलिए इनका सहृदय ब्रह्म से सम्बन्ध रहा है। इनमें कर्ता, कृति और ग्राहक तीनों को ही ब्रह्म माना गया है। उसके विकास का आदि स्रोत भी वह स्वयं है। तैयार होकर जिस रूप में हमें कला दृष्टिगोचर होती है। वह भी ब्रह्म है और उसकी छवि का आनन्द लेने वाला भी स्वयं ब्रह्म है। यह भारतीय कला की विशेषता है। पश्चिम की कला में यह गुण नहीं है। उसका आधार भौतिकवाद है। पश्चिम की कला का जब से भारत में प्रवेश हुआ है, तब से उसका अपना रूप लुप्त हो गया। आज यह भौतिक रूप में हमारे सामने है। पहले यह आध्यात्मिक थी। इसके हर मोड़ पर अध्यात्मक खिलखिला कर हंसता दिखाई देता था। आज सौंदर्य का अभिप्राय केवल शरीर से सम्बन्धित हो गया है। पूर्ववर्ती काव्यों में इसका भिन्न उद्देश्य रहा है।

भारतीय कवियों ने ब्रह्म पुरुष और प्रकृति का स्त्री रूप में चित्रित किया है। इस देवी की जो छटा भारतीय काव्यों में मिलती है, वह देखते ही बनती है। प्रतीकवाद का सहारा लेकर उन्होंने प्राकृतिक दृश्यों का सुन्दर चित्रण किया है। प्रलय और समुद्रमंथन आदि कुछ ऐसे दृश्य हैं जिनको अवतारवाद से सम्बन्धित किया गया है। स्त्री और

पुरुष के काम सम्बन्धों का वर्णन पुरुष और प्रकृति की आँख मिचौनी क्रीड़ा ही है ।

भारतीय काव्य ऐसे चित्रों की अभिव्यक्ति करते हैं जो हमारे अन्तंजगत में एक नई प्रेरणा जाग्रति, स्फूर्ति व शक्ति उत्पन्न करते हैं। वह हमें यह सोचने पर बाध्य करते हैं कि इन आदर्शों का अनुकरण करना ही जीवन की सार्थकता है। यदि यह हमारे व्यवहारिक जीवन से दूर है तो समझना चाहिए कि हमारे लक्ष्य और कृतियों में कुछ ऐसी भूलें हैं जिनका सुधार करना अत्यन्त आवश्यक है । भारतीय काव्यों में यह विशेषताएँ समाविष्ट होने पर ही देवताओं को इनका जनक कहा गया है। अग्निपुराण में काव्य को विष्णु का अंशावतार माना गया है। काव्य को उच्च आसन पर अभिहित करने का कारण यह रहा है कि यह समाज में नैतिक मूल्यों के प्रतीक रहे हैं। आजकल रूप बिगड़ गया है। इस लिए उसका दैवी मूल्यांकन करने में संकोच होता है। परन्तु प्राचीन काल में यहां अपने विशुद्ध रूप में था तभी उसे विष्णु का रूप घोषित किया गया था। (विष्णु पुराण १।८५) कृति को देखकर पता चलता कि इसका कर्ता कैसा होगा।

काव्य सौंदर्य का विष्णु स्वयं पान करते हैं। उसके कलात्मक आकर्षण से प्रसन्न होते हैं। विष्णु के सम्बन्ध में अनेकों काव्य पुराणों के रूप में मिलते हैं। एक प्रमाण तो स्वयं विष्णु के नाम से ही अभिहित किया गया है। उनके अवतारों—राम, कृष्ण, मत्स्य, वराह, नरसिंह, कूर्म आदि के लिए अलग-अलग पुराणों की रचना हुई है। इसके अतिरिक्त उनके चरित्रों को भिन्न-भिन्न काव्यों में प्रविष्ट किया गया है। भागवत और हरिवंश पुराण में कृष्ण की लीलाओं का विस्तृत वर्णन है। रामायण में राम का यशोगान है। महाभारत में राम, कृष्ण, विष्णु और अन्य अवतारों का वर्णन आता है। रघुवंश जैसे महाकाव्यों में भी विष्णु झलकते हैं।

काव्य हमारे समाज धर्म संस्कृति और दर्शन का प्रतीक रहे हैं। विष्णु और उनके अवतारों के माध्यम से ही इनका स्पष्टीकरण किया गया है और नैतिक आदर्शो की स्थापना का प्रयत्न किया गया है।

संगीत की उपयोगिता को हमारे शास्त्रकारों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। शिव-संगीत में शंकर भगवान ने पार्वती से कहा है कि जितना गान उन्हें अच्छा लगता है, उतना क्षीर, घी और गुग्गल नहीं। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार संगीतज्ञ पुरुष शिव के अनुचर बनकर शिवलोक में आनन्दपूर्वक निवास करते हैं। विष्णु पुराण १।२२।८३ में भगवान विष्णु को शब्द मूर्तिधारी कहा है और उन्हें समस्त आलाप और गीत का शरीर स्वीकार किया है। यहीं ताल लय सहित गान को असीम पुण्यों का फलदाता भी माना है। संगीत संहिता में कहा है "पूजा से कोटि गुण ध्यान, ध्यान से कोटिगुण जप, जप से कोटिगुण गान उत्तम माना गया है। गान से उत्तम और कुछ नहीं। ब्रह्माजी ने चारों वेदों का सार रूप पंचम वेद संगीत का निर्माण किया है।" नारद संहिता १।६ में अपने निवास का विश्लेषण करते हुए भगवान विष्णु ने कहा है कि "उनका निवास स्थान न योगियों का हृदय है और न वैकुण्ठ, वह तो वहाँ रहते है जहाँ भक्त उनका गुण गान करते हैं, अर्थात गान से भक्त में ईश्वरीय अंश बढ़ता है और उससे दिव्य गुणों की अनुभूति होती है।"

संगीत शास्त्र के विकास में भारतीयों ने काफी खोजें कीं। परिणाम स्वरूप सोलह हजार राग रागनियों और तीन सौ छत्तीस तालों का आविष्कार किया। जिनका आधार पूर्ण रूप से वैज्ञानिक था। शब्द विज्ञान के सम्बन्ध में जो कुछ भी सम्भव था, किया गया। उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों को जाना गया। योरोप का आधुनिक विकसित संगीत इसके समक्ष एक बालक सा ही प्रतीत होता है। वह इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते।

संगीत शास्त्र एक प्रकार का योग है। इसके आविर्भाव में योगियों का ही हाथ रहा है। योग विद्या के आचार्यो ने समाधि अवस्था में देखा था कि सूक्ष्म प्रकृति के अन्तराल में निरन्तर एक ध्वनि सुनाई देती है जो ओंकार की ध्वनि से मिलती जुलती है। वह ध्वनि तैलधारावत सुनाई देती है। उसमें एक अद्‌भुत आनन्द होता है। स्वामी दयानन्द ने लिखा है कि "जैसे समष्टि रूप प्रकृति की ध्वनि ओंकार है, वैसे ही व्यष्टि रूप नाना प्रकृति के नाना स्वर हैं और नाना स्वर रूपी नाना प्रकृति के आविर्भाव करने के अर्थ ही संगीत शास्त्र बना है।"

योगियों ने विश्व ब्रह्माण्ड का अध्ययन किया। उन्होंने अनुभव किया कि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति सूक्ष्म प्रकृति में निरन्तर हो रही ओंकार ध्वनि से होती है और जितने प्रकार के शब्द संसार में सुनाई दे रहे हैं, उन्हें ओंकार का ही विकसित रूप मानना चाहिए। ब्रह्माण्ड में जो भी सूक्ष्म या स्थूल ध्वनियां आज भी हो रही हैं, उनके मध्य में भी वही ओंकार की ध्वनि है। गंगा यमुना की उत्ताल तरंगों, पेड़ों की सायें-सायें, कोयल के गीत, भ्रमर के गुञ्जन, मोर के नृत्य, बच्चे के रुदन और हास में उसी आदि ध्वनि का आभास मिलता है। समस्त ध्वनियां उसी आदि ध्वनि के नियन्त्रण में चलती हैं और उसी के अनुरूप हैं। सारा ब्रह्माण्ड उसी एक ध्वनि से गूंज रहा है, उस दिव्य संगीत से ओत प्रोत हो रहा है। उसकी अनुकूलता में ही दिव्यता का विकास होता है। उसकी उपेक्षा से ईश्वरत्व का प्रभाव क्षीण, होने लगता है। जिस संगीत से सारा ब्रह्माण्ड भरा हुआ है, उसे यदि हम अपनाकर अपने अन्तर्जगत के तारों को झंकृत करने का प्रयत्न करें तो निश्चय ही स्वर लहरी एक दिव्य शक्ति के रूप में परिणित होती है, जो हमें इस भूलोक में ही स्वर्गलोक के दर्शन कराती है। कीर्तन से यही अभिप्राय सिद्ध होता है। देवर्षि नारद इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। वह

निरंतर अपनी वीणा बजाकर भक्ति रस का रसा-स्वादन करते रहते थे और औरों में भी भगवत्भक्ति का विकास करते थे। राजा सगर के साठ हजार पुत्रों में उन्होंने विरक्त भाव उत्पन्न कर दिए थे। ऋषिगण सामगान से दिव्य आनन्द प्राप्त करते थे। सामवेद की भक्ति रसपूर्ण काव्यधारा में अवगाहन करने से तुरन्त ही मनुष्य का अन्तरतम निर्मल, विशुद्ध, पवित्र और रससिक्त हो जाता है। भगवान ने सामवेद को भी अपनी विभूति स्वीकार किया है। संगीत रत्नाकर १।२५ में कहा है कि "ब्रह्मा ने साम वेद से ही संगीत विद्या का संग्रह किया था।" इसका क्षेत्र इतना विस्तृत है कि ऋषियों ने संगीत शास्त्र का एक अलग उपवेद ही बनाया था जिसे गान्धर्व-वेद कहते हैं। इससे इसकी उपयोगिता स्वत: सिद्ध हो जाती है।

योरोप की संगीत विद्या का लक्ष्य वाह्य है परन्तु भारतीय संगीत का लक्ष्य आन्तरिक है। यह अन्तर्जगत पर अपना प्रभाव डालता है, भारतीय संगीताचार्य जानते थे कि मनुष्य के सूक्ष्म शरीर के कौन से तारों को छेड़ने से कौन से भावों की उत्पत्ति होती है। अत: उन्होंने दैवी शक्तियों के विकास को ही अपना लक्ष्य चुना। उन्होने आत्मिक क्षेत्र में ज्योति जगमगाने के उपाय खोज निकाले, मानसिक द्वन्दों को शान्त करने की विधियाँ अविष्कृत कीं। इसलिए भारतीय संगीत से अन्तर्मन में एक ऐसी दिव्य लहरी उत्पन्न होती है जिससे चंचल मन की बिखरी वृत्तियाँ एकाग्र हो जाती हैं, मोह शोक और अशान्ति आनन्द में परिवर्तित हो जाते हैं। अत: संगीत का उद्देश्य आध्यात्म विकास और आत्मोन्नति है न कि विषयों का आनन्द जैसा आधुनिक संगीत से परिलक्षित होता है।

शब्द विज्ञान पर भारतीय ऋषियों ने इतना गहन अध्ययन, मनन, अभ्यास और खोजें कीं कि इसकी एक शाखा के रूप में नादयोग की उत्पत्ति हो गई। नाद एक दिव्य संगीत के रूप में अनुभव होता है,

उमगे मन की कली-कली खिल उठती है। मस्तिष्क की शक्तियाँ विकसित होती हैं, अन्तःकरण आनन्द के समुद्र में गोते लगाने लगता है। नाद पर जब हम ध्यान एकाग्र करते हैं तो मनकी बिखरी वृत्तियाँ एकाग्र होने लगती हैं इसका स्पष्ट अभिप्राय है शक्ति संचय और विकास। नाद, शक्ति प्राप्त करने का योग है। जब साधक नाद से अपना घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर लेता है तो वह आदि-नाद-प्रणव तक पहुँचने तक का मार्ग खोज लेता है। नाद का सम्बन्ध प्रणव से है। इसको पकड़ते-पकड़ते प्रणव तक पहुँचना सरल है, सम्भव है। इसी को मुक्ति, मोक्ष और ब्रह्मलोक के नामों से सम्बोधित करते हैं।

नाद सङ्गीत और कीर्तन सभी का आधार आदि-शब्द ओंकार है। उसी की अनुकूलता प्राप्त करना ही इनका लक्ष्य है। ताल और लययुक्त सुमधुर कीर्तन करने से अन्तर्मन के तार बजने लगते हैं जिससे गुप्त शक्तियों का जागरण होता है, रस ग्रन्थियाँ अपना मुख खोल देती हैं और सारे अन्तर्मन को उस दिव्य रस से सराबोर कर देती हैं। क्षणभर के लिये ऐसा लगने लगता है मानो उस रस रूप परमात्मा से सम्बन्ध जुड़ गया हो और वह अपना सारा रस उंडेल कर हमारे मन में डाल रहा हो।

संगीत से भगवान विष्णु का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। उनके चतुर्भुज रूप में एक हाथ में शंख रहता है। वह नाद का प्रतीक है। प्राचीन काल में जब युद्ध होते थे तो उनके आरम्भ में भी वह बजाए जाते थे, यह उस प्रक्रिया का भी प्रतीक रहे हैं। शिव प्रदीप स्तोत्र के अनुसार जब शिव का प्रथम ताण्डव नृत्य हुआ था, तब विष्णु को मृदंग वादन करते हुए दिखाया गया है। भारतीय संगीत के इतिहास में लिखा है कि जब पुराणोक्त समुद्र मंथन का आयोजन हुआ था। (जो विष्णु के नेतृत्व में ही हो रहा था) तो सर्व प्रथम विष्णु ने ही

प्रथम नाद उत्पन्न करने के लिए शंख बजाया था। उस शंख वादन से जिन स्वरों की उत्पत्ति हुई, वही सात स्वरों की जनक सिद्ध हुई।

विष्णु को राग और रागनियाँ इतनी प्रिय लगती हैं कि अनेकों राग और रागिनियाँ उनके नाम से ही अभिहित की गई हैं। संगीत शास्त्र के अनुसार 'संगीत दर्पण में' 'कल्याण नट' और 'मानव कौशिक' को विष्णु के प्रिय राग बताए गए हैं 'कुकुभ' और 'भिन्न पंचम' को भी यही स्थान प्राप्त हैं। रामकली, नारायण गौल, चक्रधर, नर नारायण रामेश्वरी, राम प्रिया आदि राग रागिनियाँ विष्णु, लक्ष्मी और उनके अवतारों से सम्बन्धित है।

संगीत से इतना घनिष्ट सम्बन्ध होना अनुराग का द्योतक है। उससे प्रणयता भी स्वाभाविक है। नारद संहिता में इस तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि विष्णु का निवास वहाँ रहता हैं जहाँ विष्णु के भक्त उनका गुणगान करते है। विष्णु स्तुति को स्वर सहित गाने का इतना मूल्यांकन किया गया है कि वह सामगान के बराबर फलप्रद होती है। यज्ञ, दानादि का अपना विशेष महत्व है परन्तु संगीत को उच्च स्थान पर उपस्थित करने के लिए कहा गया है कि विष्णु यज्ञ इत्यादि से इतनी जल्दी प्रसन्न नहीं होते जितने सामगान से होते हैं।

विष्णु से संगीत के सम्बन्ध का प्रभाव उनके अवतारों पर भी पड़ा। उनको भी संगीत प्रिय कहा गया है। कृष्ण का तो प्रिय रूप ही वही रहा। बाँसुरी की मधुर ध्वनि से ही उन्होंने सबको वश में किया है, 'संगीत दामोदर' के अनुसार जब गोपियों ने कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए गीत गाया तो उस गीत से १६००० राग रागिनियाँ उत्पन्न हुईं। 'संगीत रत्नाकर' में कृष्ण को गीत-प्रिय कहा गया है! बाल्मीकि रामायण में विष्णु के अवतार राम को संगीतज्ञ और संगीत प्रिय कहा गया है (अर्थो सर्ग १।१५) राम को संगीत से आमोद प्रमोद करते भी

दिखाया गया है। हरिवंश पुराण (विष्णु पद ८७ अ० में कृष्ण बांसुरी द्वारा अर्जुन का मनोरंजन करते है।

वैष्णव भक्त कवियों, आचार्यों और प्रचारकों में भी संगीत एक प्रिय विषय रहा है। इसके माध्यम से ही वह इष्ट देव को रिझाना अधिक पसंद करते थे। भारतीय संगीत के इतिहास के अनुसार महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत नाम देव स्वयं संगीतज्ञ थे और कहते थे कि मुझे ज्ञानमार्ग प्रिय नहीं लगता। मैं तो गा बजाकर ही भगवान को प्रसन्न करूगा। देखना है कि भगवान संगीत की शक्ति के समक्ष कब तक नहीं झुकेंगे। एक दिन उन्हें प्रकट होना ही पड़ेगा।

मीरा के गीत तो अत्यन्त लोकप्रिय माने जाते हैं। उनका मूल स्थान राजस्थान था। वह वृन्दावन में भी रही थीं और अन्त में गुजरात को अपने प्रचार का क्षेत्र बनाया था। इसलिए उनके गीतों में राजस्थानी, ब्रज और गुजराती शैली का सम्मिश्रण है। कहा जाता है इन तीनों भाषाओं में उनके जो पद प्राप्त होते हैं, उनमें उन राग-रागिनियों का प्रयोग हुआ है। नरसी मेहता भी गुजरात के प्रसिद्ध वैष्णव संत हुए हैं, उनके पद भी संगीत से गाए जाते थे।

चैतन्य, विद्यापति, निम्बार्क, अष्टछाप, जयदेव, हरिदासी, हरिव्यापी, आदि शाखाओं के ऐसे अन्य कवियों का उल्लेख आता है, जिन्होंने संगीत के माध्यम से वैष्णव भक्ति का व्यापक प्रचार किया। मराठों के संत गणेश नाथ एक सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ थे। शंकर देव और उनके शिष्य माधव देव ने उसी माध्यम से असम में वैष्णव धर्म का प्रचार किया। तुलसी के काव्यों में भी संगीत का विशेष ध्यान रहा है। रामचरित मानस, विनय पत्रिका और गीतावली में शास्त्रीय राग-रागिनियों से सम्बन्ध है।

जब विष्णु को स्वरों आदि का स्रष्टा माना जाता है और यज्ञ दानादि सभी उपासनाओं की अपेक्षा वह संगीत से अधिक प्रसन्न होते हैं तो उनकी भक्ति में इसका समावेश स्वाभाविक और आवश्यक है।

मूर्ति-कला—

यह दिखाई देने वाला जगत परमात्मा का स्थूल रूप है। उपनिषद् के अनुसार परमात्मा ने इच्छा की कि मैं एक हूँ वहुत हो जाऊ। उसकी इच्छा से ही इस जगत का विस्तार हुआ है। वह अव्यक्त ही व्यक्त रूप में प्रकट हुआ है। वह अमूर्त ही मूर्त रूप में दृष्टि गोचर हो रहा है। यहाँ के चर, अचर में भी वह सूक्ष्म रूप में समाया हुआ है। यह स्थूल जगत उस अव्यक्त ब्रह्म का प्रतिनिधित्व करता है। इसी तरह से देवी देवताओं की मूर्तियाँ भी ईश्वर के स्थूल रूप को दिखाने के लिए बनाई गई हैं। अर्थात जिस तरह जगत को देखने से उसके रचयिता ईश्वर की याद ताजा हो आती है, उसी तरह मूर्ति के सामने आते ही उसके सूक्ष्म रूप का स्मरण हो आता है।

"Transformation of Nature into Art" पुस्तक में भारतीय मूर्ति कला को व्यक्त करते हुए लिखा गया है कि कलाकार जिस मूर्ति का निर्माण करता है। वह तो वास्तव में उसके मन और हृदय में रहता है। वह तो उसका प्रतीकात्मक रूपान्तर मात्र करता है।

विष्णु और उनके अवतारों की मूर्तियों का निर्माण भी इस बुद्धिमता से किया गया है कि उससे उनकी समस्त कथा-वस्तु का वोध होने लगना है, उनकी आकृति अध्यात्म के गुह्य रहस्यों को खोलने वाली सिद्ध होती है। वेद शास्त्रों में विष्णु के जिस रूप का प्रतिपादन किया गया है, वही रूप हमारे सामने व्यक्त में दिखाई देता है। यह मूर्ति तो उनकी पूर्व कथा का प्रतिविम्ब मात्र है। इस लिए नारद पुराण (पूर्व

भा० अ० ३३) में इस जगत को विष्णु का मूर्त रूप कहा गया है। विष्णु पुराण १ में इन विचारों की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि "निराकार और सर्वव्यापी" विष्णु स्थूल रूप धारण करके देवताओं, मनुष्यों, पशुओं, पक्षियों आदि के विविध रूपों में यहां दृष्टि-गोचर हो रहे हैं"। एक अन्य स्थान पर (१।८५) इस सृष्टि के समस्त लोकों के समस्त स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों को विष्णु का शरीर ही कहा गया है। इसी पुराण में (६,७।४७-८३) में विश्व को उनकी शक्ति से उत्पन्न बताया गया है।

नारद पुराण (पूर्व, भा. अ. ३३) में विष्णु की आठ तरह की मूर्तियों का वर्णन है। उन ८ प्रकारों में धातु, हृदय, चित्र, जल, सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण और भूमि के नाम गिनाए गए हैं। इससे विष्णु के सर्वव्यापी देव का बोध होता है। सूर्य, अग्नि, जल आदि व्यापक तत्व के बोधक हैं। जिनके यह बिम्ब हैं, उनके मूल रूप की धारणा बनाना कठिन नहीं है। पद्म पुराण (पाताल खण्ड अ. ५८) में 'शालग्राम' को केवल विष्णु का ही मूर्त रूप स्वीकार नहीं किया गया है परन्तु उनके समस्त अवतारों का व्यक्त रूप बताया गया है।

विष्णु की मूर्तियों में उनके विराट रूप के दर्शन होते है। पिण्ड से ब्रह्माण्ड की भावना को व्यक्त करना ही पुराणकारों की विशेषता रही है। यही विष्णु के वामन अवतार का रहस्य रहा है। मूर्तियों में भी इस रहस्य को खोला गया है। दक्षिण के वैष्णव मन्दिरों में सुदर्शन चक्र की उपासना की जाती है। यह चक्र विश्व-व्यापी मन का प्रतीक है। यह उपनिषदों के अनुसार एकसे बहुत होने की इच्छा को भी व्यक्त करता है। Indian Sculpture and Painting पुस्तक के अनुसार वहां अग्नि चक्र की भी पूजा होती है। इस चक्र के चारों ओर अग्नि की ज्वालाएं लगी हुई है। चक्र के एक किनारे पर नरसिंह अवतार का चित्र है। अग्नि व्यापक तत्व है। जल-थल में समाया

हुआ हैं। उसे विष्णु की प्रतिमा भी बताया गया है। इससे भी उस सर्व-व्यापी विष्णु का ध्यान आता है।

The Art of Chandale's पुस्तक में लिखा है कि खजुराहो के चित्रगुप्त मन्दिरों में एक मूर्ति के ११ सिर हैं और एक के ३ सिर और ८ भुजाएँ हैं। चंदेलों के 'मनियादेव' मन्दिर में ३ सिर और १० भुजाओं वाली मूर्ति उपलब्ध होती है। यह ३ सिर सम्भवतः त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु और महेश की एकता के ही द्योतक हैं। खजुराहो में उपलब्ध बराह मूर्ति में विराट रूप को सुन्दर ढंग से व्यक्त किया गया है। उस मूर्ति में ६७४ देवी-देवताओं के चित्र बनाए गए है जिसमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश सहित समस्त देवी-देवताओं को सम्मिलित किया गया है। इससे मूर्ति के उद्देश्य का सरलता पूर्वक अध्ययन किया जा सकता है।

'भारतीय मूर्ति कला' में गुप्तकाल को अवतार मूर्तियों का स्वर्ण युग कहा जाता है क्योंकि उस काल में काफी संख्या में मूर्तियों का निर्माण हुआ है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने भी गुप्त मन्दिरों के बाहर एक वराह मूर्ति का निर्माण कराया था जो पृथ्वी को अपनी दाढ़ों पर उठाए हुए प्रतीत होते हैं। "The Art of India through the Ages" में बुन्देलखण्ड में देवगढ़ स्थान पर गुप्तकाल के एक मन्दिर का वर्णन है जिसमें शेष पर सोए विष्णु के साथ उनके पराक्रमों और लीलाओं को व्यक्त करने वाली और उनके पार्षदों की मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं। शेषशायी विष्णु के साथ लक्ष्मी पाँव दाबते लक्ष्मी और कमल नाभि से निकलते ब्रह्मा की भी मूर्तियाँ हैं। गजेन्द्र मोक्ष और अहल्योद्धार के दृश्यों को भी मूर्त रूप में वहाँ देखा जा सकता है।

"The Art of Palwa's" पुस्तक में मालववंशी राजाओं द्वारा बनाए मन्दिरों की बहुत प्रशंसा की गई है। ऊमं 'वराह मंडप'

अपनी विशेषता रखता है जहाँ वामनावतार की कथा मूर्तियों के माध्यम से कही गई है। वह पृथ्वी की रक्षा प्रलय से करते दिखाई देते हैं। यहाँ विष्णु के त्रिविक्रम रूप की भी मूर्ति बनी हुई है जिसमें उनकी ८ भुजाएँ दिखाई गई हैं और उनमें उनके आयुध शंख, चक्र, गदा, तलवार, धनुष, ढाल आदि दिखाई देते हैं। 'Art of Rashtrakoot' में चालुक्यों द्वारा बनाई 'बादामी गुफा' शिल्प-कला का एक सुन्दर नमूना बताया गया है। इस मन्दिर में विष्णु के विभिन्न रूप दिखाए गए हैं। विष्णु को गोवर्धन उठाए हुए, शेष शैया पर सोए हुए, गरुड़ को वाहन रूप में ग्रहण करते हुए, वराह अवतार धारण करते हुए, वामन रूप में ३ पग से पृथ्वी को नापते हुए और नरसिंह रूप से प्रहलाद की रक्षा करते हुए दिखाया गया है। इसी पुस्तक के अनुसार एलोरा के कैलाश मन्दिर में रामायण की प्रसिद्ध घटनाओं को चित्रांकित करने के साथ विष्णु के विभिन्न अवतारों के भी दर्शन होते हैं।

विष्णु के अवतारों में राम और कृष्ण की मूर्तियाँ अधिक उपलब्ध होती हैं। आजकल भी लगभग हर नगर में उनके मन्दिर देखे जा सकते हैं। सारनाथ में उपलब्ध एक मूर्ति के अनुसार कृष्ण ने गोवर्धन को उठा रखा है। पहाड़पुर में मिली मूर्तियों में राधा-कृष्ण की लीलाओं को सुन्दर रूप दिया गया है। धेनकासुर वध की भी मूर्ति अच्छी है।

'कला दर्पण' के अनुसार जगन्नाथ पुरी के मन्दिर में चीर-हरण, समुद्र मंथन, कालियदमन लीला, गोपाल कृष्ण, जगन्नाथ, बलराम, वामन, वराह, नरसिंह, लक्ष्मी, गरुड़ वाहन, गोवर्धन धारण, राम-रावण युद्ध आदि विष्णु लीलाओं की मूर्तियाँ स्थापित हैं।

इस तरह से विष्णु और उनके अवतारों की मूर्तियों का निर्माण प्राचीन मूर्ति कला की एक विशेषता रही है। इससे विष्णु

के व्यापक प्रचार का भी बोध होता है। इससे मूर्ति कला को भी बढ़ने का सुयोग प्राप्त हुआ है।

इन मूर्तियों से उन अवतारों की कथाओं और चरित्रों का स्मरण हो आता है, उनमें निहित प्रतीकात्मक भावनाओं को आयोजन का पता चलता है, अपने जीवन को व्यवस्था में लाने की प्रेरणा मिलती है, त्याग और निःस्वार्थता की भावनाओं को बल मिलता है, पारमार्थिक जीवन को व्यवहारिक रूप देने में प्रोत्साहन मिलता है। इस तरह से यह मूर्तियाँ मूक भाषा में बोलती हुई दिखाई देती हैं।

चित्रकला—

आज तो चित्रकला को दूषित कर दिया गया है। कला के नाम पर ऐसे अर्द्धनग्न और अश्लील चित्र बनाए जाते हैं जिन्हें कोई सभ्य व्यक्ति देखना भी पसंद नहीं करेगा। वैसे चित्रों को घर में टांगना असामाजिक तत्वों को उत्तेजित करना है। इस कला का सम्बन्ध जब से व्यापार के साथ हुआ है तभी से इसने विकृत रूप धारण किया है। जनता को आकर्षित करने के लिए इसे एक शक्तिशाली अस्त्र माना जाता है।

आज यह कला बिगड़े रूप में हमारे सामने है परन्तु प्राचीन काल में यह पवित्रता की द्योतक थी। इसे धर्म और संस्कृति से सम्बन्धित माना जाता था। विष्णु धर्मोत्तर पुराण में उल्लेख है कि नारायण मुनि द्वारा ही इस कला का शुभारम्भ हुआ है। नारायण मुनि ने 'चित्र सूत्र' के नाम से एक पुस्तक लिखी थी जिसमें चित्रकला के व्यवहारिक रूप और सिद्धान्तों पर विस्तृत विवेचन किया गया है। वहाँ यह भी कहा गया है कि नारायण मुनि ने सुगन्धित आम रस से एक सुन्दर स्त्री का चित्र बनाया। वह चित्र इतना सजीव बन पड़ा कि सभी देव-स्त्रियां उसे देख कर अपने रूप को उससे हीन समझने लगीं।

इससे विदित है कि उस समय यह कला पराकाष्ठा को पहुँच चुकी थी।

विष्णु धर्मोत्तर पुराण (तृतीय खण्ड ४३।३८-३९) में चित्रकला को सभी कलाओं से श्रेष्ठ माना गया है और इसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष देने वाला कहा गया है। इसकी महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जिस घर में यह प्रतिष्ठित की जाती है, वह घर मंगल का आगार बन जाता है। जैसे पर्वतों में सुमेरु, पक्षियों में गरुड़ और मनुष्यों में राजा को श्रेष्ठ माना जाता है, वैसे ही कलाओं में चित्रकला उत्तम है।

वाल्मीकि रामायण के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय चित्रकला अपने उज्ज्वल रूप में थी, राम के महल में भित्ति चित्रों का उल्लेख मिलता है (२।१५।३५) कैकेयी के प्रासाद में तो अलग चित्रगृह बने हुए थे (२।१०।१३)। "उत्तर राम चरितम्" में तो उल्लेख है कि सीता को प्रसन्न करने के लिए राम ने अपनी जीवन लीलाओं के चित्र बनवाए थे।

राजपूत शैली हिन्दू जीवन दर्शन को प्रस्तुत करने में प्रसिद्ध रही है। उसमें पौराणिक व ऐतिहासिक चित्र भी बनाए गए हैं। राम और कृष्ण की लीलाओं के चित्र तो पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। "राजपूत पेंटिंग" के अनुसार एक चित्र में वैकुण्ठ में निवास करने वाले विष्णु का चित्र है। लक्ष्मी पास में बैठी है। शिव, गणेश और ब्रह्मा भी वहाँ दिखाए गए हैं। ब्रह्मादि देवता विष्णु से अवतार ग्रहण करने की प्रार्थना कर रहे हैं।

कृष्ण लीला के बहुत चित्र इस शैली में मिलते हैं। गीत गोविन्द मति राम, देव, और केशव दास आदि काव्यों पर आधारित चित्रों ने लोक प्रियता अर्जित की थी। इन चित्रों में उन भावनाओं को व्यक्त करने वाली कविताएँ भी लिखी जाती थीं।

Introduction to Indian Art के अनुसार राम लीला को चित्रित करने के लिए राम की वीर गाथा और सीता की अग्नि परीक्षा, के चित्र बनाए गए। उधर राधा कृष्ण की लीलाओं को सुन्दर रूप में चित्रित किया। कृष्ण के प्रति गोपियों की प्रेमाभिव्यक्ति के अनेकों चित्र बनाए गए।

पहाड़ी शैली में अवतार लीलाओं को अंकित करने के लिए कलाकारों ने सभी रसों को प्रयुक्त किया है। "The Krishna legand in Pahari Paintings" के अनुसार कृष्ण लीला में रास मंडल, चीर हरण, गोवर्धन धारण, गोपियों के साथ जल विहार, राधाकृष्ण मिलाप कृष्ण द्वारा कलिय का दमन, दावानल का अपचयन जैसे चित्र अपने उत्कृष्ट रूप में पाये जाते हैं। "भारत की चित्र कला" में कालिय दमन चित्र का उल्लेख है जिस में बाल रूप में कृष्ण कालिय नाग के शरीर पर चढ़ कर उसे अपने पैरों से दबा रहे हैं। ऐसा लगता है कि नाग के फन चूर-चूर हो रहे हैं। नाग बालाऐं कृष्ण से क्षमा की प्रार्थना कर रही हैं और गोप-गोपियाँ, नंद और यशोदा कृष्ण की रक्षा के लिए चिंतित हैं।

मुगल शैली तो अपनी साम्प्रदायिक कला के लिए प्रसिद्ध रही ही है। परन्तु भारतीय चित्र कला के अनुसार रामायण, महाभारत और भागवत की घटनाओं के आधार पर अनेकों नयनाभिराम चित्र बनाए गए हैं। 'मुगल पेंटिंग' के अनुसार अकबर के दरबार के अनेकों चित्र पौराणिक गाथाओं के आधार पर थे।

सार यह है कि विष्णु और उनके अवतारों की लीलाओं की अभिव्यक्ति विभिन्न प्रकार की शैलियों के माध्यम से होती रही है। चित्रकला को भी प्राचीन काल में धर्म प्रचार का एक आवश्यक अंग माना जाता रहा है। एक छोटे से चित्र से कथाओं के विस्तृत प्रसंग

स्मरण हो आते हैं। उदाहरण के लिए विष्णु का चित्र सामने आते ही उनके शौर्य, वीरता और पराक्रम की घटनाऐं ताजा हो आती हैं। विष्णु ने सदैव देवताओं का पक्ष लिया और हर सम्भव सहयोग दिया। असुरों के नाश के लिए परिस्थितियों को देखते हुए उन्होंने विभिन्न रूप धारण किए और अपने उद्देश्य की पूर्ति की। देवताओं को राज्य वापिस दिलाने में उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं था। केवल इन्हीं तत्वों को लेकर हम जीवन निर्माण की दशा में लगे रहें तो हमारे जीवन में एक ऐसा मोड़ आ जायगा जिसे हम सदैव गौरव के साथ याद करेंगे। यदि दर्शक में ग्राह्य शक्ति है तो वह इन चित्रों से जीवनदायी प्रेरणा ग्रहण करता है। यह चित्र मुर्दों में भी शक्ति का प्रसार करने की क्षमता रखते हैं।

विष्णु के प्रसार में इन चित्रों ने प्रशंसनीय सहयोग दिया है। चित्रकला की हर शैली में इनका अंकन किया गया है।

इस तरह से भारतीय ललित कलाओं काव्य, संगीत, मूर्ति कला और चित्रकला में चारों ओर विष्णु की झलक मिलती है।

• • •

अवतारवाद पर—
आलोचनाओं का स्पष्टीकरण १८

निर्गुण उपासकों ने विष्णु और उनके अवतारों की आलोचना की है। यह स्वाभाविक ही है। अपने मनकी आस्थाएें सभी को प्रिय लगती हैं। अपनी आस्था और मान्यता के विरुद्ध सभी कुछ अमान्य हो जाता है। यह विरोध मध्यकालीन साहित्य में भी दिखाई देता है और आज भी मध्यकालीन कवियों में कबीर इस वर्ग का नेतृत्व करते हैं। उन्होंने कहा है कि निरंजन ही अविनाशी और अनादि है। कृष्ण पर व्यंग करते हुए उन्होंने कहा है कि वह तो ८४ लक्ष्य योनियों में प्रयाण करते-करते थक गए हैं। जब यह पृथ्वी और आकाश नहीं थे तब, कृष्ण कहाँ थे (कबीर ग्रंथावली प्र० १०३)। कबीर ऐसे निराकार ईश्वर का सम्पर्क चाहते हैं जिसने दशरथ के घर जन्म न लिया हो। जो रावण का वध करने वाला न हो, न जिसने देवयोनि में अवतार लिया हो, न वह यशोदा की गोद में खेलने वाला हो, न वह गोपियों के साथ खेलने वाला हो, न गोवर्धन उठाने वाला हो, न वह वराह के रूप में पृथ्वी का उद्धार करने वाला हो, न वह मत्स्य कूर्म और शालग्राम हो, न उसने द्वारिका में शरीर त्यागा हो (कबीर ग्रंथावली प्र० २१३)। कबीर ने दश अवतारों को निरंजन का रूप बता कर उन पर अपने लिए कर्मों के भोग भोगने का दोष लगाया है—

"दस अवतार निरंजन कहिये, सो अपना न कोई ।
यह तो अपनी करनी भोगे, कर्ता और ही कोई ।।"

दादू ने रामावतार को माया की संज्ञा दी है—

"माया रूपी राम कूं सब कोई ध्यावै ।
अलख आदि अनादि ह्वै, सो दादू गावै ।।"

इन्होंने देव पूजा का विरोध किया है—

"सोइ देव पूजौं जे टांकी नहीं घड़िया, गरभवास नहीं औतरिआ ।
बिना जल संजम सदा सोइ देवा, भाव भगति करौं हरि सेवा ।।"

सुन्दरदास ने तीखे व्यंग से कहा है कि वह अवतार दूसरों की क्या रक्षा करेंगे जिन्हें काल स्वयं खा गया ।

"कहत दस औतार जग में, औतरे आई ।
काल तेऊ झपटि लीने, बस नहीं कोई ।।"

रामानंद के भी अवतारों के सम्बन्ध में यही विचार हैं ।

"न वहाँ ब्रह्मा स्यौ बिसन, न तहाँ चौबीसू वप वरन ।"

मलूकदास को तो अवतारों पर विश्वास ही नहीं है—

"दस औतार कहाँ ते आये, किन के गढ़े करतार ।
दस औतार देखि मत भूलो, ऐसे रूप घनेरे ।।"

"नाथ सिद्धों की बानियाँ" में भी अवतारों की कर्मभोग समस्या को उभारा गया है—

"बिसन जेन दस औतारं
महा संकट ग्रभ वासं ।"

'गोरख बार्ना' में गोरखनाथ को राम का निर्गुण रूप ही अभीष्ट है—

"एही राजा राम आछै सर्वे अंगे वासा ।
ये ही पाँचों तत् वापू सहजि प्रकासा ।।
ये ही पाँचौ तत बाबू सहजि समझि समाना ।
वदत गोरख हम हरि पद जाना ।।"

इनसे मिलती जुलती आलोचनाएँ अन्य निर्गुण उपासकों ने भी की हैं। वास्तव में उन्होंने अवतार तत्व को समझा ही नहीं है और उसकी वाह्य रूप रेखा को देख कर ही भड़क उठे हैं। पर विषय का गम्भीर अध्ययन ही हमें किसी अन्तिम निर्णय तक पहुँचा सकता है। अवतार का अर्थ ही अवतरित होने वाला है। हर अवतरित होने वाला जीवन यहाँ अवतार हैं। परन्तु अवतार संज्ञा उसे ही दी जाती है जो किन्हीं विशेष गुणों से भूपित होता है। असामान्य गुणों के आगार को ही अवतार कहने लगते हैं जो जन-साधारण के लिए आदर्श हो, जिसने ऐसे असाधारण कार्य किए हों जो विश्व-शाँति में सहायक हों, जिसने आसुरी तत्वों के विनाश और दैवी तत्वों के विकास के लिए अपना जीवन न्यौछावर कर दिया हो। राम ने हजारों राक्षसों को मारा, रावण जैसे आततायी राजा का गर्व चूर किया जो ऋषियों के खून से कर रूप में कलश भरा करता था। कृष्ण ने कंस, जरासंध जैसे जालिम राजाओं को धराशायी कराया। कौरवों के अन्याय को समाप्त किया। अन्य अवतारों के साथ भी ऐसी कथाएँ जुड़ी हुई हैं जिनमें उन्होंने लोक-कल्याण के कार्य किए थे।

महात्मा गान्धी ने अवतार तत्व की अच्छी व्याख्या की है। उन्होंने अवतार को शरीर धारी पुरुष विशेष माना है। वह कहते हैं कि जो पुरुष अपने युग में सबसे श्रेष्ठ धर्मवान है, उसे भावी प्रजा अवतार रूप से पूजती है। इसमें मुझे कोई दोष नहीं जान पड़ता। इसमें न तो ईश्वर के बड़प्पन में कमी आती है न उसमें सत्य को आघात पहुँचता है। "आदम खुदा नहीं, लेकिन खुदा के नूर से आदम

जुदा नहीं", जिसमें धर्म-जाग्रति अपने युग में सब से अधिक हो, वह विशेषावतार है। (अनासक्ति योग)।

इससे अवतार का विषय काफी स्पष्ट हो जाता हैं कि अवतार शब्द से हम क्या अभिप्राय समझते हैं। जिसने शरीर धारण किया है। वह गर्भ वास में आया ही है और उसे शरीर के स्वाभाविक कर्मों का भोग-भोगना ही होगा। इसमें दो राय नहीं हैं। अवतारों को तो कर्मभोग ग्रहन करते ही दिखाया गया है। यदि कर्मभोग के सम्बन्ध में उन्हें अन्य शरीर धारियों से कुछ विलक्षण दिखाया जाता, तब तो वह आलोचना का विषय बन सकते थे कि शरीर धारण करके उनमें यह अस्वाभाविक गुण कहाँ से आ गए ? अवतार तो अपने उद्देश्य विशेष से आते हैं और उसकी पूर्ति करके चले जाते हैं। अवतारों को अमर शरीर धारण करने वाला कभी नहीं बताया गया है। नाम से तो सभी अमर हैं हीं।

निर्गुण उपासकों ने विष्णु और उनके अवतारों की मूर्तियों की पूजा का भी विरोध किया है। निर्गुण उपासना बुरी नहीं है। उसका कोई विरोध नहीं कर सकता। परन्तु वह हर एक के लिए नहीं। सगुण व निर्गुण उपासना तो व्यक्ति के बौद्धिक स्तर के अनुकूल ही उपयुक्त रहती हैं।

जिस व्यक्ति का बौद्धिक स्तर जितना ऊँचा है, उसे उसी ढङ्ग की उपासना पद्धति का निर्देश गुरुजन देते हैं। जिस व्यक्ति का बौद्धिक विकास मध्य श्रेणी का है, शास्त्रों के स्वाध्याय से भी वह वंचित है, उसे यदि निराकार उपासना की दीक्षा दी जाय, तो उसे उस उपासना मे कोई लाभ न होगा, क्योंकि उसकी अन्तः चेतना का इतना विकास नहीं हुआ है कि ईश्वर के वास्तविक निराकार तत्व को समझ सके। यदि एक निर्बल बौद्धिक स्तर वाले व्यक्ति से यह कहा जाए कि ईश्वर

सर्वव्यापक है परन्तु वह इन स्थूल नेत्रों से दृष्टिगोचर नहीं होता, उसका कोई रूप और रङ्ग नहीं है तो निश्चय रूप से उसकी बुद्धि ईश्वर के अस्तित्त्व को ही मानने से इन्कार कर देगी ।

चूंकि निर्बल बौद्धिक स्तर वाले व्यक्तियों के लिये सूक्ष्म तथ्यों पर ध्यानावस्थित होना कठिन होता है, इसी लिए मानव मनोविज्ञान के जानकार ऋषियों ने मूर्ति-पूजा की प्रथा चलाई ताकि उस मूर्ति को माध्यम बनाकर वह उस अनन्त को साकार रूप में अपने सामने देख सके । निराकार ब्रह्म का मानस चित्र बनाना सर्वथा असम्भव ही होता । यदि मूर्ति पूजा का आरम्भ न होता तो आज विश्व की अधिकांश जन-संख्या नास्तिक होती क्योंकि अशिक्षित और पिछड़े स्तर के जन-मानस में ईश्वर के निराकार तत्व पर विश्वास ही न होता । केवल ईश्वर उपासना थोड़े से उच्चकोटि के विचारकों, तत्ववेत्ताओं और योगियों तक ही सीमित रह जाती और मानव जाति का आत्मिक विकास रुक जाता, धार्मिक सम्प्रदायों का निर्माण न होता और धर्म के व्यापक विस्तार के बिना समाज में घोर अनास्था और अव्यवस्था फैली होती ।

मूर्ति से साधक को यह विश्वास हो जाता है कि जिन गुणों से सम्पन्न ईश्वर को मैं पाना चाहता हूँ, अथवा मैं जिन गुणों को अपने में विकसित करना चाहता हूं, वह मूर्ति रूप में मेरे समक्ष उपस्थित है, इसे मैं अपनी अन्तः चेतना में बिठाकर इससे एक रूप हो जाऊँगा; मैं वही हो जाऊंगा जिसका मैं ध्यान कर रहा हूँ । जब उसका ध्यान परिपक्व हो जाता है तो सब ओर उसी की छाया दिखाई देती है, वह अणु-अणु में समाया हुआ मिलता है, उसे अपने उपासक के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं देता, उसका आत्मिक स्तर विकसित होने लगता है, वह सब प्राणियों में अपने प्रभु के दर्शन करता है और अपने में सबको पाता है । इस स्थिति तक पहुँचना ही उसका उद्देश्य

होता है । यहां आकर उसकी प्रारम्भिक मूर्ति उपासना छूट जाती है और वह समस्त चलती फिरती प्रतिमाओं को अपने ईश्वर का रूप ही मानने लगता है । जब उसका स्तर स्थूल से सूक्ष्म हो जाता है तब वह निराकार तत्व की उपासना के योग्य होता है क्योंकि स्तर की अनुकूलता में ही शक्ति के विकास का रहस्य निहित है । स्तर की प्रतिकूलता में अच्छे परिणामों की आशा करना असम्भव है । यह भी ठीक है कि मूर्तिपूजा से अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचना तो सम्भव नहीं है क्योंकि ईश्वर सूक्ष्म है और सूक्ष्म को प्राप्त करने के लिये, उसमें लीन होने के लिये, उसमे एकाकार होने के लिये अपनी अन्त: चेतना को उतना ही सूक्ष्म बनाना होगा जितना कि वह है, अन्यथा अपने लक्ष्य में निराशा ही होगी ।

मूर्ति-पूजा ईश्वर उपासनाका आरम्भिक शिक्षा-सत्र है । यह चित्त शुद्धि का सरल साधन है । इसमें अपने इष्टदेव का ध्यान सुविधाजनक होता है । निराकार उपासना कष्ट साध्य है जैसा कि भगवान कृष्ण ने गीता (१२-५,६) में निर्देश दिया है कि जो सब के मूल रहने वाले, अचल, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य प्रत्यक्ष न दिखलाये जाने वाले और नित्य अक्षर अर्थात् ब्रह्म की उपासना सब इन्द्रियों को रोककर सर्वत्र समबुद्धि रखते हुए करते हैं, वे भी मुझे ही पाते हैं परन्तु उनके चित्त अव्यक्त में आसक्त रहने के कारण उनको क्लेश अधिक होते हैं क्योंकि अव्यक्त उपासना का मार्ग कष्ट से सिद्ध होता है । इसका अभिप्राय यह है कि साधक सब इन्द्रियों को जीत कर और सभी प्राणियों के प्रति समबुद्धि को व्यवहारिक भावना बनाकर ही उस निराकार उपासना का अधिकारी बनता है । यदि आरम्भिक साधक के लिए सूक्ष्म और असीम की उपासना निर्धारित कर दी जाय तो वह अन्धकार में ही टटोलता रहेगा और भटक जायगा क्योंकि केनोपनिषद् (१।३) के अनुसार वहां न तो चक्षु पहुंचता है, न

वाणी पहूंचती हैं और न ही मन ही पहुँच सकता है, वह विदित पदार्थों से भिन्न है और न जाने हुए पदार्थों से भी परे है। अतः ऋषियों का यह मत बना कि सीमित बुद्धि वाला साधक सीधे असीम की उपासना नहीं कर सकता, वह सीमित की उपासना करने से ही असीम तक पहुंच पायगा। इस ध्रुव सत्य की पुष्टि एक पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक ने भी की हैं। अपनी पुस्तक "दि-रेलिजन एटीट्यूड" में वुडवर्न ने लिखा है—"मूर्ति का यथार्थ महत्व प्रतीकात्मक होता है और इसका प्रभाव विशेषत: ऐसे व्यक्तियों की चेतना पर पड़ता है जिन्होंने मानसिक प्रतिमाओं का प्रयोग करना नही सीखा है"। अर्थात् जिस का मानसिक स्तर पर्याप्त रूप से विकसित नहीं हुआ। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक नाइट ने भी अपनी पुस्तक 'सिम्वालिकल लैंन्ग्युएज आफ एनसेन्ट आर्ट एण्ड माइथालजी' में लिखा है "मूर्ति पूजकों का यह विश्वास था कि दैवी सत्य प्रतीक में छिपा रहता है, पहेली और कल्पित आख्यायिकों में प्रछन्न रहता है। यह निर्वल मानवीयताको समयानुकूल रखता है वनिस्वत कि यह ज्ञान और मूल दर्शन में प्रदर्शित हो।" इससे स्पष्ट है कि आधुनिक मनोविज्ञान भी इस मूलभूत सिद्धांत को स्वीकार करता है कि छोटे स्तर वाले व्यक्तियों के लिये प्रार्थना व पूजा के लिये कोई दृश्य चित्र या मूर्ति की आवश्यकता अनिवार्य है।

जड़पूजा तो हमारा प्रकृति दत्त स्वभाव है। जल, वायु, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा को वेदों ने देवता कहा है क्योंकि वह निरन्तर अपनी शक्तियों से हमें लाभान्वित करते रहते हैं, उनके विना हमारा जीवन असम्भव है, इसलिये जड़ होते हुए भी हम उनकी पूजा, उपासना करते हैं। इन जड़ पदार्थों में स्वयमेव कोई शक्ति नहीं हैं। उस आद्य शक्ति के कारण ही इनमें प्राणप्रद गुणों का समावेश हो पाया है। जल के अभाव में हमारे प्राण छटपटाते हैं। सूर्य न हो तो समस्त प्राणियों का जीवन पृथ्वी पर दूभर हो जाये। वायु के बिना तो एक क्षण भी जीवित

रहना असम्भव है । क्या यह अद्भुत शक्तियाँ इन जड़ पदार्थों की हैं या इनमें जो चैतन्य शक्ति काम कर रही हैं उसकी ? हम देवता के रूप में इन जड़ पदार्थों की पूजा नहीं करते । हम आत्मानुभूति करना चाहते हैं तो इस पंच भौतिक जड़ शरीर के द्वारा ही यह सम्भव है । हम किसी महान आत्मा की उसकी त्यागमय सेवाओं के उपलक्ष्य में सम्मान पूजा करना चाहते हैं तो उनके चित्र, मूर्ति या साक्षात् उनके शरीर द्वारा ही सम्भव है । उनके सम्बन्ध में पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखें या उनका चरित्र प्रकाशित करें, तो यह भी जढ़ के द्वारा उनकी पूजा हुई । हम उनकी आत्मा को किस प्रकार से श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित करें ? केवल यही स्थूल मार्ग हमारे लिये खुले हैं । ईश्वर निराकर है । वह स्थूल नेत्रों से दिखाई नहीं देता । इसलिये उसके उपकारों के भार से दवे हुये भी उस पर कैसे श्रद्धा के सुमन चढ़ायें ? उसके अनेकों गुण हैं और गुणानुरूप अनेकों शक्तियाँ हैं । उन शक्तियों के अनुसार आचार्यों ने उसे साकार रूप में ढाल लिया है । मूर्ति पर फूल चड़ाते हुए हम यह नहीं सोचते कि हम पत्थर की पूजा कर रहे हैं वरन् यह भाव रहता है कि इसमें व्याप्त जो चैतन्य शक्ति है. वह ही हमारी श्रद्धा की पात्र है । मूर्ति की उपासना करने वाला जानता है कि वह उस सर्वव्यापी ईश्वर की ही उपासना कर रहा है । पवित्र श्रद्धा भावना से उसकी आत्मा का सम्बन्ध उस चैतन्य सत्ता से हो जाता है जो अणु-अणु में व्याप्त है, उसका कोई विशेष स्थान नहीं है, वह सर्वव्यापी है । मूर्ति साधक के विश्वास को बढ़ाती है कि यही ईश्वर हैं । विश्वास की पूर्णता ही उसे आदि विद्युत-धारा से मिला देती है, इस मिलन से जो उसे अपार आनन्द की अनुभूति होती है वही ईश्वर प्राप्ति की ओर बढ़ने का चिह्न माना जाता है । यदि वह ऐसा न करे तो वह सर्वव्यापी की किस प्रकार उपासना करे ? क्योंकि साधक स्वयं एकदेशी है और उपास्य सर्वदेशी है । एकदेशी सर्वदेशी को एक बनाकर ही उसकी

उपासना कर सकता है क्योंकि स्थूल का स्थूल से और सूक्ष्म का सूक्ष्म से मिलन सम्भव है। सूक्ष्म तक स्थूल की सीधी पहुँच नहीं है। स्थूल को तो स्थूल का अवलम्बन ग्रहण करना पड़ेगा। हम मन को एकाग्र करके ज्योति या 'ॐ' का ध्यान करते हैं, पर हम सोचते हैं, हम निराकार की उपासना कर रहे हैं। अतः मूर्ति उपासना स्वाभाविक व प्राकृतिक हैं।

अग्नि उपासना को सभी वैदिक अनुयायी स्वीकार करते हैं। वेदों में उसकी महिमा से सम्बन्धित सैकड़ों मंत्र उपलब्ध है, अग्नि से परमात्मा की प्रसन्नता मानी गई है। (ऋग्वेद १।१४।४) अग्नि उपासना के बिना मुक्ति न मिलने की घोषणा की गई है (ऋग्वेद ४।४५।१)। अग्नि उपासक के हृदय में परमात्मा का तेज प्रकाशित होता है (अथर्व ६।६५)। अग्नि को शास्त्रों में ब्रह्मरूप कहा गया है परन्तु अग्नि तो जड़ है। उसके माध्यम से कैसे चैतन्य की प्रसन्नता प्राप्त करने में साधक सफल हो सकता है। अग्नि स्थूल पदार्थों को सूक्ष्म बनाकर देवताओं को अर्पण करती है। मूर्ति साधक की पवित्र भावनाओं को तत्तद्देव तक पहुँचती है। इन दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं है। यदि अग्नि उपासना वैदिक है तो मूर्ति पूजा भी वैदिक माननी पड़ेगी। वेद तो स्वयं मूर्ति-पूजा का प्रतीक दृष्टिगोचर होते हैं क्योंकि उन्हें स्वयं ईश्वर का दिया हुआ ज्ञान माना जाता है। मन्त्र और शब्द दोनों स्थूल हैं। अतः वेद स्वयं स्थूल उपासना का प्रतिपादन करते हैं। अनेकों वेद मन्त्र इसकी साक्षी भी देते हैं।

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज॥

(अथर्व ३।१०।३)

अर्थ—"हे रात्रे! संवत्सर की प्रतिमा! हम तुम्हारी उपासना करते हैं, तुम हमारे पुत्र पौत्रादि को चिर आयुष्य बनाओ और सभी पशुओं से हमको सम्पन्न करो" अथर्व (२।१३।४) में प्रार्थना है "हे

भगवान ! आओ और इस पथ्थर की बनी मूर्ति में अधिष्ठित होओ
तुम्हारा यह शरीर पत्थर की बनी मूर्ति हो जाये ।"

प्रतिमा में शक्ति का अधिष्ठान किया जाता है, प्राण प्रतिष्ठा क
जाती है । सामवेद के ३६ वे ब्राह्मण में लिखता है—

देवतायतनानि कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसन्ति ।
रुदन्ति नृत्यन्ति स्फुटन्ति स्विद्यन्त्युन्मीलन्ति निमीलंति

अर्थात् देवस्थान कांपते हैं, देवमूर्ति हँसती, रोती और नृ
करती है, किसी अङ्ग में स्फुटित हो जाती है, वह पसीजती है, अप
आँखों को खोलती और बन्द भी करती है ।

कपिल तन्त्र में इस भाव की पुष्टि करते हुये लिखा गया है-
"जिस तरह गाय के सारे शरीर में उत्पन्न होने वाला दुग्ध केव
उसके स्तानों के द्वारा वाहर निकलता है, इसी तरह परमात्मा
सर्वव्यापक शक्ति का अधिष्ठान मूर्ति में होता है ।" इस तरह से साध
यह विचार करता है कि वह उस पत्थर निर्मित मूर्ति की उपास
नहीं कर रहा है वरन् वह उस अनन्त शक्ति की पूजा कर रहा है
उस मूर्ति में विद्यमान है । वाह्य दृष्टि से दिखाई देता है कि वह मू
की पूजा कर रहा है परन्तु वास्तव में तो वह उस सर्वव्यापी शक्ति
उपासना कर रहा होता है ।

आधुनिक विज्ञान भी इसका समर्थन करता है । साधक के भ
विश्वास और पूजा की शक्ति को यदि विषम-शक्ति मानें और ईश
की शक्ति को सम तो निश्चयरूप से साधक की विषमशक्ति परमात
की सम शक्ति को मूर्ति के माध्यम से आकर्षित कर लेती है । वि
और सम-शक्तियों के मिलन से ही विद्युतधारा का प्रवाह दृष्टिगो
होता है और प्रकाश की उत्पत्ति होती है । इसी तरह से साधक
अन्तः चेतना भी जगमगा उठती है ।

आधुनिक मनोविज्ञान भी मूर्ति की आवश्यकता को अनुभव करता है और यह समझता है कि वह असीम ही सीमित होकर प्रदर्शित होता है । प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक कारलाइल के अनुसार 'वास्तविक प्रतीक में जिसे ऐसा सम्बोधन किया जाता है, सदैव स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूप से असीम का रहस्योद्धाटन होता है इसमें निराकार का संयोजन साकार में होता है जिससे वह दृष्टिगत हो सके और वह प्रप्य-सा हो ।" अर्वन ने अपनी पुस्तक "लैंग्युएज एण्ड रियलटी" में प्रतिमा उपासना के लाभों का विवेचन करते हुये लिखा है–"धार्मिक प्रतीक या प्रतिमायें सीमित और अन्तरदृष्ट्यात्मक सम्बन्धों से उद्धृत की गई हैं और इनसे ऐसे तथ्यों की अभिव्यक्ति होती है जो अधिक सार्वभौम और आदर्श सम्बन्धों के लिये हैं, जिनकी अभिव्यक्ति विस्तार अधिक होने से और आदर्शवादिता के कारण सीधे नहीं की जा सकती ।" एक और मनोवैज्ञानिक ने इस तथ्य की पुष्टि करते हुये लिखा है–"भारतीय मन्दिरों में शिव, विष्णु, बुद्ध, महावीर आदि की मूर्तियां आदर्श को स्थूल रूप देने के उद्देश्य से स्थापित की गई हैं । सूक्ष्म रूप में विना दृश्य वस्तु के, जो इनका प्रतिरूप है, कल्पना करने पर आदर्श अस्पष्ट रह जाता है । दृष्टान्त के लिए जैन धर्म में २४ तीर्थंकरों का पूजन मूर्ति रूप में इस कारण प्रचलित नहीं है कि यह मूर्तियाँ ईश्वर के रूप हैं, क्योंकि जैन-धर्म ने ईश्वर का अस्तित्व ही नहीं स्वीकार किया है, वस्तुत: ये आदर्श के प्रतीक हैं जहाँ पहुँचना व्यक्ति का लक्ष्य होता है । स्थूल प्रतीक की यही महत्ता होती है ।"

मनोवैज्ञानिकों का यह दृढ़ मत है कि मूर्ति-पूजन की प्रथा इसलिये चली कि इससे प्रेरणा मिलती है और उस प्रेरणा के साथ शक्ति और विश्वास छिपा रहता है । जिस महापुरुष या अवतार की साधक पूजा करता है, उसके साथ उसके जीवन की महानतायें या तत्सम्बन्धी कथायें अवश्य जुड़ी रहती हैं । प्रतिमा के सामने आते ही वह सभी

दृश्य नेत्रों के सामने तैरने लगते हैं और साधक उस महान विभूति से अपने को सम्बन्वित करके उसकी महानताओं और विशेषताओं से अपने मन-मन्दिर को जगमगाता-सा अनुभव करता है। वह ऐसा अनुभव करता है कि उसे अपने मनमें विठाकर, उसे ध्यान में लाकर उसकी आत्मा से अपनी अन्तरात्मा को मिलाकर, एकाकार करके मैं भी वही वन रहा हूं। साधक का तद्रूप वनना उसकी भावना पर निर्भर करता है। मूर्तिपूजा से जीवन निर्माण की सूक्ष्म प्रक्रिया आरम्भ होती है जो साधक को उच्च कक्षा में ले जाती है।

इस तरह से देव पूजा हानिप्रद नहीं लाभप्रद ही सि
होती हैं।

विष्णु और उनके अवतारों की ऐसी कथाएं भी पुराणों में वर्णित की गई हैं जो अस्वाभाविक, असम्भव और असत्य लगती हैं जैसे विष्णु क्षीर सागर में निवास करते हैं, हजार फणों वाले शेष प सोते हैं, उनकी चार भुजाएँ हैं जिनमें विभिन्न प्रकार के आयु रहते हैं। वह वामन रूप धारण करके वलि को और मोहिनी रू से असुरों को छलते हैं। गजेन्द्र की आर्तनाद सुन कर वैकुण्ठ दौड़-दौड़ आते हैं, समुद्र को मंथन कराते हैं। इन कथाओं की आलोचना की जाती है। ऐसे आलोचकों को जानना चाहिए कि यह कथा अलङ्कारिक शैली में वर्णित की गई हैं। उनमें गूढ़ आध्यात्मिक रहस्य छिपे हैं या यह प्राकृतिक रूपकों के दृश्य दिखाई देते हैं। प्रतीकवा के आधार पर कथाओं का वर्णन करना तो प्राचीन शैली है। उसक ओर ध्यान न देकर केवल आलोचना को ही अपनी लेखनी का विष बना लेना उचित नहीं है। आलोच्य विषयों के सम्बन्ध में ह स्पष्टीकरण करेंगे।

• • •

विष्णु के तीन पग

ऋग्वेद भगवान विष्णु त्रिविक्रम के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऐतेरेय ब्राह्मण (६।३।१५) के अनुसार देवताओं और दैत्यों में भूमि के प्रश्न पर संघर्ष हुआ। असुरों ने स्पष्ट कहा कि इन्द्र को उतनी भूमि ही प्राप्त हो सकेगी जितनी कि विष्णु अपने तीन पगों से नाप सकें। देवताओं ने इसे स्वीकार किया। विष्णु ने सारे लोक, वेद और वाणी इन तीनों को नाप लिया।

शथपथ ब्राह्मण के द्वितीय अध्याय और पाँचवे ब्राह्मण में भी इसी तरह की कथा उल्लखित है। पुराणों में यह कथा अत्यन्त विस्तार से दी गई है। असुरों का बल बहुत बढ़ गया था। उनके नेता थे बलि और गुरु शुक्राचार्य। बलि ने १०१ अश्वमेध यज्ञ किए। इन्द्रासन छीन लिया। इन्द्र को आसन वापिस दिलाने के लिए भगवान ने अदिति के गर्भ से वामन रूप में जन्म लिया। बलि के यज्ञ में वह बोने ब्रह्मचारी के रूप में गए और केवल ३ पग पृथ्वी की प्रार्थना की। बलि ने देने का संकल्प किया। विष्णु ने एक पग से सारी पृथ्वी शरीर से आकाश और बाहुओं से समस्त दिशाऐं नाप लीं। दूसरे पग से स्वर्ग ले लिया, तीसरे पग के लिए बलि को अपना सर नीचे करना पड़ा।

विष्णु के यह तीन पग किन्हीं महत्वपूर्ण तथ्यों की ओर संकेत करते हैं। प्राचीन काल से आचार्यों ने इसका विभिन्न प्रकार से स्पष्टीकरण किया है। इस सम्बन्ध में यास्क मुनि ने शाकपूणि और ओर्णवाभ

सम्मति का वर्णन किया है। शाकपूणि कहता है कि विष्णु के तीन पगों का अभिप्राय पृथ्वी अन्तरिक्ष और आकाश से है जो क्रमशः नीचे से ऊपर की ओर जाते हैं। और्णवाभ ने तीन पगों का सम्बन्ध सूर्य की दैनिक क्रिया से जोड़ा है।

विष्णु के तीन पग केवल पृथ्वी अन्तरिक्ष और आकाश की ओर ही संकेत नहीं करते वरन् यह अनेकों महत्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश डालते हैं। जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:—

ऋक् यजु और साम—

विष्णु पुराण (२।११।८,११) में कहा है कि जगत की स्थिति और पालन के लिए वे ऋक् यजु और साम रूप विष्णु सूर्य के भीतर निवास करते हैं। यह ऋक् यजु साम स्वरूपिणी वेद त्रयी भगवान विष्णु का ही अंग है। विष्णु भक्ति का अभिप्राय इन तीन वेदों का अध्ययन करना और उनकी शिक्षाओं व प्रेरणाओं को अपने जीवन में उतारना है।

उत्पत्ति, स्थिति और विनाश—

जगत की गति-विधियों के अध्ययन से यही ज्ञात होता है कि सृष्टि की हर वस्तु की तीन स्थितियाँ होती हैं। मनुष्य का जन्म होता है, वह बढ़ता है और अंत में नष्ट हो जाता है। बचपन, जवानी और वृद्धावस्था उसके जीवन की ३ अनिवार्य स्थितियाँ हैं। यह प्राकृतिक और स्वाभाविक है। इसमें कुछ भी परिवर्तन सम्भव नहीं है। जिस विवेकी पुरुष को जगत की इस वस्तु स्थिति का ज्ञान हो जाता है, वह अपने जीवन के हर कर्म को सावधानी से करता है, पाप, अन्याय अत्याचार, हिंसा, असत्य आदि से बचकर रहता है। क्योंकि वह जानता है कि जगत के यह भोग अनित्य हैं और हमारे जीवन का अंत भी अवश्यम्भावी है। इस लिए सत्कार्यों को करते रहना ही जीवन की सफलता है।

ईश्वर, जीव, और प्रकृति—

जीव—इन दोनों ईश्वर और प्रकृति के बीच में अवस्थित है। प्रकृति से अभिप्राय विनाशशील पदार्थों से है। जीव, का स्वाभाविक आकर्षण भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति और उनके भाग की ओर ही होता उनमें वह आसक्त रहता है। उनकी प्राप्ति में ही अपने जीवन का बहुमूल्य समय लगा देता है। यह आकर्षण उसे ईश्वर की ओर जाने से हो होता है। भौतिकता में लिप्त जीव ईश्वरत्व की बात भी नहीं सोच सकता बुद्धिमान व्यक्ति नहीं है, जिसका ध्यान अपने अन्तिम लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति की ओर रहता है और भौतिक सम्पत्तियों की उपलब्धि में ही जीवन में संघर्ष नहीं रहता।

सत, रज और तम—

यह तीनों तत्व जीव की प्रकृति में व्याप्त हैं। हर व्यक्ति में यह तीनों गुण विद्यमान रहते हैं। जो गुण जिस व्यक्ति में बढ़ जाता है। वही उसकी प्रकृति बन जाती है और उसके जीवन की गति-विधियाँ उसी ओर प्रयुक्त होती हैं। तम के बढ़ने से जीवन अंधकारमय हो जाता है। रज भौतिकता की ओर बढ़ाता है। सत् से ईश्वर तत्व बढ़ता है। जीवन की स्थिरता के लिए जितने रज और तम की आवश्यकता, है, उसे अपना कर सत् की वृद्धि करते रहना ही वास्तविक उन्नति के लक्षण हैं।

कर्म, भक्ति और ज्ञान—

मनुष्य कर्म किए बिना रह नहीं सकता। वह तो उसका आवश्यक धर्म हैं। उसी से उसकी शक्तियों का विकास होता है। अकर्मण्य होना नास्तिकता का द्योतक है। भक्ति का अभिप्राय है अपने इष्ट देव के प्रति श्रद्धा भावना, प्रेम करना, अपनी शक्तियों को उनके अर्पण करना, प्राणी मात्र में उनको व्यापक मानकर उनके दर्शन करना, सेवा करना

ज्ञान का अर्थ है, ईश्वर को तत्व रूप से अणु-अणु में समाया हुआ जानना और मानना, अपने को सब में और सब में अपने को देखना। भगवान विष्णु को इन तीनों का समन्वय अभीष्ट है। एक को अपना कर शेष की ओर से मुख मोड़ लेना उचित नहीं है। इन्हें संतुलित रूप से ग्रहण करना चाहिए।

धर्म, अर्थ और काम—

शरीर की सुरक्षा के लिए अर्थ का उपार्जन आवश्यक है। काम भी जीवन का एक अभिन्न अंग है। परन्तु इनके उद्देश्य विकृत न होने चाहिए। यदि इनकी गतिविधियों का सञ्चालन धर्म के लिए होता है, तब तो यह मोक्ष की ओर प्रवृत होने में सहायक होते हैं। अन्यथा नरक की अग्नि में जलाने का कार्य करते हैं।

दैहिक, दैविक और भौतिक—

यह तीन प्रकार के दु:ख लोक में माने गये हैं। इनका कर्म से घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। शुभ कार्य करने वाले को ही इनसे छुटकारा मिलता है। अत: ऐसे कार्यों का सम्पादन करना चाहिये जिससे यह त्रिताप छू तक न सके।

योग, यज्ञ और तप—

योग का अर्थ है चित्त वृत्तियों का निरोध। यज्ञ कहते हैं त्याग, परमार्थ और नि:स्वार्थता को। तप का अभिप्राय कष्ट सहना, परिश्रम करना। यह तीनों साधन शक्ति विकास के माध्यम हैं। सिद्धि प्राप्ति के लिए इनका अवलम्बन आवश्यक है।

माता, पिता और आचार्य—

इन तीनों को देवता की संज्ञा दी गई है। माता जन्म देती है, पिता पालन करते हैं, सभी भौतिक साधन जुटाते हैं। आचार्य ज्ञान का

विकास करते हैं। कृतज्ञता की पवित्र भावना से इनका उच्च सम्मान करना सामान्य मानवीय शिष्टाचार है जो इसका पालन नहीं करता वह विष्णु होती है।

देश, धर्म और जाति—

धर्म कहते हैं कर्तव्य को। जिस देश और जाति में जन्म लिया है, उनके प्रति निष्ठा और श्रद्धा रखना और उसके हित को अपना हित समझना, समय आने पर उनकी आन और शान पर अपनी समस्त शक्तियों को समर्पित करना ही सच्ची विष्णु भक्ति है।

भूत, भविष्य और वर्तमान—

सुन्दर भविष्य का निर्माण हर व्यक्ति का उद्देश्य रहता है। उसकी पूर्ति के लिए भूत काल के कार्यों का निरीक्षण करना चाहिए। उन अनुभवों के आधार पर अपने वर्तमान कार्यक्रमों को निर्धारित करना चाहिये तभी अभीष्ट की सिद्धि होगी।

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ—

जगत के बंधनों से छुटकारा प्राप्त करने के लिए सब प्रकार की आसक्ति और मोह से निवृत होना पड़ता है। यह संन्यास आश्रम में ही सम्भव हो पाता है। संन्यास तक पहुँचने के लिए ब्रह्मचर्य गृहस्थ और वानप्रस्थ का क्रमिक विकास आवश्यक है। यदि यही अव्यवस्थिति रहे तो संन्यास सफल न हो पायेगा। अतः अपने कार्यों को निष्ठापूर्वक निभाए हुए प्रगति पथ पर बढ़ते चले जाना चाहिये।

विष्णु के तीन पग इन महत्वपूर्ण सिद्धान्तों की याद दिलाते हैं जो जीवन का निर्माण करने वाले हैं। सच्चा विष्णु भक्त वही है जो अपने व्यवहारिक जीवन में इन्हें अपनाने का प्रयत्न करता है।

विष्णु और शेष २०

पौराणिक आख्यानों में भगवान विष्णु को शेषशैया पर लेटे हुए दिखाया गया है। व्यावहारिक रूप से यह असम्भव है। इस लिए बुद्धिवादियों ने अन्य पौराणिक कथाओं की तरह इस चित्रण को भी अव्यवहारिक कल्पना घोषित किया और गप्प की संज्ञा दी। सामान्यत: यह ठीक भी है कि जिसने शरीर धारण किया है, वह हजार फण वाले शेष पर कैसे सो सकता है? सर्प मानव का शत्रु है, उसे देखते ही काटने को दौड़ता है, वह एक मानव को अपना आधार बनाने की आज्ञा कैसे दे सकता है?

वास्तव में यह शरीर धारियों का सम्मिलिन नहीं वरन् एक काव्यमय कल्पना है जिसका उद्देश्य अनन्त का स्वरूप समझाना है। इस रूपक में शेष अनंत है और विष्णु सान्त। सान्त का आश्रय अनंत ही रहता है। जिसका कभी अन्त न हो, उसे अनंत कहते हैं और जिसका निश्चित अंत हो, उसे सान्त कहते हैं। शेष के हजार फण बताए जाते हैं। सहस्र अनंत का ही प्रतीक माना जाता है। अनंत की कल्पना सीधी रेखा में करना सम्भव नहीं है। यह आवश्यक है कि उसे कुण्डलित रूप में दिखाया जाए क्योंकि सीधी रेखा तो कहीं न कहीं समाप्त हो जाएगी और सान्त संज्ञा में आ जाएगी। सर्पाकृति कुण्डलित होती है। इसलिए वह उपयुक्त दिखाई देती है। अत: शेष अनंत का प्रतीक है और सान्त विष्णु को अपना आधार बनाए हुए है।

उस अनंत का आज तक कोई पार नहीं पा सका है। सृष्टि के विस्तार की कल्पना भी असम्भव है। परन्तु कुछ सापेक्षतावादी वैज्ञानिकों ने ब्रह्माण्ड को सान्त घोषित करने का दुःसाहस किया है और विश्व का व्यास १४० करोड़ प्रकाश वर्ष वताया है। इस सिद्धान्त के मानने वाले वैज्ञानिकों के अनुसार प्रकाश की एक रश्मि एक जगह से चल कर ब्रह्माण्ड का चक्कर लगाती हुई अपने मूल स्थान पर वापिस आ जाती है। ब्रह्माण्ड की सान्त घोषित करने वालों को अपनी कल्पना पर पूरा विश्वास नहीं है। सापेक्षतावादी गुट के एक वैज्ञानिक एडिंगटन ने अपनी पुस्तक "एक्सपेंडिंग यूनिवर्स" में स्पष्ट रूपसे स्वीकार किया है कि नक्षत्रों और नीहारिकाओं की निरंतर प्रगति हो रही है और विश्व का पोला पेट गुब्बारे की तरह फूल कर लगातार बढ़ रहा है। उन्होंने अनुमान लगाया है कि १०० करोड़ प्रकाश वर्ष के समय में इस ब्रह्माण्ड का व्यास दुगना हो जाएगा। इस लिए उन्होंने अपने पूर्व के विश्वास का स्वयं खण्डन किया है। जेम्स जीन्स ने अनंत के रूपक को ठीक ढंग से समझाया है। उन्होंने अपनी पुस्तक "इओस" जिसमें ब्रह्माण्ड विज्ञान का प्रतिपादन किया हैं, लिखा है कि—"जिस पृथ्वी पर हम रहते हैं, वह सारे विश्व की तुलना में इतनी है जितनी कि एटलांटिक महासागर में भरे रेत के कणों में से केवल एक कण।" एक मुठ्ठी में भरे रेत के कणों को गिनना भी सम्भव नहीं होता है फिर एक महासागर के कणों का गिनना सर्वथा असम्भव है। यही अनंत है।

सृष्टि के विस्तार का जहाँ तक पता लग सका है, शेष से भी इस ब्रह्म विस्तार की कल्पना नहीं की जा सकती। रात्रि में आकाश में जो अगणित तारागणों का समूह दिखाई देता है, उनमें से एक तो चमकने वाले होते हैं और दूसरे प्रकार के चमकते भी हैं और टिमटिमाते भी हैं। चमकने वाले तो हमारी पृथ्वी के वरावर है और सूर्य की

परिक्रमा में रत्त हैं । जो चमकते भी हैं और टिमटिमाते भी हैं, वह सभी सूर्य हैं। वह संख्या में एक अरब पचास करोड़ से भी अधिक हैं । उनसे सम्बन्धित गृह उनकी परिक्रमा कर रहे हैं । ज्योतिष शास्त्र के तत्ववेत्ताओं का विश्वास है कि द्यौलोक में ऐसे अरबों ही सूर्यो का निवास है। उनमें से प्रत्येक सूर्य का अपना सौर मण्डल है और हमारे सौरमण्डल की तरह उनसे ग्रह और उपग्रह सम्बन्धित है जो उनकी निश्चित परिक्रमा कर रहे हैं । इन सूर्यों से निकलने वाले प्रकाश की गति एक सैकण्ड में एक लाख ८६ हजार मील है और कई नक्षत्र इतनी दूरी पर स्थित हैं कि जब से सृष्टि की रचना हुई है, दो अरब वर्षों से अभी तक उनका प्रकाश यहाँ तक नही पहुंच पाया है जब कि सूर्य का प्रकाश पृथ्वी पर केवल ८ मिनट में ही आ जाता हैं । फिर जितने सौरमण्डल हैं, वह सब एक महा सूर्य के चारों ओर परिक्रमा कर रहे हैं ।

अब एक सौर-मण्डल की कल्पना कीजिए—

वृहस्पति सौर-परिवार का सबसे बड़ा सदस्य है । यह हमारी पृथ्वी से १३५०. गुना बड़ा है । इसका व्यास लग-भग १४२ हजार कि० मी० है। इसका व्यास पृथ्वी के व्यास से दस गुना अधिक है। यह ४१३२ दिनों में सूर्य की परिक्रमा पूरी करता है। इसके अपने नौ उपग्रह अर्थात् चन्द्रमा हैं। यह सूर्य से ७७ करोड़ ७१ लाख कि० मी० दूर है ।

बुध पृथ्वी से ७ करोड़ ७२ लाख ६४ हजार कि० मी० और सूर्य से ५ करोड़ ७८ लाख कि० मी० की दूरी पर है। इसमें पहाड़ और पहाड़ियों के भी होने का अनुमान है। शुक्र ग्रह पृथ्वी से ३ करोड़ ८१ लाख ३५ हजार कि० मी० और सूर्य से दस करोड़ ७८ लाख कि० मी० दूर है। यह सूर्य की परिक्रमा २२५ दिन में समाप्त करता है। अपने

अक्ष पर यह तेईस घण्टे इक्कीस मिनट में एक परिक्रमा पूरी करता है। इस ग्रह में काफी चमक है। इस पर सघन वायुमण्मल होने का अनुमान है। इस पर जीवधारियों के होने का भी सन्देह है। मंगल का व्यास ६७५७ किलोमीटर है। यह पृथ्वी से ५ करोड़ ४५ लाख ७१ हजार किलो-मीटर की दूरी पर है। सूर्य से २२ करोड़ ६८ लाख किलो-मीटर दूर है। इस पर २४।। घण्टे के दिनरात रहते हैं। इसके अपने दो उपग्रह हैं। शनि पृथ्वी से बड़ा और वृहस्पति से छोटा है। इसका व्यास पृथ्वी के व्यास से साढ़े नौ गुना है। यह सूर्य से १३८ करोड़ ५२ लाख किलोमीटर की दूरी पर है। इसके चारों ओर एक कुण्डली है। इस कुण्डली और शनिग्रह की दूरी ११८७१ किलो-मीटर है। अरुण ग्रह सूर्य से ४४९ करोड़ ७ लाख किलो-मीटर दूर है। इसके अपने चारउपग्रह हैं। यम सबसे छोटा ग्रह हैं। इसका व्यास ५८७३ किलो-मीटर है। सूर्य से यह ५९५ करोड़ ३४ लाख किलोमीटर दूरी पर है। यह अन्य ग्रहों की अपेक्षा सव से दूर है। कल्पना कीजिए इतने वड़े ग्रहों का निर्माण क्या कोई भौतिक शक्ति कर सकती है। उत्तर नकारात्मक में ही मिलता है।

आकाश गङ्गा में लाखों करोड़ों तारागण हैं। इन तारों की अपार संख्या को गिनना असम्भव है। इनकी पृथ्वी से बहुत दूरी है। इसलिए यह पास-पास दिखाई देने हैं। इस प्रकाशित श्वेतधारा का भी वृहद् विस्तार है। इसके विस्तार की गणना ही असम्भंव प्रतीत होती है। यह जानने के लिए कि इस आकाश गंगा का व्यास कितने किलो मीटर है, २८२० के आगे १६ बिन्दु लगाने पड़ेंगे

सौर मण्डल में नौ ग्रहों और उनके २६ उपग्रहों के अतिरिक्त बहुत से लघु पिण्ड भी स्थित हैं जिन्हें ग्रहिकायें या "अवान्तर ग्रह" कहते हैं। उनका स्थान मङ्गल और वृहस्पति के बीच है और यह भी

सूर्य की परिक्रमा करती रहती हैं। आकाश में तीन करोड़ निहारिकाएं हैं जिन्हें चमकीली गैस राशियां कहा जाता है। यह पृथ्वी से इतनी दूरी पर हैं कि इनका पृथ्वी पर प्रकाश पहुंचने में लगभग एक लाख वर्ष लग जाते हैं।

सृष्टि के विस्तार का गम्भीर अध्ययन हमें अपनी सीमित और क्षुद्र शक्तियों की याद दिलाता है। थोड़े से सामाजिक साधन जुटा कर मानव फूला नहीं समाता और गर्व से उस विश्व नियंता को भूल जाता है। अनंत का ध्यान करते हैं तो अपने अहं का विस्तार हवा में उड़ जाता है क्यों कि अपनी वास्तविकता का उचित अनुमान लग जाता है। पाश्चात्य विचारक विलियम कारएट ने भी कुछ ऐसी ही कल्पना की है। वह अपनी एक पुस्तक के उपसंहार में लिखते हैं कि जब मैं रात्रि को तारा गणों से भरे आकाश की ओर देखता हूं तो मुझे भय लगने लगता है कि इस कल्पनातीत सृष्टि की रचना करने वाली कोई महानतम शक्ति ही हो सकती है। जब एक ओर उस महानतम शक्ति का ध्यान करता हूं और दूसरी ओर अपने सीमित साधनों का अनुमान लगाता हूं तो उस शक्ति में और अपने में बहुत व्यवधान पाता हूं।

इससे स्पष्ट है कि अपना आत्म निरिक्षण करने वाला और सृष्टि की रचना की आधारभूत चैतन्य सत्ता के दर्शन करने वाला अपनी भौतिक शक्तियों पर गर्व नहीं कर सकता। जिस शक्ति के साथ विनाश जुड़ा हुआ है, उसका क्या विश्वास? उसके विकास और वृद्धि के लिए पाप, अत्याचार, अन्याय और पाखण्ड के दुष्कर्मों को करने से क्या लाभ? भौतिक सुख जो धूपछांह की तरह आते-जाते हैं, उनके लिए अपने शाश्वत आनन्द के स्रोत पर रोक लगा देने में क्या बुद्धिमानी है? नष्ट होने वाले शरीर के लिए अविनाशी आत्मा पर मल-विक्षेप जमा करते रहना कहां का विवेक है? अपने जीवन लक्ष्य को भूल कर भौतिक जगत की भूल-भुलैयों को उलझ कर रह जाना कहां की सफलता है?

अनन्त पर विश्वास करने वाला भौतिकता से ऊँचा उठकर अध्यात्म पर विश्वास करता है। भौतिक शक्तियों के संग्रह की अपेक्षा आत्मिक शक्तियों के विकास की ओर ध्यान देता है। उस चैतन्य सत्ता को विश्व के अणु-अणु में समाया हुआ अनुभव करता है। समस्त भूतों में उसे अनुभव करता है, प्राणी मात्र को अपने समान समझ कर उनसे प्रेम करता है, देश, जाति, सम्प्रदाय आदि के झमेलों में पड़ कर किसी से घृणा या द्वेष नहीं करता वह सारे विश्व के निवासियों को अपना कुटुम्बी परिवार का सदस्य मानने लगता है। वह केवल अपने परिवार, ग्राम, नगर, प्राँत, राष्ट्र की ही बात नहीं सोचता वह विश्व कल्याण के लिए तत्पर रहता है। परमार्थ और मानव जाति की निःसार्थ सेवा ही उसका एक मात्र स्वार्थ रह जाता है। यह भावना ही जीवन की सभलता का राज मार्ग है। इस पर चलने के लिए हजारफणों वाले शेष पर सोये विष्णु की कल्पना की गई है और बताया गया है कि जो शेष अर्थात् अनंत के आश्रित रहता है; वह विष्णु की तरह ऐश्वर्यशाली, साधन-सम्पन्न, क्षीर समुद्र में सब तरह से सुख शान्ति से रहता है। क्यों कि "नमो स्त्वनन्ताय सहस्रमूर्तये" की स्थापना करके उस अनंत की चारों ओर सहस्र मूर्तियाँ देखता है, सर्वत्र उसे व्याप्त अनुभव करता है, इस लिए वह गुप्त से गुप्त स्थान पर भी पाप करने को नहीं सोच सकता। निष्पाप आत्मा ही शाश्वत शान्ति और आनन्द के समुद्र में गोते लगाती है।

इस तरह से अनंत और सान्त के स्वरूप को समझाने के लिए यह काव्यमय कल्पना की गई है जो जीवन विकास के लिए अत्यन्त प्रेरक हैं।

विष्णु को सूर्य भी कहा जाता है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार सूर्य एक स्थान पर स्थित है। उसका भी कोई न कोई आधार अवश्य होना चाहिये। वह महासूर्य अथवा महान आकर्षण होनी चाहिये। आध्यात्मिक रूप में ऐसे कह सकते हैं कि इसके मूल में कोई एक ऐसी

अचिन्त्य शक्ति है जिसकी नाभि में यह विश्व अवस्थित है। उसी शक्ति को ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म, ओम आदि विविध नामों से पुकारा जाता है। यही सबका आधार है। उसी का नाम शेष है क्यों कि प्रलय काल में वही शेष रह जाता है। सूर्य का अभिप्राय ब्रह्माण्ड भी लिया जाता है। उस ब्रह्माण्ड का भी आधार यही शेष, ब्रह्म है।

शेष का नाम अनन्त है। अनन्त सूर्य और आकाश दोनों को कहते हैं। आकाश का हम अंत नहीं पा सकते, इस लिए उसे अनंत कहते हैं। विष्णु अर्थात् सूर्य का शयन स्थान वही अनन्त अर्थात् आकाश है। इस लिए मूर्त रूप विष्णु का आधार भी स्थूल सूर्य दिखाया जाता है।

यही विष्णु की शेष-शैया का रहस्य है।

• • •

विष्णु और वामन २१

पुराणों में देवासुर संग्राम की कथा आती है । असुरों के राजा बलि ने देवताओं को परास्त करके सारी पृथ्वी पर अपना राज्य स्थापित कर लिया। देवताओं की प्रार्थना पर विष्णु ने अदिति के गर्भ से वामन अवतार लिया और बलि के यज्ञ में ब्रह्मचारी के वेष में गये । वामन ने तीन पग पृथ्वी माँगी। दो पगों में वामन ने पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ लोक नाप लिया और तीसरा पग बलि के सर पर रखकर उसे पाताल भेज दिया। वामन छोटा था, बौना था परन्तु वह तीनों लोकों में, सारी सृष्टि में फैल गया। अणु महान हो गया। दोनों में साम्य है। दोनों की गतिविधियों में समता है। सृष्टि रचना के अध्ययन से यह तत्व और स्पष्ट हो जायगा। इसे हम आधुनिक विज्ञान के प्रकाश में देखेंगे।

आधुनिक विज्ञान द्वारा पुष्टि—

सृष्टि रचना को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक महत् और दूसरा अणु। सृष्टि के विस्तार का एक व्यापक रूप दृष्टि गोचर होता है और एक अति सूक्ष्म-अणु रूप। यदि हम पृथ्वी के विस्तार का ही अनुमान लगाएँ तो वह ही मस्तिष्क को चकरा देने वाला है। वैज्ञानिकों का कहना है कि भूमध्य रेखा पर पृथ्वी की परिधि ४०७६ किलो मीटर और ध्रुवों पर ४०००० कि० मी०। भूमध्य रेखा पर पृथ्वी का व्यास १२७५३ कि० मी० और ध्रुवीय व्यास १२७०९ कि० मी० है। इसके धरातल का क्षेत्रफल ५१ करोड़ २ लाख वर्ग कि०मी०

है। वैज्ञानिकों का अनुमान है। कि पृथ्वी को भारवहन क्षमता १६०० करोड़ व्यक्तियों की है। सूर्य की परिक्रमा करते हुए इसकी गति १०७१६१ कि० मी० प्रति घन्टा है। सूर्य पृथ्वी से १३ लाख गुना बड़ा है। ज्येष्ठा तारा सूर्य से तीन लाख गुना बड़ा है। परम ज्येष्ठा इससे भी कई लाख गुना बड़ा है। आकाश गंगा में लाखों करोड़ों तारागण हैं जिनकी संख्या गिन सकना असम्भव है। इस प्रकाशित श्वेतत धारा का भी बृहद् विस्तार है। आकाश में ३ करोड़ नीहारिकाएँ हैं जिन्हें चमकीली गैस रश्मियाँ कहा जाता है। वैज्ञानिकों ने अपनी सौ इंच के दूरवीक्षण यंत्र से सृष्टि के विस्तार का अनुमान लगाया है। वह भी एक महान चमत्कार दिखाई देता है। परन्तु वास्तव में यह विस्तार उससे एक अरब गुना बड़ा है। यह है सृष्टि का महत् रूप।

अणु का अध्ययन भी आश्चर्यों से भरा हुआ है। विज्ञान के अनुसार यह जगत ९२ मूल तत्वों से निर्मित हैं। हर तत्व परमाणुओं से बना हुआ है। परमाणु का वैज्ञानिक स्पष्टी करण इस प्रकार किया गया है कि उसके बीच में न्यूक्लियस होता है। इसका व्यास एक इंच के लाखवें भाग का भी सौ लाखवाँ भाग है। परमाणु का जीवन इसी पर आधारित है। इस न्यूक्लियस को केन्द्र मान कर "इलैक्ट्रोन" घूमते रहते हैं। यह केन्द्र से मिलने के लिए उत्सुक रहते हैं। परमाणु में न्यूक्लियस और लैक्ट्रोन निरंतर अपना कार्य करते रहते हैं। सृष्टि का हर पदार्थ इनका सम्मिलित रूप है। वैज्ञानिकों ने महत् और अणु दोनों के मूल भूत नियमों का अध्ययन किया है। वह इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि जो नियम महत् में काम करते हैं, उन्हीं नियमों से परमाणुओं का संचालन होता है। यही भारतीय पिण्ड और ब्रह्माण्ड सिद्धान्त है।

पिण्ड और ब्रह्मांड की शक्तियों में सादृश्यता—

वैज्ञानिकों ने मानव शरीर का निरीक्षण किया। इसमें उन्होंने लगभग एक छटांक गन्धक, एक छटांक चर्बी, एक सेर खांड़, आध सेर

एमोनिया, दो छटाँक नमक, छत्तीस सेर जल और इतना लोहा जिससे दो इंच लम्बी कील बन सकती है, पाया। यह शरीर का रासायनिक निरीक्षण है। भारतीयों ने इसका आध्यात्मिक सर्वेक्षण किया और श्रेष्ठतम प्राणी की उपाधि से इसे विभूषित किया। रासायनिक पदार्थ तो अन्य प्राणियों में इससे भी अधिक उपलब्ध हो सकते हैं, परन्तु जो कुछ मानव के पास है वह और किसी के पास नहीं। बुद्धि, विवेक, विचार और ऋतम्भरा प्रज्ञा की शक्तियों की ही इसमें विशेषता है। इनके सहयोग से वह दिव्य अनुभूतियों का स्वामी बन सकता है, महानताओं व दिव्यताओं का वह आगार बन सकता है, आत्मज्ञान प्राप्त करके वह ईश्वर के दर्शन कर सकता है, ब्रह्म में लीन हो सकता है अर्थात उच्चतम अवस्था को प्राप्त हो सकता है। इसीलिये अथर्व वेद में इन आठ चक्रों और नौ द्वारों वाली देह को देवताओं की नगरी अयोध्या कहा है। ऋग्वेद ने इसे ब्रह्मपुरी कहा है।

उपनिषदों ने इसे देवताओं का निवास माना। ऐतरेयोपनिषद (१।२।१–४) में वर्णन है—"परमात्मा द्वारा उत्पन्न देवता इस विशाल समुद्र में आ पड़े। तब परमात्मा ने उनमें भूख प्यास की अनुभूति उत्पन्न की। इस पर उन्होंने परमात्मा से कहा कि हमारे लिये ऐसे शरीर का निर्माण करो, जिसमें रहकर हम अन्नादि खा सकें। परमात्मा ने उन्हें गौ का शरीर बना कर दिखाया। उसे देखकर देवता बोले कि यह हमारे लिए ठीक नहीं है, तब परमात्मा ने उन्हें अश्व का शरीर दिखाया, उसे देखकर भी उन्होंने उत्तर दिया कि यह ठीक नहीं है। तब परमात्मा ने मनुष्य देह दिखाया, उसे देखकर देवता बोले कि यह बहुत ही सुन्दर रचना है। तब परमात्मा ने कहा कि अपने-अपने योग्य स्थानों में घुस जाओ। तब अग्नि देवता वाणी बन कर मुख में घुस गया, वायु देवता प्राण बन कर नासिका में घुसा, सूर्य चक्षु बन कर नेत्र गोलकों में प्रविष्ट हुआ, दिशाएँ श्रोत्र बन कर कानों में घुसीं, औषध रोग बन कर त्वचा

में पहुँची, चन्द्रमा मन बन कर हृदय में स्थित हुआ, मृत्यु अपान बन कर नाभि में और जल देह बन कर उपस्थ में स्थित हो गया।' मानव शरीर की इतनी महत्ता है कि इसमें देवताओं का निवास स्थान है, यह स्वयं दिव्य है।

सृष्टि की रचना का वर्णन करते हुए ऐतरेयोपनिषद (१,१।१-४) में कहा है—'सृष्टि से पूर्व एक मात्र परमात्मा ही था। उसने लोक-रचना का विचार किया। उसने स्वर्गादि उच्च-लोक अन्तरिक्ष, मर्त्यलोक और जलादि की रचना की। स्वर्ग से ऊपर के लोक, उनके आश्रय स्थान और लोकपालों की रचना की और जल से ज्योतिर्मय पुरुष को प्रकट किया। उसे देखकर परमात्मा ने तप किया और उनके तप से तेजस्वी हुए देह से अण्डे के समान हुआ, उसमें मुख का छेद बना, मुख से वागेन्द्रिय और वाणी से अग्नि का प्राकट्य हुआ फिर दो छिद्रयुक्त नासिका और उससे प्राण की उत्पत्ति हुई। प्राण से वायु और नेत्र छिद्र हुए उनमें चक्षु उत्पन्न हुए, चक्षु से सूर्य उत्पन्न हुए फिर कानों के छिद्र बने, उनमें सुनने की शक्ति उत्पन्न हुई। श्रवणेन्द्रिय के द्वारा दिशाऐं प्रकटीं और फिर त्वचा उत्पन्न हुई, त्वचा से रोम, रोमों से ओशधियाँ फिर हृदय और हृदय से मन, मन से चन्द्रमा प्रकट हुआ फिर नाभि उत्पन्न हुई, नाभि से अपान और अपान से मृत्यु देवता प्रकट हुए फिर उपस्थ, उपस्थ से रेत और रेत से जल की उत्पत्ति हुई।"

उपरोक्त दोनों वर्णनों से स्पष्ट है कि सृष्टि के स्वस्थ संचालन के लिये उत्पन्न की हुई शक्तियों और मनुष्य शरीर में निवास करने वाली शक्तियों में सादृश्यता है। ब्रह्मांड और पिण्ड दोनों में एक तरह की शक्तियाँ विद्यमान हैं। केवल छोटे-बड़े का अन्तर है। इसीलिये कहा जाता है कि जो कुछ ब्रह्माण्ड में है, वह सब कुछ इस मानव-पिन्ड में है। पिण्ड को ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त संस्करण समझना चाहिए पर इसी

सादृश्यता के करण ही वह ब्रह्माण्ड स्थित शक्तियों से अपना सम्बन्ध जोड़ने की सामर्थ्य रखता है, हालांकि उनका निवास उससे लाखों मील दूर है। यह अपार दूरी अनुकूल सम्बन्धों में कोई वाधा उपस्थित नहीं करती। ब्रह्माण्ड स्थित शक्तियों की अनुकूलता प्राप्त करके मानव अपने सुख सौभाग्य की वृद्धि करता है।

अण्ड और पिण्ड का सिद्धान्त—

उपनिषद् ने भी इस सिद्धान्त की स्वीकार किया है। छान्दोग्योपनिषद् (८।१।२–३) में कहा है—"यदि शिष्य आचार्य से पूछे कि इस ब्रह्मपुर में जो कमल रूप घर है और उसमें जो सूक्ष्म अन्तराकाश है, उसके भीतर क्या वस्तु है, जिसको खोजना चाहिए ? तो आचार्य को इसका उत्तर देना चाहिए कि जितना यह भौतिक आकाश दिखाई पड़ता है, उतना ही हृदय के भीतर का आकाश भी है। इसके भीतर स्वर्ग और पृथ्वी पूर्णतया स्थित हैं। इसी में अग्नि और वायु, सूर्य और चन्द्र, बिजली और नक्षत्र और जो कुछ भी इस लोक में है और नहीं भी है, वह सब इसके भीतर स्थित है।"

वेद ने भी इस सिद्धान्त की पुष्टि की है। यजुर्वेद (३१।१८) में कहा है—"उसी पुरुष के मन से चन्द्रमा, चक्षु से सूर्य, श्रोत्र से वायु और प्राण तथा मुख से अग्नि प्रकट हुई।"। अथर्व वेद (१७।४३।१-८ में कहा है—"जिस स्थान में ब्रह्म को जानने वाले दीक्षा और तप के द्वारा पहुँचते हैं, उसी स्थान में मुझे अग्नि,

स्वर्ग प्राप्त करने की बुद्धि देते हैं, वे मुझे भी वैसी ही बुद्धि दें। अग्नि देवता मेरे लिए प्राणापानादि पाँचों प्राणों को मुझमें स्थापित करें। वायु सूर्य मुझे चक्षु प्रदान करें। चन्द्र मुझे मन प्रदान करें, सोम मुझ सोम रसयुक्त करें, इन्द्र मुझे बल प्रदान करें, जल मुझे अमृतत्व दें, ब्रह्मा मुझे ब्रह्मज्ञान प्रदान करें।"

ज्योतिष के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सूर्य सिद्धान्त' में इस सिद्धान्त का अधिक स्पीष्टकरण करते हुए कहा गया हैं—'सूर्य का प्रतिनिधि हमारा आत्मा है, चन्द्रमा का प्रतीक मन है, मङ्गल का रक्त, बुध का वाणी, बृहस्पति का ज्ञान, शुक्र का वीर्य और शनि का सुख दुःख की अनुभूति है।"

वामन और विष्णु—

इस पिण्ड और ब्रह्माण्ड की प्रतिच्छाया ही हम पुराणों के वामन विष्णु आख्यान में पाते हैं। शयपथ ब्राह्मण (१।२।५।५) ने घोषणा की है "वामेनाह विष्णुरास" अर्थात् जो विष्णु है वही वामन है। वामन को बौना दिखाया गया है। वह पहले छोटा था, अल्प था, फिर वह बड़ा और विराट हो गया। अणिमा ही भूमा बनता है। अणु ही विस्तार पाकर महत् बनता है। वामन ही विस्तृत होकर विष्णु बनता है, विराट बनता है। छोटे से वामन ने अपने तीन छोटे-छोटे पैरों से सारी सृष्टि को नाप लिया। ऋग्वेद प्रथम मण्डल का १५४ वें सारे सूत्र में वामन के इस पराक्रम की यशोगाथा गाई है कि विष्णु के तीन पदों में सम्पूर्ण जगत निवास करता है।

विष्णु विराट है, विश्व-व्यापी देव है।

अरविन्द के शब्दों में—

विष्णु विस्तृत गति वाला (उरुक्रमः) देव है। यह वह है जो कि चारों गया हुआ है—जैसा कि ईश उपनिषद् के शब्दों में प्रकट किया है, 'स पर्यगात्'—उसने अपने को तीन रूपों में, द्रव्य, विचारक और रचयिता के रूप में पराचेतन आनंद में, मन के द्यौ में, भौतिक चेतना की पृथिवी में विस्तृत किया हुआ है, 'त्रेधा विचक्रमाणः'—उन तीन चरणों में उसने पार्थिव लोकों को माप लिया है, उसने उन्हें

उनके संपूर्ण विस्तार के साथ रच दिया है, क्योंकि वैदिक विचार में भौतिक लोक जिसमें हम निवास करते हैं केवल अनेक पदों में से एक है जो कि अपने से परे के प्राणमय तथा मनोमय लोकों को ले जाता है और उन्हें व्यापता है। उन चरणों में वह पृथ्वी तथा मध्यलोक की–पृथ्वी है भौतिक लोक, मध्य लोक है वायु अर्थात् क्रियाशील जीवनतत्व का अधिपति, प्राणमय लोक, त्रिगुणित द्यौ को तथा इसके तीन जगमगाते हुए ऊर्ध्वशिखरों को, त्रीणि रोचना, कामना है। इन द्युलोकों को ऋषि ने पूर्णता-साधक उच्चतर पद के रूप में (उत्तरं सधस्थं) वर्णित किया है। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ सचेतन सत्ता की उत्तरोत्तर प्रगतिशील आत्म-पूरिपूर्णता करने के त्रिविध स्थान त्रिषधस्थ है, पृथ्वी है निम्न स्थान, प्राणमय लोक हैं मध्यवर्ती, द्यौ उच्च स्थान है। ये सब विष्णु की त्रिविध गति में समाविष्ट हैं। पर इससे आगे भी है, एक वह लोक भी है जहाँ कि आत्म-परिपूर्णता सिद्ध हो जाती है, जो कि विष्णु का सर्वोच्च पद (चरण) है।"

मानव जीवन में भी सर्वत्र इस रूपक के दर्शन होते हैं। बच्चा पहले वामन होता है फिर विष्णु बनता है। उसमें विष्णु का बीज प्रतिबिम्बित होता है। हमारा शरीर तो वामन-छोटा है परन्तु मनकी कामनाएँ विराट् हैं, हम सारी पृथ्वी को अपने आंचल में लपेटना चाहते हैं। उनका कोई ओर छोर नहीं है। वासनाओं का अणु रूप में जन्म होता है परन्तु वह विराट् रूप धारण कर लेती हैं। उनका छोटे से शरीर में समाना सम्भव नहीं है।

विराट् दर्शन—

हमारी क्षुद्र वासनाएँ, कामनाएँ नियंत्रित होनी चाहिए। अन्यथा वह विराट रूप धारण करके हमारे जीवन नाश का साधन

बनेंगी। इस मन की क्षुद्रता के नाश के साथ अपने दृष्टिकोण को व्यापक, विशाल और विराट बनाना चाहिए। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का कहना है "प्रत्येक वस्तु या कर्म को अलग-अलग देखने की प्रवृति से मानवी अहंकार, शंका और अश्रद्धा का जन्म होता है। समस्त पदार्थों में व्यापक नियमों को देख कर मनुष्य विश्व की पहेली के अर्थ को समझने लगता है। उसके लिए सृष्टि एक उन्मत्त नृत्य की भांति न रह कर नियमित प्रक्रिया के रूप में उपस्थित होती है। उस प्रक्रिया का प्रत्येक अंश चेतन ज्ञानमय शक्ति से नियंत्रित प्रतीत होता है। मनुष्य सृष्टि के भार से स्वयं बाहर नहीं होता। वह उसे माथ में धारण की हुई देखता है। विश्व और विश्व-नियंता के सम्बन्ध का साक्षात्कार विराट् का दर्शन है।"

इस हमारे छोटे से शरीर-पिण्ड वामन में ही सारा ब्रह्माण्ड समाया हुआ है। यह पिण्ड—"ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त संस्करण है।" इसी में वह विराट् निहित है। इस पिण्ड और ब्रह्माण्ड, वामन और विष्णु में कोई अन्तर नहीं है, दोनों एक हैं। विज्ञान और अध्यात्म दोनों की आँख से देखें तो यह सिद्धान्त सत्य परिलक्षित होता है। हम अपने चारों ओर अपना ही रूप देखते हैं। आकृतियों का कोई मूल्य नहीं है। वह तो समय पाकर ध्वस्त होती रहती है, बदलती रहती हैं। यह ही उनका नियम है। परन्तु अंश मूल तत्व एक सा बना रहता है। प्राणीमात्र में हमें अपना स्वरूप ही दिखाई देता है। देश, जाति, रंग सम्प्रदाय के सभी भेद खोखले और असार दिखाई देते हैं। सभी प्राणियों से घनिष्ठ सम्बन्ध जुड़ा हुआ-सा लगता है। सारा विश्व अपना कुटुम्ब अनुभव होने लगता है। हृदय में प्रेम का सरोवर उछलने लगता है। मन चाहता है विश्व यात्रा कर के इस सृष्टि के हर प्राणी से गले मिला जाए। अपने से अलग हुए रूप को एकत्रित

किया जाए, मिलाया जाए। जो वाह्य नेत्रों से अलग दिखाई देता है, उसे आन्तिरिक नेत्रों से एक समझा जाए।

पशु पक्षी और वनस्पति लताएं भी इसी श्रेणी में आती हैं। सच्चा विष्णु भक्त उन्हें भी अपने परिवार का एक सदस्य मानता है। वह विश्व की हर वस्तु में उस एक मूल तत्व को समाया हुआ व्याप्त मानता है और तत्वतः व्यवहार करता है। वह आत्मा को सब भूतों में और सब भूतों को आत्मा में देखता है। यही विराट दर्शन है। वामन विष्णु आख्यान से भी यही अभिप्राय लक्षित होता है, यही प्रेरणा मिलती है।



विष्णु और क्षीर सागर २२

भागवत (१।३।२) के अनुसार भगवान विष्णु जल में शयन करते हैं और योग निद्रा में स्थिति हैं। अन्य पुराणों में वर्णित है कि उनका निवास क्षीर सागर में रहता है। यह एक आलोचना का विषय है जिसका प्रत्यक्ष रूप से कोई उत्तर नहीं है क्योंकि स्थूल रूप से दूध का समुद्र होना सर्वथा असम्भव है। कभी कुछ आलोचक कह बैठते हैं कि पुराण कल्पना लोक की सैर कराते हैं या उन्हें उपन्यासिक वर्णन की संज्ञा देते हैं जो वास्तविकता से दूर होते हैं। उपन्यास का उद्देश्य तो केवल पाठक के मन को उलझाए रखना होता है। उसे वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं होता। पुराणों को भी ऐसी कल्पित कहानियाँ कह दिया जाता है। पुराणों का गहन अध्ययन बताता है कि उनकी कथाओं में अलङ्करिक शैली को अपनाया गया है और प्रतीकवाद का सहारा लिया गया है। पुराणकारों की यह एक विशेष शैली है जिसे अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने अपनाया। क्षीर सागर के सम्बन्ध में भी यही नियम लागू होता है।

पुराणों में विष्णु को त्रिदेवों में पालन पोषण करने वाली शक्ति माना गया है। स्त्री जब शिशु को जन्म देती है तो एक व्यवस्थित प्राकृतिक नियम के अनुसार उसके स्तनों में दूध उतर आता है जो वह अपने शिशु को पिलाती है। वह दूध वैज्ञानिक रूप से नवजात शिशु के लिए ही उपयुक्त रहता है। गाय भैंस आदि पशुओं का दूध उसके लिए अप्राकृतिक व अनुपयुक्त रहता है। शिशु का प्रारम्भिक पालन पोषण इसी

माँ के दूध पर ही निर्भर करता है। विश्व की हर पालन व पोषण शक्ति में विष्णु का निवास माना जाता है क्योंकि वह सर्वव्यापी देव है। माँ के स्तनों में भी विष्णु निवास करते हैं। मां के स्तन भी शिशु के लिए दूध का खजाना, स्टोर अथवा सागर है। उसे जब भी भूख लगती है, तभी वह उनसे निकाल लेता है उसे कभी निराश नहीं होना पड़ता। उसकी आशाओं का समुद्र तो वह मां के स्तन ही हैं। माँ के स्तन एक प्रकार से क्षीर सागर का संक्षिप्त संस्करण हैं और पालक शक्ति विष्णु का निवास वहाँ आवश्यक है।

समुद्र शब्द की भिन्न-भिन्न परिभाषाऐं की गई है। साधारणतः समुद्र हम उसे कहते हैं जो असीमित जल का भण्डार है जिसमें देश की सारी नदियों का पानी गिरता है और समा जाता है। यह अलग-अलग स्थानों पर हिन्दुस्तान का महासागर, अरेबियन महासागर और पैसेफिक महासागर आदि नामों से अभिहित किया जाता है।

इसके अतिरिक्त वर्षा से जो पृथ्वी को भिगोता है, वह समुद्र कहलाता है (समुनत्ति इति वा)। जिससे जल, तरंग, भाप, फेन आदि उठते हैं, वह समुद्र है (समुद्र वन्त्यस्मादाप:)। ऋग्वेद १०।९८।५ में दो प्रकार के समुद्रों का स्पष्ट वर्णन है। कहा है "देवापि ऋषि ऋषिवेश के पुत्र हैं। उन्होंने तुम्हारे लिए श्रेष्ठ स्तुति करने का विचार कर यज्ञ किया। तब वे अन्तरिक्ष रूप समुद्र से पार्थिव समुद्र में वर्षा का जल ले आए।" अगले मंत्र में भी यही भाव व्यक्त किए गए हैं।" देवताओं ने अन्तरिक्ष को आच्छादित किया है। देवापि ने इस जल को प्रेरित किया। उस समय उज्ज्वल पृथ्वी पर जल प्रवाहित होने लगा।" (१०।९८।६)। ऋग्वेद १।१६४।४१,४२ में आकाशीय समुद्र की पुष्टि की है। जलों को प्रेरणा करने वाली विजली शब्दवान हुई। वह उन्नत आकाश में एक दो, चार, आठ और नौ पदों से युक्त सहस्र अक्षर वाली हुई है। उस

विजली से समुद्र प्रवाहित है। उससे चारों दिशाऐं रक्षित हैं। उससे मेघ जल वर्षा करते हैं और उसी से संसार प्राणवान है।"

वैदिक भाषा में आकाश का नाम भी समुद्र है। आकाश के यह १६ नाम हैं—अम्बर, वियत्, व्योम, वर्हि, धन्व, अन्तरिक्ष, अध्वर, स्वयम्भू, भू, आप, पृथ्वी, अघ्वा, सगर, पुष्कर, आकाश और समुद्र। इस में समुद्र को भी आकाश कहा गया है। ऋग्वेद १०।११४।४ में प्राण रूपी पक्षी ब्रह्माण्ड रूपी समुद्र में स्थित हुआ। आकाश को ही समुद्र कहा गया है।

पुराणों में गंगा को विष्णु-पद भी कहा गया है। भागवत (५।१७।१) में इसका उल्लेख है कि जब राजा वलि की यज्ञशाला में भगवान विष्णु ने त्रिलोकी को नापने के उद्देश्य से अपना पैर बढ़ाया तो उनके बायें पैर के अंगूठे के नख से ब्रह्माण्ड का ऊपरी गोल टूटा उस छेद में होकर एक जल धारा बहने लगी जिसका स्पर्श करते ही संसार के समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। यह धारा हजारों युग व्यतीत होने पर स्वर्ग लोक के ऊपरी भाग ध्रुवलोक में उतरी जिसे विष्णु पद कहा जाता है।"

गंगा को विष्णु-पदी इस लिए कहा गया है कि जिस तरह विष्णु के तीन पद हैं—पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्युलोक उसी तरह गंगा का क्षेत्र भी यह ही तीन लोक हैं। जिस गंगा जल से हम इस पञ्चभौतिक शरीर को पवित्र करते हैं वह तो लौकिक जल हैं। इससे अतिरिक्त दो प्रकार के और जल हैं जिनका निवास स्थान अन्तरिक्ष और द्युलोक हैं। वेद इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। ऋग्वेद (१।२३,१७) मे कहा हैं" जो जल सूर्य के पास स्थित है, अथवा सूर्य जिनके साथ है, वह हमारे यज्ञ को सींचें।" इसमें द्युलोक स्थित जल का वर्णन है। ऋग्वेद के सातवें मण्डल के ४६ वें सारे सूक्त में अन्तरिक्ष जल का उल्लेख है "जल देवता

अन्तरिक्ष में आते हैं। इन्द्र ने उन्हें मुक्त किया, वे जल हमारे रक्षक हों।" (१)। "अन्तरिक्ष में उत्पन्न होने वाले जल, नदी में प्रवाहित या कूप रूप में खोदकर निकाले गए जल और समुद्र की ओर जाते हुए जल यह सब हमारे रक्षक हों (२)। जिन जलों के स्वामी वरुण मध्य लोक में गमन करते हैं। वे प्रकाश युक्त, रस सम्पन्न जल हमारे रक्षक हों "(३)" जिन जलों में वरुण और सोम निवास करते हैं, जिनके अन्न से विश्वेदेवा प्रसन्न होते हैं और जिनमें वैश्वानर अग्नि का निवास है, वे जल देवता हमारे रक्षक हों" (४) अर्थववेद के राज्याभिषेक सूक्त कहा है" हे राजन् ! जो स्वर्गस्थ जल प्राणियों को तृप्तिकर है, जो जल पृथ्वी और अन्तरिक्ष में है, उन लोक त्रय में व्याप्त जलों के अपरिमित पराक्रम वाले रस से तुझे अभिषिक्त करता हूँ" (४।८।५)।

इससे स्पष्ट है कि पृथ्वी वाले समुद्र का मूल आकाश स्थित समुद्र है और विष्णु आकाश व्यापी देव है। इस लिए उन्हें समुद्र में निवास करने वाला कहा जाता है। विष्णु को वेदों में सूर्य कहा गया है। सूर्य आकाश में निवास करता है। इस लिए विष्णु भी आकाश (समुद्र) में रहते हैं। दूध का मूल जल तत्व हैं और जल का उद्गम आकाश है। भारतीय ऋषियों ने ध्यान - अवस्था में देखा था कि हमें अपना जीवन धारण करने के लिए प्राण तत्व आकाश से ही प्राप्त होता है। पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्यु यह तीन लोक हैं। सबका मूल द्युलोक है। जो कुछ द्युलोक में है। वही अन्तरिक्ष में है और जो अन्तरिक्ष में है वही पृथ्वी पर है। जो भी खाद्य पदार्थ यहाँ उत्पन्न होते हैं। उनका मूल आकाश में है। यदि वह वहाँ न होगी तो यहाँ भी होना असम्भव है। उस मूल स्थान में ही विष्णु का निवास माना गया है।

ऋग्वेद १।२३।१६ में जल को मातृभूल कहा जाता है। जिस तरह माँ शिशु को जन्म देती है, उसी तरह जल से सारे विश्व की

उत्पत्ति मानी गई है। जल विश्व की महत्व शक्ति है। वृहदारण्यकोपनिषद (२।१) में कहा गया है "पहले यहाँ मृत्यु के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। उसने आत्मा से सम्बन्ध जोड़ना चाहा। उसने अर्चन करते हुए आचरण किया। अर्चन से आप हुआ। अर्चन करते हुए मेरे लिए 'क' (जल-सुख) प्राप्त हुआ। यही क कंवय अर्कत्व है। "आप ही अर्क है। उन आपका जो शर (स्थूल भाग) था, एकत्र हो गया। यह पृथ्वी हो गई। उसके उत्पन्न होने पर वह (मृत्यु) थक गया। उस थके और तपे हुए मृत्यु रूपी प्रजापति के शरीर से उसका सारभूत तेज (अग्नि) प्रकट हुआ (२।२)। इसमें भी जल से ही सृष्टि मानी है। Myths of Babylon and Assyria के अनुसार ईरान में भी मान्यता है कि वहाँ के प्रमुख देवता 'अहुर माजदा' ने जल से ही सारी सृष्टि की उत्पत्ति की; मिस्र में 'आइसिस' और 'ओसाइरिस' नाम के दो प्रमुख देव माने जाते हैं, उनके आंसुओं से ही विश्व को जीवधारियों की उत्पत्ति मानी जाती थी। बैबीलोन में भी 'या' देवता से 'अप्सु' के माध्यम से सृष्टि का निर्माण स्वीकार किया गया है। भारत ने भी जल से विश्व की उत्पत्ति मानी है। इससे जल को ही विश्व का महत्व प्राप्त है। जल का मूल आकाश है, समुद्र है, उस समुद्र में ही विष्णु का निवास है। पृथ्वी में जिस दुग्ध की उत्पत्ति होती है, उसका मूल आकाश है। दूध पौष्टिक पदार्थ है। पृथ्वी पर जितने भी पौष्टिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। उनका मूल भी आकाश है। समुद्र है। उसे क्षीर सागर ही समझना चाहिये।

पृथ्वीस्थ जल की अपेक्षा आकाशी जल स्थूल और सूक्ष्म दोनों दृष्टियों से पवित्र माना जाता है। पृथ्वी पर आने पर ही जल में दोष उत्पन्न हो जाते हैं। जब तक वह आकाश में रहता है, वह पवित्र और दोष रहित होता है। दवाओं के काम में लेने के लिए जल को फिल्टर किया जाता है। आकाशीय जल के लिए ऐसी कोई आवश्यकता नहीं

रहती वह पड़ा-पड़ा सड़ता नहीं है। वह पहले से ही प्रकृति देवी की व्यवस्था में फिल्टर हुआ होता है।

ऋग्वेद १।२३।१८ में जल को अमृत कहा गया है। ऋग्वेद १।२३।५ में जल को अत्यन्त दिव्य और पवित्र माना है "हे जलो! मुझमें स्थिति पाप को वहा दो। मेरे प्रति द्रोह भाव, अपशब्द और मिथ्याचरण को प्रवाहित करो'। यह स्थूल जल का नहीं, सूक्ष्म जल का वर्णन है। वह पवित्र है और पवित्रता प्रदान करता है। भगवान विष्णु के लिए यही स्थान उपयुक्त है। पृथ्वीस्थ समुद्र तो अशुद्ध माना गया है। उसका जल खारी होता है। उससे नमक बनाया जाता है। ऐसे खारी जल के समुद्र में विष्णु कैसे रह सकते हैं। वह स्वयं पवित्रता की मूर्ति हैं। उनका आधार निवास भी उनके गुणों के अनुरूप ही होना चाहिये। इसी लिये समुद्र में ही उनका निवास, शयन स्थान अलङ्करिक रूप में कहा गया है।

• • •

विष्णु और लक्ष्मी २३

विष्णु की पत्नी लक्ष्मी जी हैं। वह उनकी जीवन साथी, दासी और सेविका हैं। विष्णु के पास वह गुण है कि वह लक्ष्मी को उनकी सेवा करने पर बाध्य कर देते हैं। इसीलिये वह जन्मजन्मान्तरों से इसी कर्तव्य को निभाती चली आ रही हैं।

विष्णु परमात्मा की विभिन्न प्रकार की शक्तियों में पालन, पोषण और संरक्षण शक्ति के प्रतिनिधि हैं। वह प्रजापति हैं। प्रजा का पालन, संरक्षण और योगक्षेम उनका मुख्य कार्य है। विष्णु ही नारायण हैं। नारायण कहते हैं, नरों का संरक्षण करने वाले को जो उनकी परिस्थितियों का निरी-क्षण करके उनके सुख दुःखों पर विचार करता है।

पुराणाचार्यों ने जिस प्रकार सीता-राम, उमा-महेश, राधा-कृष्ण, पुरुष प्रकृति के जोड़े बनाए हैं। उसी प्रकार लक्ष्मीनारायण को एक में ग्रन्थित किया है। इसका भाव है नारायण प्रजापालक हैं। लक्ष्मी धन शक्ति की प्रतीक है। प्रजापालन और संरक्षण के लिये धन शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। उसके बिना उनका कार्य असम्भव है। इस लिए इनका चोली-दामन का साथ हैं।

पुराणों में जहां कहीं भी विष्णु और लक्ष्मी के कथा वर्णन आते हैं, वहां हम लक्ष्मी को विष्णु भगवान के पैर दबाते देखते हैं। लक्ष्मी सदैव उनकी सेवा में लीन रहती हैं। विष्णु ने अपनी चतुराई से उनको

अपने वश में कर रखा है। उनके वश में कभी नहीं हुये। यदि लक्ष्मी की चंचल व मोहक वृत्ति से वह उसके शिकंजों में आजाते तो प्रजा के संरक्षण का महानतम कार्य खतरे में पड़ जाता। इतिहास साक्षी है कि लक्ष्मी ने जिस किसी को भी अपने मोहजाल में फँसा लिया, उसे अन्धा बनाकर कर्तव्यच्युत कर दिया, उसकी विवेक व विचार शक्ति को नष्ट कर दिया, अहंकार व क्रोध रूप विष की वहाँ उत्पत्ति करदी, सभी प्रकार के भौतिक सुख उपलब्ध कराके भी उसे भय, असन्तोष और तृष्णा की अग्नि में जलाये रखा। समुद्र मंथन के समय मोहिनी रूप धारण कर असुरों को अपने सौन्दर्य जाल में फँसाकर अमृत देवताओं को वितरण करने का अभिप्राय भी यही है।

विष्णु के पास जो लक्ष्मी, धन व सम्पत्ति है, वह उसका उचित उपयोग जानते हैं। वह सारे धन को प्रजा के संरक्षण के कार्य में ही व्यय करते हैं। वह उपलब्ध धन को व्यक्तिगत नहीं वरन् सार्वजनिक समझते हैं। इसलिये उसे जनहित के कार्यों में ही लगाते हैं। लक्ष्मी सदैव उन्हीं की सेवा में रहती हैं जो उदार वृत्ति से निःस्वार्थ सेवा में दिन रात रत रहते हैं। शास्त्रकारों का भी आदेश है कि दान देने से धन बढ़ता ही है घटता नहीं। लक्ष्मी शक्ति को बढ़ाने का सर्वश्रेष्ठ उपाय उसे जनहित के कार्यों में लुटाना ही है।

वेद भी इसी सिद्धान्त की ओर संकेत करता है। यजुर्वेद (४०।१) में कहा है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम ॥

"अखिल विश्व में जड़ चेतन स्वरूप जो विश्व है, वह सर्व व्याप्त ईश्वर से परिपूर्ण है। उसे साथ रखते हुये इस विश्व को त्याग पूर्वक

भोगते रहो । लालच न करो क्योंकि यह धन किसका है ? यह किसी का नहीं है, राष्ट्र का है ।"

वैदिक अर्थव्यवस्था और समवितरण का यह सबसे बड़ा सिद्धान्त है, जिसकी घोषणा ऋषियों ने लाखों वर्षों पहले की थी। अन्य देशों में तो समाजवाद और साम्यवाद शब्द ही अभी कुछ समय से आविर्भूत हुये हैं। यहां तो लाखों वर्षों से इस सिद्धान्त को मान्यता दी जा रही है कि धन किसी एक व्यक्ति का नहीं है। इस पर सम्पूर्ण राष्ट्र का अधिकार है। इसलिये परमात्मा द्वारा दी हुई सम्पत्ति का उपयोग मर्यादित रूप में संयम से करना चाहिये। भोगों में लिप्त होकर उसे नष्ट कर देना पाप है। वेद भगवान का आदेश है कि त्याग से भोग के सिद्धान्त के अनुसार जीवन व्यतीत करो। तुम्हें उपलब्ध धन को केवल अपनी इन्द्रियों की तृप्ति के लिये भोगों में व्यय करने का कोई अधिकार नहीं है। इसलिये वेद का निर्णय है कि धन प्रजापति का है। इसलिये कोई व्यक्ति लालच न करे। त्याग से भोग करे, भोग से भोग नहीं।

इतिहास साक्षी है कि भारतीयों ने लक्ष्मी-नारायण के उच्च आदर्श को समझा और जब आवश्यकता पड़ी, अपने समस्त राज्य और सम्पत्ति को राष्ट्रहित के कार्यों में न्योछावर कर दिया। हरिश्चन्द्र ने महर्षि विश्वमित्र की आज्ञा से अपना राज्य ही उन्हें दानकर दिया था। महाराज रघु के पास तो जनहित की योजनाओं में व्यय करने के पश्चात् केवल मात्र कुछ मिट्टी के बर्तन बच पाये थे। भामाशाह ने अपनी सारी सम्पत्ति राणाप्रताप के चरणों पर रख दी थी। यज्ञों की परम्परा इसी वृत्ति की पोषक थी। यज्ञों के माध्यम से ही जन कल्याण की योजनायें संचालित की जाती थीं। यज्ञ का अर्थ ही त्याग व परमार्थ से है। सभी बड़े-बड़े राजे महाराजे यज्ञ किया करते थे। उनमें उदार हृदय से धन का व्यय करते थे। १०१ अश्वमेध यज्ञों के संचालन करने वाले ही इन्द्र

पद पाते थे। इसका अलंकारिक भाव भी यही है कि जो व्यक्ति जीवन भर जन कल्याण की योजनाओं को सफल करने में ही लगा रहा हो, वही उच्चतम आसन का अधिकारी होता था।

पुराणों की कथा के अनुसार जब समुद्र मंथन से लक्ष्मी निकलीं तो उनके मन मोहक रूप को देखकर असुर और देवता दोनों मुग्ध होगए। दोनों में संघर्ष होने लगा कि लक्ष्मी उनके अधिकार में ही होनी चाहिये। व्यवहारिक रूप में भी देखा जाय तो प्रतीत होता है कि परिवार, समाज और राष्ट्रों में लड़ाई, झगड़े और युद्ध धन को लेकर ही होते हैं। भाई-भाई, पिता-पुत्र के पवित्र सम्बन्धों में दीवार खड़ी करने का श्रेय इसे ही है। बेईमानी, धोखेबाजी, छल कपट, मिलावट, चोरी, लूटमार जेबकटी आदि के सभी अवगुण इसी के कारण पनपते हैं। एक देश का दूसरे देश पर आक्रमण करने का अभिप्राय उस देश की सम्पत्ति को लूटना ही होता है। भारत की अक्षय सम्पत्ति को देखकर सिकन्दर, गौरी, गजनवी, तैमूर, हिलाकू जैसे अनेकों लुटेरे यहां आये थे और हजारों प्राणियों के खून से अपने हाथ रंगे थे।

भारतीय ऋषियों ने तो इस सम्पत्ति को जड़ को मूल से ही काट दिया और शिक्षा दी कि तुम नंगे जाओगे, अपने साथ कुछ भी नहीं लाये थे और न ही कुछ ले जाने की क्षमता रखते हो। परमात्मा ने जो सम्पत्ति तुम्हें दी है, वह तुम्हारे लिए नहीं है। तुम्हें उपयुक्त अधिकारी समझकर तुम्हारे संरक्षण में रखी है ताकि इसका दुरुपयोग न हो सके। यह राष्ट्र की सम्पत्ति है। इसे राष्ट्र हित के कार्यों में लगाना। यदि इसे व्यक्तिगत सम्पत्ति समझ बैठे और केवल अपने शरीर के उपयोग में ही व्यय करना आरम्भ कर दिया तो इस पद के तुम अधिकारी नहीं समझे जाओगे। तुमको पदमुक्त करके उपयुक्त अधिकारी की यहाँ नियुक्ति की जायेगी।

इसलिए मिल बांट कर खाने की पद्धति प्राचीन काल से चली आरही है। अर्जुन ने जब स्वयंवर में द्रोपदी को जीत लिया तो घर जा कर अपनी मां कुन्ती से कहा, माँ एक बहुत बढ़िया वस्तु लाया हूँ। मां ने बिना कुछ विवरण पूछे कह दिया, "उसे पाँचों भाई आपस में बांट लो।" इसका भाव भी यही है कि समाज में मिलबांट कर खाना चाहिये।

देवालय में लक्ष्मीनारायण की युगलमूर्ति से साधक नाना प्रकार की आकांक्षा करता है परन्तु जो साधक उपरोक्त विचारधारा की इच्छा नहीं करता, वह निराश ही रहता है। लक्ष्मीनारायण की मूर्तियों में समाजवाद की अजस्र धारा अमृत के समान बह रही है। जो साधक इस अमृत का पयपान करने में सफल हो जाते हैं, वास्तव में वह अमर हो जाते हैं।

• • •

विष्णु और समुद्र मंथन

समुद्र मंथन की कथा संक्षेप में इस प्रकार है कि एक बार देवत और असुर भगवान विष्णु के पास गये और अमरता व नीरोगता क उपाय पूछा। भगवान ने सम्मिलित रूप से समुद्र मंथन करने का परामः दिया। दोनों ने इसे स्वीकार किया और मंथन आरम्भ हो गया। समु से पहसे हलाहल नाम का महाविष निकला। जो सब लोकों में फैल लगा। देवताओं को चिंता हुई कि इससे तो सारा विश्व नष्ट हो जायगा विष्णु ने कहा कि इसे केवल महादेव ही ग्रहण कर सकते हैं। देवता ने भगवान शंकर से प्रार्थना की जो उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार क ली। उन्होंने विष का पान किया। उससे उनका कंठ नीला हो गया औ वह नीलकंठ कहलाये। फिर मन्द्राचल समुद्र में धंसने लगा तो विष्णु कच्छप का रूप धारण करके उसे अपनी पीठ पर रख लिया और मंथ पुनः आरम्भ हुआ। उसके परिणाम स्वरूप अमृत, लक्ष्मी, कौस्तुभम उच्चःश्रवा घोड़ा और एरावत हाथी आदि रत्न निकले। अमृत निक पर असुर उसे छीन कर ले गये। विष्णु ने मोहिनी रूप धारण किय असुर मोहित हो गये और अमृत उसे दे दिया। यह अमृत देवताओं ही दिया गया और असुर उससे वंचित रह गये।

समुद्र की विशालता को देखकर उसके मंथन की योजना बन आकाश से तारे तोड़ने की तरह है, जो सर्वथा असम्भव है। यदि व्यवस्था वैज्ञानिक साधनों से सम्पन्न कर भी ली जाए तो उससे अ

विष, हाथी, घोड़ा मणि, लक्ष्मी और अप्सराओं आदि का निकलना कैसे सम्भव है ? यह निश्चय ही अलङ्कारिक कथा है।

"पुरुषो वै समुद्र" उक्ति के अनुसार पुरुष समुद्र का प्रतीक है। समुद्र की तरह वह भी अनंत है। इस पुरुष रूपी विशाल समुद्र में मन रूपी जल का अपार भण्डार भरा हुआ है। मन को एक महान शक्ति के रूप में निर्मित किया गया है। सृष्टि की रचना का आधार भी उसे बनाया गया है। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक सभी प्रकार की प्रगति उसी पर आधरित है। वही विकास का हेतु है। बन्धन और मोक्ष इसी पर निर्भर करता है। इसे जिधर भी मोड़ दिया जाए उधर ही यह सफलताओं के झंडे गाढ़ देता है। यह संत और डाकू, दुराचारी और सदाचारी—दोनों बनाने की क्षमता रखता है।

पापों में लिप्त मन को सम्बोधित करते हुए वेद में कहा गया है। "हे पाप में आसक्ति रखने वाले मन ! तू हम से दूर रह। तू अशोमन बातों को लाता है। इस लिए मैं तुझे नहीं चाहता। मेरा मन स्त्री पुत्र और गवादि पशुओं में उचित भाव से रहे" (अथर्व ६।४५।१)।

मन को पाप से बचाने के लिए मन को शिव संकल्प प्रेरणा और संकेत देने के लिए यजुर्वेद में कहा गया है—

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्जोतिस्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ।।

"जो मन ज्ञान, चिंतन और धैर्य से युक्त है, जो प्रजाओं के अंदर अमृत की ज्योति है और जिस के बिना कुछ काम नहीं किया जाता, वह मेरा मन शिव संकल्प वाला हो।"

ज्ञान की चेतना मन की गुह्य पर्तों के अन्तर्गत छिपी है। अमृत भी उस समुद्र में है परन्तु वह बिना मंथन परिश्रम के प्राप्त नहीं होता

उससे काम न लेना ही उसे अपना शत्रु बना लेना है, उसे काम में लगाये रखने से वह महान मित्र सिद्ध होता है और असम्भव को संभव बना देता है। परन्तु उसे शिव संकल्प वाला होने की आवश्यकता है।

येनेदं भूतं भुवनं भविश्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु॥

"जिस अपर मन से भूत वर्तमान और भविष्य सब कुछ परिग्रहीत है, जिस मन से सात ग्रहविज्ञों द्वारा होने वाला यज्ञ फैलाया जाता है, वह मेरा मन अच्छे संकल्पों वाला हो।"

इसमें जीवन निर्माण का आधार मन को ही स्वीकार किया गया है। परन्तु इसकी शक्ति का विकास तो मंथन से ही होता है। वही सिद्धि और शक्ति का साधन है।

इसी मन रूपी विशाल जल राशि का मंथन देव और दैत्यों ने किया। मन में अच्छे और बुरे दोनों तरह के विचार उत्पन्न होते हैं। अच्छे विचार सदाचारी जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देते हैं। अतः अमृत सिद्ध होते हैं क्योंकि सद्‌विचारों से ही सद्‌कार्यों की उत्पत्ति होती है। वही हमारी सुख शांति के कारण बनते हैं। सदाचारी व्यक्ति का मन सन्तुष्ट व प्रसन्न रहता है, उसे दुराचारियों की तरह भय नहीं सताता उसके मुख मण्डल से ऐसा प्रतीत होता है जैसे उसने अमृत का पान कर लिया हो, जिसे भौतिक अभावों में भी आनन्द की अनुभूति होती है। दुराचारों से लिप्त व्यक्ति यदि भौतिक साधनों से सम्पन्न भी होता है तो भी वह सदैव अप्रसन्न और असन्तुष्ट रहता है क्यों कि जैसे बुरे काम वह करता है, उसका भय उसके मन को निरंतर नोंचता रहता यही स्थिति विष पान के सदृश है।

कहा जाता है कि जब देवताओं की उत्पत्ति हुई तो सत्य, ज्योति और अमृत का सृजन हुआ और दैत्यों के जन्म के समय तम और मृत्यु

आविर्भूत हुए। शुद्ध मन जब देवलोक से पृथ्वी पर आकर भौतिक शरीर से संयुक्त होता है तो वह यहाँ की अपवित्रताओं से घिर जाता है। सहस्रदल कमल में निवास करने वाली शिवात्मक शक्ति से ही इसकी शुद्धि सम्भव है। शिव पर विष का कोई प्रभाव नहीं होता, वह मृत्युञ्जय हैं, मृत्यु पर विजय प्राप्त कर चुके हैं।

मृत्यु का अर्थ केवल इस पंचभौतिक शरीर का नाश ही नहीं है। वास्तव में आत्मा, चेतन अथवा विवेक के संयोग को जन्म कहते हैं और चेतन से वियोग होकर जड़ तत्व से संयोग होने पर मृत्यु होती है। अतः यह शरीर रहते हुए भी हमारी मृत्यु हो सकती है। इस व्याख्या के अनुसार ही इस नश्वर जगत में अधिकांश व्यक्ति मृत तुल्य ही रहते हैं। इस मृतक अवस्था को अनुभव करते हुए कोई उससे निवृत होने का प्रयत्न नहीं करता।

संसार के अणु-अणु में एक चैतन्य तत्व व्याप्त हो रहा है जो जड़ चेतन में एक रूप से समाया हुआ है और सारी सृष्टि का संचालन करता है। अणु-अणु में ईश्वर का निवास जानकर प्राणी-मात्र को अपने समान समझना ही ज्ञान है। इस ज्ञान को व्यवहारिक रूप देना ही जीवन है। इसके विपरीत चलना ही मृत्यु है। मृत्यु से शरीर का नाश होता है, अज्ञान से चेतना नष्ट होती है, विवेक मृतक अवस्था में पड़ा रहता है। जब मनुष्य क्षुद्र विचारों की गंदगी को पसंद करता है, वह मृत्यु की ओर दौड़ता है। उच्च विचारों की सुगन्धि मिलने पर उन्हें वास्तविक जीवन अमृत की प्राप्ति होती है। उच्च आदर्शों के लिए संघर्ष और निम्नगामी प्रवृत्तियों के विरुद्ध निरंतर लड़ते रहना ही जीवन है, मृत्यु पर विजय प्राप्त करना है, मृत्युञ्जय बनना है। जो सच्चा जीवन गति की कला जानते हैं। उन्हें शरीर के वियोग से कोई कष्ट नहीं होता, वह मृत्यु से भय नहीं खाते, वरन्

उससे दोडी हाथ लेने के लिये सदैव तैयार रहते हैं। हज़ार बिच्छुओं के काटने के समान जो कष्ट होता बताया गया है, वह उन्हें अनुभव नहीं होता, वह उसका हँसते-हँसते आलिंगन करते हैं। उनका अन्तःकरण जल की रश्मियों से आलोकित रहता है। वह शिव की तरह विष पान कर मृत्युञ्जय बन जाते हैं।

इस संसार की विशेषता यही है कि यहां के वातावरण में अमृत और विष दोनों व्याप्त हैं। दोनों अपने पक्ष की दृढ़ता के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। मनुष्य का बुद्धिकौशल इसी में है कि वह अमृत को ग्रहण करले और विष से प्रभावित न हो। इस उच्च स्थिति तक पहुंचने के लिए मन के मंथन, मनन और चिंतन की अपेक्षा रहती है। उसके दिये संकेतों से ही आत्मानुभूति की दृढ़ता होगी। मन के सहयोग से ही व्यक्ति यह अनुभव करेगा कि वह यह नष्ट होने वाला शरीर नहीं है वरन् अमर आत्मा है, उसकी मृत्यु असम्भव है, शरीर के तो रूप वदलते रहते हैं, उसका नाश और मृत्यु नहीं होती। यही समुद्र मंथन से अमृत का निकलना और देवताओं का उसे पीकर अमर होना है। जो व्यक्ति इस अमृत रूपी ज्ञान को पी लेता है, वह अमर हो जाता है।

समुद्र मंथन विष्णु के नेतृत्व और पथ प्रदर्शन में ही चलता है। मनन, चिंतन और आत्मानुसंधान में ईश्वरीय प्रेरणा आवश्यक है। उनके सहयोग से ही अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति होनी है। एक बार मन्द्राचल समुद्र में धस जाता हैं तो विष्णु कच्छप का रूप धारण कर उसे अपनी पीठ पर उठा लेते हैं। जब मन में शिथिलता आती है तो ईश्वरीय शक्ति की आवश्यकता रहती है। शक्ति विकास के विभिन्न साधनों का सहारा लेना पड़ता है तभी वह मंथन कार्य चलता रह सकता है।

समुद्र मंथन से आरोग्यता की प्रतिमूर्ति धन्वन्तरि निकले। शरीर का स्वस्थ व रोगी रहना मन पर ही निर्भर करता है। दोष पहले मन में

उत्पन्न होते हैं। बाद को शरीर पर प्रकट होते हैं। मन निर्दोष हो तो रोग की उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। होम्योपैथिक विज्ञान के जन्म दाता डा० हैनीमैन ने भी यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि बुरा करना, समझना और चाहना ही सभी शारीरिक रोगों की जड़ है। यदि यह दोष निर्मल हो जाए तो व्यक्ति पूर्ण स्वास्थ हो सकता है अन्यथा अच्छी से अच्छी दवाऐं उसके लिए व्यर्थ जाती है। मन की प्रेरणा से ही व्यक्ति बुरे व अच्छे कार्य करता है। वह इसे स्वस्थ व अस्वस्थ बनाता है।

समुद्र मंथन से लक्ष्मी का प्रादुर्भाव हुआ। लक्ष्मी शोभा का रूप मानी जाती है। आदर्श कार्यों से ही व्यक्ति की शोभा बनती है और दुष्ट कार्यों से वह नष्ट होती है। महाभारत में लक्ष्मी स्वयं कहती हैं कि वह सदाचरण करने वाले स्त्री-पुरुषों के घर निवास करती है, छली कपटी दुराचारी व्यक्ति के घर वह नहीं रह सकतीं। मन को जब शिव संकल्प दिए जाते हैं तो वह अच्छे कार्यों की ओर प्रवृत होता है जो उसके व्यक्तित्व की सुगन्धि चारों ओर फैलाते हैं। इससे उसकी शोभा, बढ़ती हैं। लक्ष्मी सदैव विष्णु के साथ रहती है। उनकी सेवा करती रहती है ताकि विष्णु उससे प्रसन्न रहें। विष्णु सद्‌विचारों के जनक, पालक और पोषक हैं। जहां सूर्य होगा, वहीं उसकी चमक साथ-साथ होगी। मन ही विचारों का उद्‌गम स्थान है। वहीं से सद्‌विचारों की उत्पत्ति होती है। वही शोभा लक्ष्मी का मूल स्थान है।

जब अमृत निकला तो उसे दैत्य छीन कर ले गए। बुरे व्यक्ति अपनी मानसिक निर्बलता के कारण बुरे काम करते हैं परन्तु अन्तर्मन से वह उन्हें घृणा और उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं और अच्छे कर्म करने को लालायित रहते हैं, परन्तु वह वातावरण के प्रभाव से इतने लिप्त हो चुके होते हैं कि उनका उस कीचड़ से निकलना असम्भव हो जाता है। परन्तु वह उच्च जीवन के आकांक्षी अवश्य रहते हैं। दैत्यों की भी यही इच्छा

थी कि वह अमृत पीकर, अच्छा मार्ग अपना कर सुधर जाएं। परन्तु जब मोहिनी रूप सामने आया, जब विषय वासनाओं का ताण्डव नृत्य होने लगा तो उनका मन भी वासनाओं में नाचने लगा और इस नशे में अपने मूल उद्देश्य को भूल गए। सद्मार्ग पर चलने के लिए इच्छा के साथ विवेक शक्ति की भी आवश्यकता रहती है जो पग-पग पर मनुष्य का साथ देती है और उसे भटकने से रोकती है। दैत्यों का मार्ग विकृत हो गया। उन्होंने अमृत को सुन्दर स्त्री के चरणों पर अर्पित कर दिया। जब उनकी वासनाएं प्रबल हुईं तो सद्-इच्छाएं दब गईं और वह वासनाओं के प्रवाह में बह गये। उनको अपने जीवन निर्माण की भी सुध बुध न रही और अपने जीवन की आहुति देदी। अमर पद पाने का अवसर खो दिया।

मन रूपी समुद्र के जल में निरंतर यह काण्ड होता रहता है। विष्णु मोहिनी रूप में दैत्यों की परीक्षा ले रहे थे कि वह अमृत के अधिकारी भी हैं या नहीं। वह परीक्षा में असफल रहे। अतः अमृत पान से वंचित रहे। वह अमृत देवों को मिला जो निरंतर दिव्य विचारों में रत रहते हैं।

समुद्र मंथन से कामधेनु, कल्पवृक्ष, उच्चैश्रवाः अश्व और ऐरावत हाथी निकले। यह मन की ही संज्ञाएं हैं। मन का सदुपयोग किया जाए तो वह कामधेनु और कल्पवृक्ष सिद्ध होता है, उससे जो कुछ माँगा जाए वह सब कुछ देता है और देने की क्षमता रखता है। शर्त यही है कि उसे सत्संकल्प ही दिये जायें। उच्चैश्रवाः और ऐरावत शक्ति के प्रतीक हैं। मन की भी यही संज्ञा है। एक वैज्ञानिक ने लिखा है कि यदि मन को पूर्ण रूप से एकाग्र किया जा सके तो उससे इतनी शक्ति की उत्पत्ति होती है कि एक बड़ी मिल चलाई जा सकती है। इसमें शक्ति के कोश निहित हैं। वह तो सारे विश्व को नियंत्रण में रखने की क्षमता रखता है।

इस तरह से समुद्र मंथन की कथा मन पर केन्द्रित हैं । इसका सार यह है कि जिन्हें सुव्यवस्थित जीवन जीने की इच्छा हो वह अपने मन को शिव संकल्पों से ओत प्रोत रखें ।

समुद्र मंथन की भौतिक व्याख्या इस प्रकार है । समुद्र आकाश का प्रतीक है । सूर्य को विष्णु कहते हैं । वह असुरों और देवताओं को समुद्र मंथन का परामर्श देते है । निघण्टु में मेघ को असुर कहागया है । सूर्य किरणों को 'देव' कहा जाता है । यह दोनों आकाशीय शक्तियां आकाश का मंथन आरम्भ करती हैं । सबसे पहले हलाहल विष निकलता है । वर्षा से पूर्व गर्मी बढ़ जाती है । घुटन सी लगने लगती है । हैजा, वातव्याधि रोग इसी समय फैलते हैं । रोग विष का प्रतीक है । वह स्वयं विष ही होते हैं । हलाहल विष का पान करने के लिए रुद्र से प्रार्थना की गई थी । 'विद्युत का नाम 'रुद्र' है' विद्युत जब चमकती है तो वह वर्षा की सूचना देती है । वर्षा होने से वातावरण में विष की कमी हो जाती है, रोग कम हो जाता है, स्वस्थ वातावरण का निर्माण होता है । यही रुद्र का विष पान है । विष के बाद अमृत निकलता है । 'अमरकोष' में जल का नाम अमृत है । अमृत की तरह जल का भी रूपान्तर हो जाता है । वह नष्ट नहीं होता । जल भाप बनकर आकाश में जाता है, मेघ रूप धारण करके पुनः वह पृथ्वी पर बरसने लगता है ।

समुद्र से अमृत निकलने पर असुर उसे लेकर भाग जाते हैं । यह जल से भरे मेघों का इधर-उधर आकाश में दौड़ना है । तब सूर्य अपना रूप बदल कर विद्युत रूप में आते हैं अर्थात् मोहिनी रूप धारण करते हैं । असुर मोहिनी रूप के सामने अपने हथियार डाल देते हैं और अमृत दे देते हैं । विद्युत मेघों को प्रभावित करके जल बरसाती है । वह मेघ जल की वर्षा करने लगते हैं अर्थात् अमृत दे देते हैं । वर्षा का होना ही देवताओं को अमृत मिलना है ।

उच्चैश्रवा: अश्व वायु का प्रतीक है। यह इन्द्र का वाहन है। इन्द्र वायु के अधिष्ठाता देवता हैं। वर्षा में वायु का महत्वपूर्ण भाग होता है। वह ही मेघों को इधर-उधर ले जाती हैं। 'एरावत' मेघ का ही नाम है। जल से भरें हुए मेघ को ही 'एरावत' कहा गया है। वह भी मदमस्त हाथी की तरह आकाश में घूमता है। मेघ से गिरे प्रस्तर को कौस्तुभमणि कहा गया है जो विष्णु सूर्य के शरीर की सज्जा है। यह सूर्य के कारण से ही है। लक्ष्मी की उत्पत्ति मेघों की शोभा का प्रतीक है।

यह आकाश का मंथन सूर्य के कारण होता है। समुद्र मंथन भी विष्णु के नेतृत्व में हुआ बताया गया है। यह वर्षा कालीन आकाशीय स्थिति का अलङ्कारिक वर्णन है।

जिस रूप में समुद्र मंथन की कथा को उपस्थित किया गया है वह तो स्पष्ट रूप से अलङ्कारिक है। परन्तु यह सम्भव है कि समुद्र का मंथन वास्तव में हुआ हो। मंथन का अभिप्राय अनुसंधान से है जिसके परिणाम स्वरूप अनेकों उपयोगी वस्तुओं को खोज निकाला गया होगा। यह तो निर्विवाद है कि प्राचीन भारतीय विज्ञान आधुनिक विज्ञान से किसी तरह कम न था, रूप भले ही बदल गया हो। अनेकों दृष्टियों से तो आधुनिक विज्ञान वहाँ तक पहुँच भी नहीं पाया है। आधुनिक विज्ञान ने समुद्र का मंथन आरम्भ किया है। समुद्र से खाद्य समस्या के समाधान होने की घोषणा वैज्ञानिकों ने की है। अब समुद्र मंथन के परिणाम स्वरूप अनेकों महत्वपूर्ण औषधियों का निर्माण किया जा रहा है और इस क्षेत्र में एक नए अध्याय का सूत्रपात हो रहा है। यह औषधियाँ विज्ञान के चमत्कार ही मानी जा रही हैं। इस तरह से समुद्र रत्न उगल रहा है।

समुद्रों के गर्भ से अब तक जो नये-नये उपहार प्राप्त हुए हैं उनमें

में रोगाणुनाशक औषधियां, पीड़ा-नाशक औषधियां और सम्भवतः एक कैंसर-नाशक औषधि भी शामिल हैं ।

समुद्र-गर्भ से औषधियों की प्राप्ति कोई नई बात नहीं है। शताब्दियों से एल्गा (एक प्रकार की घास) और समुद्री मछलियों द्वारा मानव रोगों के उपचार की किम्वदन्तियाँ प्रसिद्ध रही हैं ।

समुद्र लाखों किस्म के जीव-जन्तुओं से भरा पड़ा है। भूमण्डल पर जितने जीव हैं उन में से ८० प्रतिशत समुद्रों के गर्भ में हैं। यही नहीं, पृथ्वी की अधिकांश वनस्पतियाँ भी समुद्रों में उगती हैं। लेकिन, संभावित औषधियों का यह भण्डार अभी तक समुद्रों में लगभग अछूता पड़ा है ।

सौभाग्यवश, अब यह स्थिति तेजी से बदल रही है । अब अधिकाधिक वैज्ञानिक नाना प्रकार के समुद्री जीवाणुओं और वनस्पतियों का अध्ययन इस दृष्टि से कर रहे हैं कि इन में से कौन जीवाणु-विज्ञान की दृष्टि से अधिक सक्रिय पदार्थों अथवा तत्वों से युक्त हैं ।

न्यूयार्क-मत्स्यशाला की प्रयोगशाला के डा० जैकोवस्का का कहना है कि मृत जीवों के शरीर गलने पर आसपास का समुद्री जल दूषित हो जाता है, लेकिन स्पंजों के आसपास मृत जीवों के शरीरों के चारों ओर को जल स्वच्छ बना रहता है। उन्होंने सोचा कि शायद स्पंजों से अथवा उन के अन्दर मौजूद सूक्ष्म जीवाणुओं से ऐसा कोई पदार्थ निकलता रहता है जिससे जल को दूषित करने वाले कीटाणु पनपने नहीं पाते । यदि यह अनुमान ठीक हो तो उनसे अत्यन्त प्रभावशाली रोगाणुनाशक औषधि तैयार हो सकती हैं ।

आज समुद्र में पाये जाने वाले तत्वों से निर्मित औषधियों का विशेष महत्व है। भूमि स्थित स्रोतों से विकसित औषधियां कई प्रकार

के संक्रामक रोगाणुओं और फफूदियों पर नियन्त्रण प्राप्त करने में अधिक प्रभावशाली सिद्ध नहीं हुई हैं। इसके अलावा कई प्रकार के घातक रोगाणुओं की ऐसी नई किस्में हो गई हैं जो पेनिसिलीन जैसी चमत्कारी औषधियों का प्रभाव व्यर्थ कर देती हैं।

एक ऐसी विषाणु-नाशक औषधि, जिस की आज बहुत अधिक आवश्यकता है, का विकास नेशनल इन्स्टिट्यूट औव हेल्थ', वैथेस्डा (मैरिलैण्ड) के डा० सी० पी० ली कर रहे हैं। पाओलिन-२ नामक यह ओषधि समुद्री जीवों, जैसे सीप और घोंघों के शरीर में प्राप्त द्रवों के संयोग से तैयार की जा रही है।

मानस-विकार की शक्तिशाली दवाओं में से एक ज्ञात दवा भी समुद्र से प्राप्त हुई है। दक्षिणी सागर के मूल निवासियों को यह बात चिर काल से ज्ञात है कि कुछ मछलियों का मांस खाने से आत्म-विस्मृति हो जाती है। इन समाचारों से चकित हो कर कैलिफोर्निया के 'वर्ल्ड लाइफ रिसर्च इन्सटीट्यूट' के वैज्ञानिकों ने कुछ ऐसी मछलियाँ एकत्र कीं जिन के विषय में आत्म-विस्मृति उत्पन्न करने का गुण होने की अफवाह थी। उनमें से एक मछली से—जिस का नाम ही 'स्वप्न मत्स्य' रख दिया गया है—उन्होंने मानसिक औषधि की संभावना वाले अंश को पृथक कर लिया।

समुद्री जीवों और पौधों से उत्पन्न विष भावी औषधियों का अत्यन्त सम्भावनापूर्ण स्रोत है। समुद्री जीवों से अधिकतत प्रभावकारी विष उत्पन्न होता है। उधर मछली से निकलने वाला विष सबं से विषैली गैस से ३ हजार गुना तेज होता है। किन्तु समुचित रूप से नियन्त्रित और शोधित होने पर ये विष अत्यन्त उपयोगी औषधियों के साधन बन सकते हैं।

टेट्रोडोसिन जितनी अधिक पीड़ाहर औषधि है, उतनी विरली ही कोई होगी। यह पफर मछली के विष से तैयार होती है। जापान में इसका प्रयोग कैंसर के आखिरी चरण में होता है। इस का प्रयोग सिर-दर्द और मांसपेशी की पीड़ा को दूर करने के लिए भी होता है।

इस समय समुद्री जीवों के चिकित्सा सम्बन्धी गुणों की खोज करने वाले वैज्ञानिक समुद्री जीवों के मांस में पाये जाने वाले रसायनों का अध्ययन करने में संलग्न हैं। किन्तु समुद्री जीवों के एक अन्य पहलू—इनके भौतिक गुण—के सम्बन्ध में खोज करने के लिए उचित समय, धन और श्रम का अभाव है। फिर भी कई समुद्री जीवों की भद्दी क्षमताओं में शायद जीवन की आधारभूत प्रक्रियाओं के रहस्य निहित हो सकते हैं।

'स्टार-फिश' नामक मछली इस का एक उदाहरण है। यदि इस मछली की एक भुजा काट कर अलग कर दी जाये, तो उस में से एक दूसरी भुजा पनप उठती है। अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि इस प्रकार उत्पन्न भुजा में स्नायु विकसित होने लगते हैं और वह एक अन्य 'स्टारफिश' बन जाती है। 'स्टारफिश' के विकास को प्रभावित करने वाले एन्जाइमों की खोज करने से क्षतिग्रस्त स्नायु में जीवन का पुनः संचार करने और कटे अंगों के फिर पनपने की विधि विकसित हो सकती है।

इस समय जिन समुद्री औषधियों के विषय में खोज हो रही है, उन का प्रयोग डाक्टरों द्वारा कब से प्रारम्भ होगा? ऐसे संकेत मिल रहे हैं कि जब समुद्री उत्पादन से औषधियों का उत्पादन होने लगेगा तो मानवीय रोगों के उपचार के क्षेत्र में एक नये युग का सूत्रपात होगा।

यह रोग नाशक औषधियाँ रोगियों के लिए अमृत ही सिद्ध होगी। इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। जब इनके कारखाने लगेंगे और दवा काफी संख्या में बनने लगेंगी तो इससे लक्ष्मी का अविर्भाव भी सिद्ध है। उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि इसमें मृत जीवों का विष रहता ही है। सम्भव है उसके विषैले जल का भी अनुसंधान किया गया हो। विष को काटने ने के लिए विष भी एक उपयोगी वस्तु है। वह भी एक रत्न है।

इस तरह से मानव जीवन की उपयोगिता के लिए समुद्र का मंथन वास्तव में हुआ होगा। जो बात आज सम्भव है, वह पहले भी हो सकती है।

• • •

भागवत अष्टम स्कन्ध के अध्याय ६ में भगवान विष्णु के मोहिनी रूप का वर्णन है। देवता और असुर जब मिल कर समुद्र मंथन कर रहे थे तो उसमें से अनेकों प्रकार के रत्न प्रकट हुए। उनमें धन्वन्तरि द्वारा लाया गया एक अमृत का कलश भी था। अमृत को देखते ही दैत्य उस पर झपटे और छीन कर ले गए। वह अमृत पीकर अमर होने के लिए उत्सुक थे। यह निश्चय नहीं हो पा रहा था कि पहले कौन पिए ? इसी पर आपस में वाद-विवाद होने लगा। देवताओं को चिंता हुई कि असुर सारा अमृत स्वयं पी जाएँगे और देवता इससे वंचित रह जाएँगे। वह भगवान विष्णु के पास गए। भगवान ने उन्हें आश्वासन दिया कि वह अमृत उन्हें ही दिलाएँगे। उन्होंने एक सुन्दर स्त्री का मोहिनी रूप धारण किया और असुरों के पास गए। असुर उस मोहिनी रूप पर मुग्ध होगए। वह इस पर सहमत हो गए कि वह स्त्री जिसे भी अमृत पिलाए, उन्हें कोई आपत्ति न होगी क्योंकि असुरों में से प्रत्येक यह चाहता था कि वह स्त्री उसे पति रूप में अपना ले। भगवान ने मोहिनी रूप में अमृत देवताओं को पिला दिया। असुर उससे वंचित ही रहे।

इस कथा पर यह आलोचना की जाती है कि भगवान तो अपनी शक्ति से अमृत देवताओं को दिला सकते थे। उन्हें असुरों से छल क्यों करना पड़ा और उसके लिए भी एक सुन्दर स्त्री का रूप धारण करना पड़ा ? यह लोक मर्यादा के विरुद्ध है कि किसी उद्देश्य की पूर्ति

के लिए स्त्री को माध्यम बनाया जाए। यह तो अत्यन्त क्षुद्रता की बात है और उस समाज की गिरावट की निशानी है।

वास्तव में कथाकार का यह अभीष्ट नहीं है। उसका अभिप्राय यह है कि संसार का हर प्राणी अमर होने की इच्छा रखता है, वह मरना नहीं चाहता, मृत्यु उसे एक भयावने भूत की-सी लगती हैं। वह समझता है कि यह शरीर नश्वर है, इसे एक दिन मिट्टी में मिल जाना है परन्तु फिर भी उसकी प्रबल आकांक्षा रहती है कि कोई ऐसा उपाय हाथ लग जाए जिससे मृत्यु पर विजय प्राप्त करके अनिश्चित काल के लिए जीवित रहा जा सके। उसे संदेह रहता है कि न जाने इस जीवन के बाद कैसा जीवन-यापन करना पड़े। आधुनिक विज्ञान भी इस ओर प्रयत्नशील है परन्तु सफलता नहीं मिल पा रही है

भारतीय तत्वज्ञानियों ने मनुष्य के अमर होने के उपाय खोजे थे परन्तु उसके लिए अधिकार प्राप्त करना आवश्यक है। तप, त्याग, स्वाध्याय, मनन, चिंतन, निःस्वार्थता, निष्कामता, समता जैसे साधनों और विचारों को अपना कर अपनी आत्मशक्ति को पुष्ट करना होगा ताकि उस पर लाखों एटम व हाईड्रोजन बम भीं गिर पड़ें तो उसको कुछ क्षति न पहुँचा सकें। अमर होने का अभिप्राय आत्म भावना के ओत-प्रोत होने से है जब साधक यह विचार करता है कि मैं तो शरीर नहीं आत्मा हूँ। नाश होना मेरे शरीर की प्रकृति है। न जाने मैंने यह शरीर हजारों बार धारण किया होगा और हजारों बार यह नष्ट हुआ होगा और क्या पता कितनी बार इसके बाद भी ग्रहण करना पड़ेगा। इसमें चिंता की कोई बात नहीं है क्यों कि यह तो पुराने वस्त्र बदल कर नये धारण करने की तरह है। वस्त्र बदलने की प्रक्रिया में क्या कष्ट होना चाहिये ? अज्ञानता के कारण ही दुःखों का सृजन होता है। जब यह अज्ञान दूर हो जाता है तो आत्मा का वास्तविक रूप सामने आता है। व्यवहारिक रूप में आत्मानुभूति करने वाला सदैव निर्भय रहता है। उसे मारने की

शक्ति संसार के किसी भी नाशक यंत्र में नहीं होती। तभी वह अमर पद को प्राप्त होता है।

भगवान अमर पद देने के लिए अधिकार देख लेते हैं। घूस लेकर परमिट नहीं दे सकते। वह पहले कड़ी परीक्षा कर लेते हैं कि प्राणी जिस की आकांक्षा कर रहा है, वह उसकी योग्य भी है कि नहीं ? भगवान ने असुरों को अमृत वितरण करने से पहले उनकी परीक्षा ली कि उनमें कुछ विवेक, विचारशीलता, लोक मर्यादा, संयम आदि सद्गुण हैं कि नहीं ? यह तो क्षुद्रता का चिह्न है कि कोई स्त्री सामने आए तो मन में यह भावना उत्तेजित होने लगे कि काश यह स्त्री ही मेरी पत्नी होती। उस पर मुग्ध हो जाना और उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना परले दर्जे की उच्छृंखलता है! कामुकता मानव समाज का असह्य अभिशाप है। यह मानव जीवन की श्रेष्ठताओं और विशेषताओं को नष्ट करने वाली सत्यानाशी डायन है। एक विद्वान का कहना है कि "कहते हैं कि डायन बच्चों के भीतर से भीतर कलेजा खा जाती है और वह सूख सूखकर कुछ ही दिनों में मर जाते हैं। काम कला की डायन मानव जाति के होनहार आशा कुसमों के भीतरी कलेजे इस बुरी तरह चबाए जा रही है कि बेचारे किसी तरह जीवित कहलाने वाले चलते फिरते, सांस लेते दीखने वाले पुतले मात्र कहे जा सकते हैं।"

आज भी देखते हैं कि कामुकता की भावना को बढ़ाने के लिए हर प्रकार के-सस्ते साधन सुलभ है। चल चित्र इसका सबसे सशक्त माध्यम हैं। पत्र, पत्रिकायें और उपन्यास भी इस आसुरी भावना को प्रसारित करने में कम काम नहीं कर रहे हैं। यह मानव की मानवता पर गहरा प्रहार है। इससे मानवता रो उठती है। कामुक व्यक्ति की सारी शक्तियाँ जवाब दे देती हैं। उसका ओजस-चुम्बक तत्व नष्ट होता रहता है। उसकी मानसिक व आध्यात्मिक शक्तियों पर मूर्छा छा जाती है। दृढ़ता और निश्चयात्मक बुद्धि की शक्ति वह खो बैठते हैं। यही सफल जीवन के साधन हैं।

कामुक व्यक्ति के मन में निरंतर वासनाओं का ताण्डव नृत्य होता रहता है, उसकी इन्द्रियाँ काम भोग के लिए उत्सुक रहती हैं। मानसिक रूप में कामुक विचारों का चिंतन करने में उसे आनन्द आता है। कामुक चिंतन भी एक प्रकार का व्यभिचार है। मानसिक व्यभिचार में लिप्त व्यक्तियों की इन्द्रियाँ उत्तेजित हो जाती हैं और उनसे वीर्य स्राव होने लगता है, जीवन तत्व का ह्रास होने लगता है। अनेकों प्रकार के रोग आ घेरते हैं। कामुक विचारों से शरीर अग्नि बढ़ जाती है। खून की रफ्तार बढ़ जाती है, त्वचा में कम्पन होने लगते हैं। परिणाम स्वरूप जीवन दायिनी धातुओं का पिघलना आरम्भ हो जाता है। मूत्र मार्ग से स्रवित होते-होते उसकी संचित पूंजी नष्ट होती रहती है।

डा० राम चरण महेन्द्र का कहना है कि "मानसिक व्यभिचार में लगे रहने वालों में मूत्र मार्ग में एक चिकना, गाढ़ा सफेदी लिए, लसदार, चर्बी, एलव्यूयन, हड्डियों का सार आदि भाग निकल जाता है। जब अधिक गर्म मूत्र आता है तो उसमें कई बार फास्फोरस और लोह तत्व जैसी अमूल्य धातुयें मिली रहती हैं। मनमें कामाग्नि बने रहने से मूत्र मार्ग से पिघल कर यह नीचे बहते हैं और शारीरिक शक्ति की दिव्य पूंजी समाप्त होने जाती है। त्वचा, तन्तु, पेशियाँ और अस्थि पिंजर उस अग्नि में जलने लगते हैं। वैद्यों का कहना है कि लकवा, गठिया, कम्प, आदि वात सम्बन्धी रोग प्रायः अति मैथुन या विषय चिंतन का ही दुष्परिणाम हैं। कामवासना मस्तिष्क के लिए तो अत्यन्त घातक है। इससे स्मरण शक्ति और निश्चयात्मक शक्ति का लोप हो जाता है।"

वैज्ञानिक परीक्षणों ने भी सिद्ध किया है कि जिस व्यक्ति की काम ग्रन्थियाँ नष्ट होती रहती है, उसमें नव चेतना, पुरुषत्व, उत्साह, साहस और धैर्य जैसे गुणों का अभाव हो जाता है और व्यक्ति यौवन में ही वृद्धों की तरह निराश हो जाता है।

यह जीवन एक लम्बी यात्रा है। इस यात्रा की पूर्ति के लिए हम हज़ारों जन्मों से चल रहे हैं और सम्भव है हज़ारों जन्मों तक और चलना पड़े। इस जीवन यात्रा में चलने के लिए साधन तो शरीर है। उसका हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ रहना अत्यन्त आवश्यक है। अन्यथा साँस के रोगी की तरह दो कदम चल कर दस बार रास्ते में बैठेगा और अन्य साथी आगे निकल जाँयगे। एक दिन की यात्रा में दस दिन लगेंगे। तब पश्चाताप होता है कि मैंने उस शरीर रूपी मन्दिर की ओर कोई ध्यान नहीं दिया और मेरे जीवन तत्व नष्ट होते रहे।

जिसका शरीर स्वस्थ नहीं है, वह आध्यात्मिक साधनों की ओर कैसे ध्यान दे सकता है। स्वस्थ व्यक्ति ही साधन के लिए उपयुक्त है। कामुकता और स्वस्थ शरीर का वैर है। कामुकता और स्वस्थ शरीर का वैर है। कामुकता का स्पष्ट अर्थ है आत्मशक्ति का अभाव। जिसकी आत्मा बलवान है, उसके मनमें ऐसी क्षुद्र विचारधारा पनप नहीं सकती है, उसका विवेक उसे विषय-वासनाओं में लिप्त होने से रोकता है।

कामुक व्यक्ति की आत्म-शक्ति नष्ट होती रहती है, उससे वह अमरता के अधिकार को खोता रहता है। आत्मशक्ति के विकास और अमर पद की प्राप्ति के लिए इन्द्रियों का विजेता होना आवश्यक है, संयम की शक्ति से ही जीवन के मूल्यवान तत्व सुरक्षित रहते हैं और साधक आत्म विकास के मार्ग पर बढ़ने का अधिकारी होता है।

शास्त्र भी इस सिद्धान्त का अनुमोदन करते हैं। गीता (४।३९) में कहा है "जब श्रद्धावान मनुष्य इन्द्रिय निग्रह द्वारा ज्ञान प्राप्ति का प्रयत्न करने लगता है तब उसे ब्रह्मात्मैक्यरूप ज्ञान का अनुभव होता है और उस ज्ञान से उसे शीघ्र ही पूर्ण शान्ति मिलती है।" बुद्धि की स्थिरता का साधन भी गीता (२।५८) में इसीका बताया है। "जिस

प्रकार कछुआ अपने हाथ पैर आदि अवयव सब ओर से सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार जब कोई पुरुष इन्द्रियों के शब्द, स्पर्श आदि विषयों से अपनी इन्द्रियों को खींच लेता है तब कहना चाहिए कि उसकी बुद्धि स्थिर हुई।" गीता (५।२१) में स्पष्ट कहा है कि "(विषयोपयोग में जिसका मन आसक्त नहीं, उसे ही आत्म-सुख मिलता है और वह ब्रह्मयुक्त पुरुष उत्तम सुख का अनुभव करता है।"

नारदपुराण (अ० ३३) का भी मत है कि जितेन्द्रिय व्यक्ति को परब्रह्म की प्राप्त होती है। पर स्त्री से विमुख व्यक्ति भय के स्थान को नहीं देखते।"

मनुस्मृति (६।६०) का भी यही निश्चय है कि "इन्द्रियों के जीतने से मनुष्य मोक्ष के योग्य होता है।"

संत तुकाराम मोक्ष प्राप्ति के साधन को स्वानुभव से स्पष्ट करते हुए कहते हैं। "ईश्वर के पास कुछ मोक्ष की गठरी नहीं धरी है कि वह किसी के हाथ में दे दें। यहाँ तो इन्द्रियों को जीतना और मन को निर्विषय करना ही मुख्य उपाय है।"

सार यह कि संयम ही मोक्ष और अमरता की ओर बढ़ने का मार्ग है। जिसमें यह गुण नहीं हैं, वह इस मार्ग की ओर नहीं बढ़ सकता।

शाश्वत सुख शान्ति तो हर व्यक्ति चाहता है परन्तु वह अधिकार प्राप्त करने के लिए उसे आवश्यक तप भी करना पड़ेगा। उसके बिना यह अनाधिकार चेष्टा होगी। दैत्य अमृत पीना चाहते थे। भगवान ने उनकी परीक्षा ली। एक सुन्दर स्त्री के रूप में उनके सामने उपस्थित हुए। सभी दैत्य उस के रूप लावण्य से आकर्षित हुए और मन में विषय भोग को अनुचित योजनायें बनाने लगे। यह सभ्य पुरुषों का काम नहीं है। जो व्यक्ति साधारण नागरिक कार्यों की पूर्ति नहीं कर सकता, वह अमर होने की बात कैसे सोच सकता है ? सदाचरण से आत्मा पुष्ट होती

है। जिसने काम को जीत लिया है और आवश्यकता पड़ने पर शंकर की तरह अपना त्रिनेत्र खोलकर उसे जलाकर भस्म कर देता है और अपनी विवेक आँख को सतर्क रखने से काम वासना को निकट तक फटकने नहीं देता, उसी की आत्मा जगमगाती है। उसकी कांति दिन-दिन बढ़ने लगती है। आत्मा की शक्ति जितनी बढ़ती जाती है, उतनी ही इसकी आत्म-भावना स्थिर होती जाती है। वह शरीर को नश्वरता और आत्मा के अविनाशी तत्व को समझ जाता है : वह सुख दुःख को इस शरीर की धूप छांव के रूप में देखता है। वह सुख प्राप्त होने पर फूला नहीं समाता और दुःख और अभाव आने पर हाथ पटक कर रोता नहीं रहता। वह आपत्तियों और सुविधाओं में एक समान रहता है। मृत्यु को देख कर वह खिल-खिला कर हँसता है। उसे संसार की किसी भी शक्ति से भय नहीं होता क्योंकि उसे नष्ट करने की क्षमता किसी में भी नहीं होती। वह आनन्द के समुद्र में गोतें लगाता दिखाई देता है। वह एक अद्भुत मस्ती में झूमता है। यह मस्ती ही दुःखों से निवृत्ति, निर्वाण, स्वतंत्रता मुक्ति और अमरता का दूसरा नाम है। आत्मानुभूति की यह स्थिति जब आ जाती है, तब वह इस जीवन में ही अमर हो जाता है। अमृत पीने का अर्थात् अमर होने का अधिकार देवताओं को है। दिव्य विचारों वाले व्यक्ति ही इस मार्ग पर बढ़ने के अधिकारी हैं। यही इस मोहिनी रूप को प्रतीक कथा का मुख्य वास्तविक अभिप्राय है जिसको न समझकर हम इधर-उधर के आक्षेप करने लगते हैं।"

• • •

विष्णु और सूर्य २६

वेदों और पुराणों में विष्णु को सूर्य कहा गया है। अथर्ववेद १।३।१२।१ में कहा है कि जरायु से उत्पन्न जगत से पूर्व सृष्टि में सबसे प्रथम उत्पन्न वायु के समान शीघ्रगामी और अनन्त बल सम्पन्न सूर्य मेघों को गर्जाते हुए वर्षा के साथ आते हैं। यह सूर्य तीन लोकों में अपने प्रभाव से हमें प्रसन्न करे। ऋग्वेद ७।१००।१ में सूर्य रूप विष्णु से तीव्रता ग्रहण करने की प्रार्थना की गई है। ऋग्वेद १।१५६।४ में स्पष्ट रूप से सूर्य की ओर संकेत है। कहा है—विष्णु ही मित्र युक्त दिन को प्राप्त करने वाले श्रेष्ठ बल को धारण करते हुए अन्धकार को मिटा कर प्रकाश करते हैं। विष्णु पुराण २।८।५६ में सूर्य को विष्णु का परम अंश कहा गया है। महाभारत अश्वमेध पर्व में वामन को वर्ष के आरम्भ का सूर्य कहा गया है। अतः वामन रूप विष्णु भगवान से सूर्य भी अभिप्रेत है, जिनके तीन पग प्रातः दोपहर और संध्या है।

विष्णु पुराण १।१५।१३२।१३३ में कहा है "वे अति तेजस्वी उससे उत्पन्न होकर विष्णु, इन्द्र, अर्यमा, धाता, त्वष्टा, पूषा, विवस्वान सविता, मैत्र, वरुण, अंशु, और भग नामक द्वादश आदित्य कहलाए।" स्पष्ट रूप से द्वादश आदित्यों में विष्णु का भी नाम है।

महाभारत आदि पर्व अध्याय १२३ श्लोक ६५,६६ में भी द्वादश आदित्यों में विष्णु का नाम आया है।

विष्णु सूक्त का अर्थ करते हुए भास्कराचार्य ने लिखा है कि "जब वह सूर्य अपनी किरणों के द्वारा पूर्ण रूप से व्याप्त हो जाता है, तब उस सूर्य को विष्णु कहा जाता है।"

प्रातः कालीन सूर्य किरणों से पूर्ण रूप से युक्त नहीं दिखाई देता। जब वह पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्यौलोक में फैल जाती है। तब उनका नाम विष्णु हो जाता है।

'विश प्रवेशने' धातु से यह शब्द बनता है। जब सूर्य की किरणें सब ओर फैल जाती है, तब वह विष्णु कहलाता है।

"वि+ अश" से भी विष्णु शब्द बनता है। इसका भी यही अभिप्राय है कि जो किरणों के माध्यम से सब ओर व्याप्त हो जाए, उसे विष्णु कहा जाता है।

ऋग्वेद १।१५५।१ में विष्णु नाम आया है जिसमें कहा है कि विष्णु के पराक्रम को कहता हूँ। यहाँ सूर्य के पराक्रम की ही महिमा का गान किया गया है। क्योंकि इसी मंत्र में आगे कहा है कि उसने आकाश सम्बन्धी लोकों का निर्माण किया और उसीने अपनी आकर्षण शक्ति के बल पर ग्रहों को स्तम्भित कर रखा है। विष्णु ने तीन पैरों से तीन लोकों को नाप लिया अर्थात् सूर्य अपनी किरणों के द्वारा पृथ्वी, अंतरिक्ष और द्यौलोक में व्याप्त हो गये। वह अग्नि, वायु और सूर्य रूप से भ्रमण करते हैं।

अगले मंत्र में कहा है कि विष्णु के तीन पगों में सम्पूर्ण जगत निवास करता है। सूर्य की उष्णता तीनों लोकों में व्याप्त रहती है। इस लिए उसे 'त्रिविक्रम' कहा जाता है। आगे कहा है "पर्वत पर रहने वाले भयंकर पशुओं के समान यह संसार विष्णु के पराक्रम की प्रशंसा करता है। वन के पशुओं में जैसे सिंह बलवान और वन का राजा कहा जाता है, वैसे ही सूर्य भी समस्त ग्रहों में बड़ा और अधिक आकर्षण शक्ति युक्त है। इस लिए उसे भीम शब्द से सम्बोन्धित किया गया है।

इस सूक्त के तीसरे मंत्र में कहा है "जिन विष्णु ने अकेले ही अपने तीन पैरों में तीनों लोकों को नाप लिया, उन महाबली विष्णु की बहुत से जीव स्तुति करते हैं।" सूर्य को जगत की आत्मा कहा गया है। उसी पर जीवों का जीवन निर्भर करता है। अतः जीवन दाता के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए उनकी स्तुति करना स्वाभाविक ही है।

चौथे मन्त्र में कहा है "जिन अकेले ने त्रिगुणात्मक पृथ्वी, आकाश और सब लोकों को धारण किया है, वे विष्णु अक्षय स्वतन्त्रता में प्रसन्न रहते हैं और मनुष्यों को अन्नादि से युक्त करते हैं।" इसमें विष्णु का स्पष्ट अभिप्राय सूर्य से ही है क्यों कि सूर्य की कृपा से ही अन्नादि की उत्पत्ति होती है।

पाँचवे मन्त्र में कहा है कि विष्णु ही बन्धु है। उनका परम पद ही मधुरता (अमृतादि) का केन्द्र है। यह सूर्य का ही गुण है।

छठे मन्त्र में कहा है "हे इन्द्र और विष्णु! हम तुम दोनों के उस स्थान की कामना करते हैं, जहाँ अत्यन्त शक्ति-शाली सिद्धि रूप गौएँ हैं। स्तुति के योग्य विष्णु का उच्च पद तेज से परिपूर्ण है।" गो का अर्थ किरण होता है। अतः जहाँ सूर्य की किरणों पड़ती हैं, वही स्थान स्वास्थ्य की दृष्टि से श्रेष्ठ माना जाता है। जहाँ सूर्य किरणों का अभाव रहता है, वह स्थान रोगों का घर सिद्ध होता है। सूर्य जब पूर्ण रूप से आकाश में स्थित होता है। तब वह तेज से परिपूर्ण होता है।

पुराणों में विष्णु की प्रशंसा में लिखा है कि वह साकार होने पर भी निराकार ही है। यदि हम सूर्य की गति विधियों का अध्ययन करें तो विदित होगा कि प्रातःकाल सूर्य जहाँ से निकलता दिखाई देता है और सायंकाल जहाँ अस्त होता दृष्टि गोचर होता है, वहाँ कुछ लालिमा होती है। परन्तु वास्तविकता यह है कि सूर्य के मूल स्थान पर ऐसा कुछ नहीं होता। यह तो वायु मेघ और धूलादि के मिश्रण का परिणाम हैं।

सूर्य की किरणें जहाँ पड़ रही है, वहाँ यह विकार भले ही दिखाई देता हो परन्तु वास्तव में सूर्य में यह विकृति है नहीं। इसी स्थिति को आध्यात्मिक भाषा में माया कहा गया है। सूर्यास्त होने पर जब चारों ओर अन्धकार छा जाता है और रात्रि हो जाती है तो भी सूर्य अविचल रूप से अपने मूल स्थान पर स्थित रहता है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता, कोई विकृति नहीं आती। वह सदैव एक जैसे ही रहते हैं। विष्णु के ऐसे ही गुणों का दिग्दर्शन पुराणों में करा गया है।

विष्णु की 'गो—ति',गोपालं 'गोकुलपति' आदि नामों से प्रशंसित किया गया हैं। 'गो' का अर्थ किरण होता है। किरणों का स्वामी सूर्य ही है।

विष्णु-बलि कथा का स्पष्टीकरण इस प्रकार है:—

विष्णु सूर्य का नाम है। बलि अन्धकार को कहते हैं। बलि का नाम विरोचन भी है। रोचन का अर्थ है प्रकाश और विरोचन का विगत प्रकाश—कालिमा बलि के नाम से ही उसका रूप दृष्टिगोचर हो रहा है।

विष्णु को त्रिविक्रम कहा जाता है। उन्होंने तीन पगों से सारी सृष्टि को नाप लिया था। सूर्य को भी त्रिविक्रम कहा जाता है क्योंकि तीनों लोक में जिसका विशेप क्रम, पाद, प्रक्षेप, प्रभाव हो, अथवा तीनों लोकों में जिसकी किरणें व्याप्त हों उसे त्रिविक्रम कहते हैं, सूर्य की किरणें स्पष्ट रूप से पृथ्वी, अन्तरिक्ष व द्योलोक में अपना प्रकाश फैलाती हैं इसलिए सूर्य त्रिविक्रम है। प्रातः मध्याह्न और सायं भी उसके तीन पाद माने गए हैं। प्रातः काल सूर्य का प्रभाव कम रहता है। इसलिए बलि (अन्धकार) अधिक बलवान होता है। ज्यों ज्यों सूर्य बढ़ता है। त्यों त्यों बलि पाताल (नीचे को) जाता है। जब विष्णु दो पादों से सारी सृष्टि को नाप लेते हैं तो तीसरे के लिए स्थान नहीं रहता

तीसरे के लिए बलि अपना सर आगे बढ़ाते हैं, जिससे बलि पाताल में धँस जाते हैं। जब सूर्य यौवन पर होता है तो उसकी किरणें सारे लोकों से फैल जाती है। उस समय बलि के लिए कोई स्थान शेष नहीं रह जाता। सूर्य किरणें अन्धकार को पाताल में भेज देती हैं। बलि के पाताल चले जाने से देव इसे अपनी विजय मानते हैं। इन्द्र को राज्य वापिस मिल जाता है। देवता जीवों का प्रतीक है। सूर्य के उदय से जीव धारियों की प्रसन्नता स्वाभाविक है क्योंकि सूर्य को जगत की आत्मा कहा गया है। हमारा जीवन सूर्य पर निर्भर करता है। वह जीवन शक्ति का मूल स्रोत है। जहाँ सूर्य देवता के यदा कदा दर्शन होते हैं, सूर्य निकलने पर वहाँ उत्सव मनाये जाते हैं। जहाँ सूर्य प्रकाश नहीं पहुँचता वहाँ रोगों की उत्पत्ति होती है। बलि के पाताल जाने से देवताओं की प्रसन्नता का यही भाव है। रामायण के पात्रों पर भी यह रूप घटित किया जा सकता है। रामायण की घटनायें इस प्रकार हैं कि विष्णु राम रूप में अवतार लेते हैं। सीता से उनका विवाह होता है। राज्याभिषेक के समय कैकेयी के कहने पर पिता की आज्ञा से उन्हें १४ वर्ष का बनवास मिलता है।·राम लक्ष्मण और सीता को लेकर दक्षिण में जाते हैं। वहाँ रावण राक्षस द्वारा उसका अपहरण होता है। इससे राम विलाप करते हैं। दुःखी होते हैं। अहि, महि राक्षस राम और लक्ष्मण को पाताल में ले जाते हैं। हनुमान जामवंत उनकी खोज करते हैं। वे अन्धकार से परेशान हो जाते हैं। राम रावण युद्ध में रावण मारा जाता है। रावण का भाई कुम्भकरण छै मास तक सोता है राक्षस यज्ञों को नष्ट करते है। सीता पृथ्वी में प्रवेश करती है। आदि !

राम जब उत्तर की ओर रहते हैं तो उनके मार्ग में कोई विशेष बाधा नहीं आती। वे सुखी और सन्तुष्ट रहते हैं। सूर्य जब उत्तरायण में रहता है तो इसे शुभ समय माना जाता है। ऐसी धारणा है कि उत्तरायण काल में मरा हुआ व्यक्ति उत्तम लोकों में जाता है। गीता

८।१३ में भी भगवान ने स्पष्ट कहा है "उत्तरायण के छै महीनों में मरे हुए ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, वे पुनः इस लोक में नहीं लौटते" और दक्षिणायन के छः महीनों में मरा हुआ योगी चन्द्र लोक में जाता है और वहाँ जब उसके पुण्य घटने लगते हैं तो वह लौट आता है।" इस प्रकार शुक्ल और कृष्ण पक्ष जगत की दो शाश्वत गतियां हैं। एक तो मुक्ति का मार्ग है जिसमें वापिस नहीं आना पड़ता परन्तु दूसरे में वापिस आना पड़ता है।" (२६)

उत्तर में निवास करने पर राम को सहयोग मिलता है, ऋषि मुनियों के सहवास का अवसर प्राप्त होता है परन्तु जब वह दक्षिण में जाते है तो दुःखों का तांता आरम्भ हो जाता है। दक्षिण में जाने पर उनकी प्रिय सीता का हरण हो जाता है। सीता–सूर्य की शुभ प्रभा है। सीता का चुराया जाना सूर्य के प्रकाश के कम होने और अन्धकार बढ़ने का द्योतक है। राम जब पाताल में (दक्षिण में) जाते हैं तो उत्तर की ओर अन्धकार पड़ जाता है। राम जब उत्तर की ओर आते हैं तो राक्षसों का वध करके राज्य का सुख भोगते हैं। राक्षसों का अभिप्राय अन्धकार से है। छः मास तक होने वाले कुम्भकर्ण से छः मास की रात्रि का आभास होता है। राम जब दक्षिण में जाते हैं, तो वह जागता है और युद्ध में मारा जाता है। यह वर्णन उत्तर ध्रुव का दिखाई देता है। छः मास की रात्रि का होना और सूर्य का अन्धकार रूपी राक्षसों का नाश करना उत्तर और दक्षिण ध्रुवों की स्थिति का वर्णन प्रतीत होता है। सूर्य जब दक्षिण में जाता है तो उत्तर ध्रुव के निवासियों के लिए सूर्य अदृश्य हो जाता है। यहाँ राम और सीता (सूर्य और उनकी प्रभा) के हरण का अभिप्राय यही है ऊपर उठने से अन्धकार का नाश होता चलता है। सूर्य की प्रभा पुनः आ जाती है। सीता को रावण से छुड़ा लिया जाता है। अतः पूर्व की अव्यवस्था व्यवस्थित हो जाती है। सीता का पृथ्वी में प्रवेश करने का अभिप्राय सूर्य प्रभा का विलीन होना

है। राम दशरथ के पुत्र थे। दशरथ कहते हैं दश दिशाओं में गमन करने दिन को। सूर्य को 'दिवस पुत्र' कहा जाता है। दशरथ के वृद्ध होने पर पुत्र हुए। उत्तर ध्रुव में ३० दिनके उषाकाल होने पर दिनका सूर्य उगता है। जब राम (सूर्य) दक्षिण में जाते हैं तो दशरथ (दिवस) दुःखी होकर मर जाते हैं अर्थात् अन्धकार हो जाता है। जैसे दिवस के दशरथ कहे गए हैं। वैसे ही अन्धकार के भी होते हैं। जैसे दिवस अपने प्रकाश को दशों दिशाओं में फैला देता है, वैसे ही अन्धकार भी दशों दिशाओं में व्याप्त हो जाता है। रावण रूपी अन्धकार के भी इसलिए दश सर दिखाए गए हैं।

उपरोक्त तथ्यों से सिद्ध है कि शास्त्रों में वर्णित विष्णु सूर्य के प्रतीक हैं। सूर्य को भी वेद ने देवता स्वीकार किया है। विष्णु की प्रतिभा से सूर्य की महत्ता लक्षित है।

वेदों में सूर्य के महत्त्व को अधिक दर्शाया गया है। स्मृति, पुराण आदि में भी इसकी महिमा का वर्णन है, रोम, यूनान, मिश्र, जर्मनी आदि देशों के प्राचीन ग्रन्थों में भी सूर्य देव की स्तुति पाई जाती है। विदेशों में अभी तक विद्यमान कुछ सूर्य मन्दिर प्राचीनकाल में सूर्य भगवान की महिमा को गा रहे हैं। श्री मैथिली शरण गुप्त ने भारत-भारती में लिखा है कि दक्षिण अमेरिका के पेरू नामक राज्य में एक सूर्य मन्दिर है। इसकी मूर्ति का आकार उन्नाव के सूर्य मन्दिर की मूर्ति से मिलता है। कश्मीर में ललितादित्य द्वारा निर्मित मार्त्तण्ड मन्दिर और वालवक (मसोपोटामिया) का सूर्य मन्दिर अभी तक सूर्योपासना की प्राचीनता को सिद्ध कर रहे हैं।

सूर्य को पृथ्वी व अन्य उपग्रहों में रहने वाले जीवों के जीवनों का मूलाधार माना जाता है। श्री चार्लेस हैनेल ने सत्य ही लिखा है कि संसार में जितनी भी शक्तियाँ देखी जाती हैं, उन सबका विकास सूर्य से हुआ है। कोयला और लकड़ी में जलने की शक्ति, जीव

जन्तुओं की वृद्धि, वायु का वेग और जल का प्रवाह सूर्य की शक्ति के अलग-अलग रूप हैं।

जब हम धातु, उपधातु, मूल्यवान हीरे, रत्नों और मणियों आदि के पृथ्वी के गर्भ में निर्माण की बात सोचते हैं तो उपरोक्त विचारक की बात सत्य प्रतीत होती है क्योंकि भू-गर्भ विद्या के शास्त्रियों के अनुसार सूर्य की किरणों द्वारा ही मिट्टी में ऐसा रासायनिक परिवर्तन होता है।

सूर्य की किरणें जहाँ भी पड़ती हैं, उधर ही शक्ति के खजाने खुल जाते हैं। शरीर पर जब यह पड़ती हैं तो उसमें सजीवता स्फूर्ति, शक्ति लाती हैं । British Encyclopedia of Medical Practice में लिखा है कि चर्म पर सूर्य किरणें पड़ने से खून में विटामन 'डी' की उत्पत्ति होती है। वैज्ञानिकों का यह भी कहना है कि शरीर पर सूर्य किरणें पड़ने पर कैलशियम, फासफोरस और लोहे की वृद्धि होती है। केवल शारीरिक ही नहीं मानसिक शक्तियों में भी इनसे विकास होता है।

हमारे पूर्वजों ने इन तथ्यों पर लाखों वर्षों पहले विचार किया था। उन्होंने इस सम्बन्ध में खोज और अन्वेषण भी किये थे। यही कारण है कि वेद शास्त्रों में सूर्य को देवता स्वीकार किया जाता है और उसकी स्तुति और उपासना के वर्णन मिलते हैं।

वर्तमान विज्ञान के अनुसार सूर्य को वृहस्पति, मंगल, शनि आदि ग्रह, उपग्रह और पृथ्वी व उसके ऊपर के सभी पदार्थों का मूल माना जाता है। इसलिये इसे जगत की आत्मा कहते हैं। वेदों में कहा भी है।

सूर्य आत्मा जगतस्तथुषुश्च (ऋ० १।११५।१)

सूर्य ही स्थावर जंगम सबके अन्दर का वास्तविक जीवन है। यह जगत की आत्मा है। यह कथन अक्षराक्षर सत्य है क्योंकि सूर्य

हमें प्रकाश देता है, गर्मी देता है, शक्ति और स्वास्थ्य देता है। इसीके कारण वृक्ष, वनस्पतियाँ पैदा होती और बढ़ती हैं। वर्षा के मूल में सूर्य की किरणें ही हैं। सूर्य का अस्तित्व ही प्राणधारियों का जीवन है। यूं कहना चाहिये कि वह हमारा प्राण है। इसके अभाव में हमारा जीवन खतरे में पड़ जाय। संसार के सभी कार्य रुक जाएँ। खगोल विद्या विशारदों का कहना है कि बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति, शनैश्चर, अरुण और वरुण आदि ग्रह सूर्य की आकर्षण शक्ति द्वारा इसके चारों ओर चक्कर लगाते रहते हैं। सूर्य तो इन ग्रहों के प्रकाशन का कारण है। तभी प्रश्नोपनिषद में कहा गया है—

आदित्यो ह वै प्राणः ।। १।५ ।।

सूर्य ही निश्चय पूर्वक प्राण है।

यत्सव प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधते। (१।६)

रात्रि के पश्चात् जब सूर्य पूर्व में आता है तो पूर्व के प्राणों को अपनी किरणों में धारण करता है अर्थात् सूर्य किरणों में प्राण-तत्व समाया हुआ होता है या वह आकाश से खींच लेती हैं। इसीलिये प्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो० टिन्डाल ने कहा है कि "सूर्य ही वनस्पतियों और फिर पशुओं का पालन-पोषण करता है, वनों का कारण वही है, पेड़ों की वृद्धि का मूल वही है और प्राणी में उसे काटने के लिए कुल्हाड़ा चलाने की शक्ति भी उसी से पैदा होती है। तात्पर्य यह है कि वह संसार के सभी कार्यक्रमों का केन्द्र है।

सूर्य के प्रकाश में अद्भुत शक्ति होती है। वेद में प्रार्थना की गई है कि सूर्य के प्रकाश से हम कभी न बिछुड़ें।

नः सूर्यस्य संदृशे मा युयोथाः ॥ ऋ० (२।३३।१)

अथर्ववेद में भी सूर्य के प्रकाश की महिमा का वर्णन है।

अन्तकाय मृत्येव नमः प्राणा अपाना इह ते रमन्ताम ।
इहायमस्तु पुरुषः सहासुनः सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके ॥
(अथर्व ८।१।१)

"मृत्यु रूप देवता (परमात्मा) को नमस्कार है। तेरे प्राण और अपान इनकी कृपा से शरीर में विस्तार करें (अर्थात् वह सुख से जीवित रहें) यह मनुष्य प्राण और प्रजा (अन्य लोगों सहित) सूर्य के प्रकाशयुक्त पृथ्वी पर निवास करता रहे।"

इस मन्त्र से स्पष्ट है कि सूर्य का हमारे जीवन से कितना घनिष्ट सम्बन्ध है। उसके प्रकाश और गर्मी के बिना हमारा जीना सम्भव नहीं है। सूर्य की शक्ति द्वारा ही मनुष्य के शरीर के आन्तरिक कार्य उचित रूप से चल सकते हैं। इसके अभाव में वनस्पतियाँ व मनुष्य सभी निष्प्राण हो जायेंगे। अब तो वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया है कि सूर्य के प्रकाश से ही हमारे नेत्रों में प्रकाश उत्पन्न होता है। कठोपनिषद् (२।२।११) में सूर्य को समस्त ब्रह्माण्ड का प्रकाशक कहा गया है। आदित्य हृदय में इसे 'जगच्चक्षु' के नाम से सम्बोधित किया गया है। सूर्य के प्रकाश में इतनी शक्ति है कि फ्रांस के एक विद्वान ने इससे चलने वाला रेल का इन्जन बनाया था। इससे एक भानुताप यन्त्र बनाया गया है जिसमें बिना अग्नि के गर्मी और तपश आ सकती है।

वर्तमान सूर्य चिकित्सा प्रणाली के आविष्कार का श्रेय तो अमेरिकन डाक्टरों को है परन्तु भारतवर्ष में इसकी जानकारी लाखों वर्ष पहले से हो चुकी थी क्योंकि सूर्य किरणों में इस रोग रूपी विष को दूर करने की अद्भुत सामर्थ्य और शक्ति है, इसका प्रतिपादन करने वाले अनेकों मन्त्र वेदों में उपलब्ध होते हैं।

ये अंगानि मदयन्ति भक्ष्मासो रोपणास्तव ।
भक्ष्याणां सर्वेषां विषं निखोचमहं त्वत ॥
पादाभ्यां ते जानुभ्यां श्रोणिभ्यां परि भंससः ।
अनुकादर्षणी रूठिणहाभ्यः शपिर्णो रोग मनीनशम्
सं ते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च मो विधुः ।
उद्दन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशः ॥

(अथर्व ६।८।१६,२१,२२)

जो विष शरीर के अंगों को मदयुक्त वनाता है, और समस्त रोगों को दूर करता है, उसे मैं दूर करता हूँ । तुम्हारे पैर, जानु श्रोणि, कन्धे, सर, कपाल, हृदय और अवयवों में जो रोग विद्यमान रहते हैं, उन्हें सूर्य की उदय होती किरणें दूर करती हैं ।

अथर्व वेद में एक स्थान पर हृदय रोग और पीलिया की की चिकित्सा के सम्वन्ध में कहा गया है ।

अनुसूर्य मुदयनां हृदछोतो हरिमा च ते ।
गोरोहितस्य वर्णेन तेनतवा परिदध्मसि ॥
परित्वा रोहितैर्वर्णौदीर्घायित्वाय दध्मसि ।
यथायमरपा असदथो अहरितो भुवत् ॥
या रोहिणीर्देवत्या गावो या उत रोहिणीः ।
रूपं रूपं वयोवयस्ताभिष्ट् वा परि दध्मसि ॥

अथर्व (१।२२।१।२,३)

हे व्याधिग्रस्त पुरुष ! तेरे हृदय में जलन उत्पन्न करने वाला हृदय रोग तथा कामला, (पीलिया) आदि उत्पन्न पीलापन सूर्य के पीछे चला जावे । लाल रङ्ग की गोओं और सूर्य की लाल रङ्ग की किरणों से तुझे ढक कर स्वस्थ्य करता हूं ॥१॥ हे रोगिन ! तेरी दीर्घायु

और स्वास्थ्य के लिये हम तुझे गौ और सूर्य के रक्तवर्ण से ढकते हैं, जिससे तू पापरहित (व्याधिहीन) होकर कामला आदि से उत्पन्न हरिद्वर्ण से मुक्त हो जाये ॥२॥ देवताओं की जो कामधेनु आदि लाल वर्ण की दिव्य गायें (किरणें) हैं और मनुष्यों की लाल वर्ण की गाऐं हैं, इन दोनों प्रकार की गायों के रक्त वर्ण और यौवन को प्राप्त करके हम तुझे आच्छादित करते हैं ॥ ३ ॥

इस सूक्त में सूर्य किरणों की रोग निवारक शक्ति का वर्णन है। वैदिक कोष में गौ का अर्थ गौ और सूर्य दोनों होता है और यहाँ हृदय रोग और पीलिया के लिये सूर्य किरण और लाल रंग की गौओं के दूध पीने के लिये विधान बताया गया है।

अथर्व वेद के छठे काण्ड में गण्डमाला रोग के निवारण के लिये सूर्य और चन्द्र चिकित्सा के विधान का वर्णन है।

अपाचेनः प्र पतत सुपर्णो वसतेरिव ।
सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वो ऽपच्छतु ॥
(अथर्व ६।८३।१)

हे गण्डमालाओ ! इसकी देह से पृथक हो जाओ ! जैसे शीघ्र-गामी बाज या गरुड़ अपने घोंसले से शीघ्रता पूर्वक उड़ता है, वैसे ही तुम भी शीघ्र भागो। आदित्य तुम्हारी चिकित्सा करे और चन्द्रमा तुम्हें दूर भगावें।

इसका अभिप्राय यह है कि गण्डमाला जैसे कठिन रोगों को भी सूर्य किरणों से दूर किया जा सकता है। हमारे पूर्वज भली प्रकार जानते थे कि सूर्य किरणों में रोग निवारण की शक्ति है। यह दुर्गन्ध दूर करती है। इनसे रोग के कीटाणु नष्ट होते हैं। इसका कारण यह है कि हमारे खून में लाल और सफेद किरणों की वृद्धि हो जाती है जिससे खून की विध्वंसक शक्ति बढ़ती है जो विष को दूर करती है।

अमेरिका के श्री जोनडोन ने लिखा है। "सूर्य किरणों में क्षय और दूसरे रोग पैदा करने वाले प्राणियों को नष्ट करने का बल है। दूसरे वैज्ञानिकों ने यह भी सिद्ध किया है कि क्षय के कीटाणुओं को कागज या काँच पर रख कर धूप में २ से १० मिनट तक रहने दें तो वह मर जाएंगे। पब्लिक हैल्थ डिपार्टमेण्ट की ओर से संक्रामक रोगों की रोक थाम के लिये जो जानकारियाँ निकलती रहती हैं उनमें घर की समस्त वस्तुओं को धूप में सुखाने की सलाह दी जाती है क्योंकि सूर्य किरणों में एक प्रकार की जीवनी शक्ति है जो हमारे शरीर के प्रत्येक अंग और स्नायुओं को प्रभावित करके उन्हें स्वस्थ और निरोग रखने में सहायता प्रदान करती है। इसलिए जिन तंग मकानों में सूर्य रश्मियों का वास नहीं होता, वहाँ से निरोगता भी दूर रहती है क्योंकि यह हमारे शारीरिक स्वास्थ्य के लिये एक आवश्यक वस्तु है।

हम वैदिक विज्ञान की महत्ता को समझें—

शास्त्रों में कहा है कि विष्णु की उपासना, पूजा, भक्ति, प्रार्थना और सहस्रनाम पाठादि से रोग, शोक, चिंताएँ, बाधाएँ और त्रिताप दूर होते हैं। सूर्य हमारे स्वास्थ्य का मूल है। उसके सम्पर्क में रहने वाला कभी रोगी नहीं रहता। रोगी को निराशाएँ घेरती हैं, उसका मन निर्बल हो जाता है। शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ्य व्यक्ति मानसिक रूप से भी सबल हो जाता है, जिससे वह हर प्रकार की सांसारिक बाधाओं का हँसते-हँसते सामना करता है। वह संघर्ष को ही सच्चा जीवन मानता है, उससे अपने विकास का अनुभव करता है। वह जीने योग्य जीवन जीता है। उसका शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक व आत्मिक धन सुरक्षित रहता है। विष्णु भक्त पर लक्ष्मी भी कृपा करती हैं क्योंकि वह उनकी पत्नी हैं। ऐसा व्यक्ति लक्ष्मी को आशीर्वाद देने के लिए बाध्य करता है।

विष्णु सृष्टि के जीवों का पालन पोषण करते हैं। सूर्य ... यही गुण हैं। सूर्य को जगत की आत्मा कहा गया है। विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति होती है जो सृष्टि की रचना करते हैं। इस तरह से दोनों के गुणों में समानता है। यदि हम सूर्य शक्ति से पूरा-पूरा लाभ उठा सकें तो यही सच्ची विष्णु भक्ति है। सूर्य के प्रतीक रूप में विष्णु के जिन गुणों का वर्णन किया गया है, उसका यही अभिप्राय है जो हमारे शास्त्रों को अभीष्ट है।

• • •

ऋग्वेद १०।६०।१६ में कहा है—'तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन।' वह प्रथम धर्म थे, उन्हीं का धारण, संरक्षण विष्णु करते हैं। वह धर्मों को सँभालते हैं, धारण करते हैं।

विष्णु वह सत्व है जो व्यक्ति विशेष है, जो सर्वत्र व्यापक है, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्योलोक, भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक में फैला हुआ है। जो तीन पगों में सारी सृष्टि को घेर लेता है। त्रिविक्रम तो वह प्रसिद्ध ही है। उसकी जगमगाहट तीनों लोकों से अणु-अणु में दृष्टिगोचर होती है, प्राणीमात्र में वह समाया हुआ है। गीता (१८।६१) में भी कहा है "सब प्राणियों के हृदय में जीव रूप परमात्मा का निवास है।" कवि का कहना है—"जिधर देखता हूँ, उधर तू ही तू है।" परमात्मा को ही इस तत्व को जो समझ जाता है, वह धन्य हो जाता है, वह विष्णु के धर्म को, परमात्मा के धर्म को और अपने धर्म को समझ जाता है।

श्वेतत्त्व तरोपनिषद् का ऋषि अपने अनुभूति की सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है। "वही अग्नि है, वह सूर्य है, वह वायु है तथा वही चन्द्रमा है, वह अन्यान्य प्रकाशयुक्त नक्षत्र आदि है, वह जल है, वह प्रजापति है, वही ब्रह्मा है।" (४।२) "तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू ही कुमार अथवा कुमारी है, तू बूढ़ा होकर लाठी के सहारे चलता है तथा तू ही विराट रूप में प्रकट होकर सब ओर मुख वाला हो जाता है।"

(४।३)। तू ही नीलवर्ण पतङ्ग है, हरे रंग का और लाल आँखों वाला पक्षी एवं मेघ वसन्त आदि ऋतुएें तथा सप्त समुद्र रूप है, क्योंकि तुझ से ही सम्पूर्ण लोक उत्पन्न हुए हैं, तू ही अनादि (आकृतियों) का स्वामी है और व्यापक रूप से सब में विद्यमान है।" (४।४)

जो व्यक्ति इस ज्ञान को व्यवहारिक रूप में पाता है, उसी का जीवन सफल हो पाता है। गीता में भगवान ने इसे भिन्न-भिन्न प्रकार से समझाया है। उन्होंने ने कहा है–"जो आत्मा मुझ में है, वही सब प्राणियों में है।" "मैं सब प्राणियों में हूँ और सब प्राणी मुझ हैं।" (६।६६) "जो कुछ है, वह वासुदेव मय है" (१७।१४)। ऐसी बुद्धि रखने वाले को ही भगवान ने पंडित कहा है–"पंडितों अर्थात् ज्ञानियों की दृष्टि विद्या विनय युक्त, ब्राह्मण, गाय, हाथी ऐसे ही कुत्ता और चाण्डाल सभी के विषय में समान रहती है" (५।१८)। ऐसे व्यवहारिक ज्ञान रखने वाले पंडित और ज्ञानी को ही भगवान अपना परम पद प्रदान करते हैं। गीता में भगवान आश्वासन देते हुए कहते हैं—

"जिसकी ज्ञान दृष्टि में समस्त प्राणियों की भिन्नता का नाश हो चुका और जिसे वह सब एकस्थ अर्थात् परमेश्वर स्वरूप दीखने लगते हैं, वह ब्रह्म में मिल जाता है" (१३।३०)

"जो मुझ (परमेश्वर) को सब स्थानों में और सबको मुझमें देखता है उससे मैं कभी नहीं बिछुड़ता और न वही मुझसे कभी दूर होता है" (६।३०) "जो एकत्व बुद्धि अर्थात् सर्व भूतामैक्य बुद्धि को मन में रख कर प्राणियों में रहने वाले मुझको (परमेश्वर को) भजता है वह कर्मयोगी सब प्रकार से बर्तता हुआ भी मुझ में रहता है" (६।३१) "यह अनुभव हो जाने से कि "जो कुछ है वह सब वासुदेव ही है, ज्ञानंवान मुझे पा लेता है।" (७।१६)

"जिस ज्ञान से यह मालूम होता है कि वह भक्त अर्थात् भिन्न-भिन्न सब प्राणियों में एक ही अविभक्त और अव्यय भाव अथवा तत्व है उसे सात्विक ज्ञान जानो" (१८।२०) समस्त प्राणीमात्र में सम दृष्टि हो वह मेरी परम भक्ति को प्राप्त कर लेता है।" (१८।५४)। कैवल्योपनिषद में भी कहा है "जो आत्मा को सब भूतों में और सब भूतों को आत्मा में देखता है। वह परब्रह्म को प्राप्त करता है, दूसरे किसी उपाय से नहीं।" ईशावस्योपनिषद का कथन है "बुद्धिमान पुरुष प्राणी-प्राणी में परब्रह्म पुरुषोत्तम को समझ कर इस लोक से प्रयाण करके अमर हो जाते हैं। जो विष्णु के तत्व को समझता है उसे यही गति मिलती है।

विष्णु तीन पैरों से सारी सृष्टि को नाप लेते हैं। यह 'चलना' उनकी गति, क्रियाशीलता और सतर्कता की ओर इंगित करता है। वह सदैव जागरूक रहते हैं। ऐसा लगता है जैसे अश्वमेध का घोड़ा सेनाओं सहित उनके आगे-आगे चल रहा हो और शक्तिशाली से शक्ति-शाली राजा को भी उसे पकड़ने का साहस न हो। उनकी गति को रोकने की क्षमता किसी में नहीं है। वह निरन्तर गतिशील, क्रियाशील और संघर्ष रत रहते हैं"। यही वृत्ति जीवन को उन्नतिशील बनाती है, यही प्रगति और विकास का राज मार्ग है। खड़ा पानी सड़ जाता है। गति उसमें पवित्रता बनाए रखती है। विज्ञजनों ने आलस्य को मृत्यु और क्रियाशीलता को ही जीवन की संज्ञा दी है। विष्णु अजय हैं। उनके किसी काम में वाधा नहीं पड़ती। वह वाधाओं को पार करते हुए आगे वढ़ते हैं। जो व्यक्ति विष्णु के इस धर्म को अपनाता है। वह भी अजय वन जाता है। ज्यों-ज्यों वह आगे वढ़ता है, वाधायें रास्ता छोड़ कर खड़ी हो जाती हैं ताकि वह अपनी नियमित गति से चलता रहे।

जो नियम विश्व की उत्पत्ति के समय वने थे, उनको धारण किए रहना, उनकी देख रेख और संभाल रखना विष्णु का धर्म है। सूर्य

ग्नि का गोला है। उसमें अद्भुत आकर्षण शक्ति भर दी है। वह पृथ्वी, चन्द्रमा, वृहस्पति, बुध, शुक्र, मंगल आदि ग्रहों को चारों ओर घुमाता रहता है। उस व्यवस्था की कल्पना कीजिए कि सूर्य से १४ करोड़ ६ लाख कि० मी० की दूरी पर अरबों खरबों मनों वाली १०७१६१ कि० मी० प्रति घन्टा की शक्ति से चलने वाली पृथ्वी २ अरब वर्षों से लगातार सूर्य की परिक्रमा कर रही है और सूर्य अपनी शक्ति से उसका सन्तुलन बनाए हुए है। वृहस्पति की सूर्य से ६६ करोड़ ७१ लाख कि० मी० की दूरी है और पृथ्वी से बहुत बड़ा है, वह भी अपनी धुरी पर उसी तरह घूम रहा है। कहा जाना है कि सृष्टि में एक नहीं करोड़ों ही सूर्य हैं और करोड़ों ही पृथ्वियां हैं। हर पृथ्वी अपने से सम्बन्धित सूर्य के चारों ओर परिक्रमा कर रही है। सूर्य से निकलने वाले प्रकाश की गति ११६००० मील प्रति सैकेन्ड है। कई नक्षत्र इतनी दूरी पर है कि जब से सृष्टि की रचना हुई है, उनका प्रकाश पृथ्वी तक नहीं पहुँच पाया है।

पृथ्वी पर जो प्राणी निवास करते हैं। उनकी स्थिरता के लिए सभी तरह के वैज्ञानिक साधन विष्णु ने जुटा रखे हैं। चारों ओर के वायुमन्डल के वातावरण में प्राण तत्व विद्यमान है जो बिना मूल्य और परिश्रम के व्यवस्थापूर्वक सभी प्राणियों को मिलता रहता है। जल की अपूर्व व्यवस्था है। अन्य खाद्य पदार्थों के लिए पृथ्वी को आधार बनाया गया है और उसमें ऐसे गुणों का समावेश किया गया है जो उत्पत्ति में सहायक होते हैं। सभी सम्बन्धित साधन उपलब्ध कैसे दिए गए हैं ? पृथ्वी ने अपनी छाती में जल सुरक्षित रखा हुआ है। आकाश से भी नियम पूर्वक उसकी वर्षा होती है। सूर्य किरणें उसमें शक्ति प्रदान करती हैं। यह प्रक्रियायें हीरे, पन्ने, सोना चाँदी लोहा, तांबा, कोयला, मट्टी का तेल, पैट्रोल से लेकर न जाने क्या-क्या पृथ्वी के गर्भ में उंडेल देती हैं।

सृष्टि के संचालन में इलेक्ट्रोन परमाणु २५००० मील प्रति क्षण की गति से घूम रहे हैं। वायु में उपयुक्त मात्रा में नाई-

ट्रोजन (७८.७३), आक्सीजन (२०.९९), कार्वन (७.९४), कार्वन-डाय-आक्साइड (०.०३) हाइड्रोजन (०.०१), आदि गैसें रहती है। समुद्र से नियम पूर्वक पानी ऊपर आता है, मेह बनते हैं, फिर वरसते है। सूर्य गर्मी और प्रकाश देता है, चन्द्रमा से शीलता प्राप्त होती है। जल, अग्नि के भी अपने-अपने गुण हैं। इनको धारण किए रहना ही विष्णु का धर्म है। तभी तो उन्हें गतिशील कहा जाता है, वह सदैव सतर्क रहते हैं। उनकी दृष्टि सब ओर लगी रहती है ताकि कोई नियम अव्यवस्थित न हो जाए। सनातन नियमों का पालन होता रहे। यही विष्णु का धर्म है। जब-जब इन नियमों के हेर फेर करने का साहस करने वाले उत्पन्न हो जाते हैं तो पृथ्वी का संतुलन बिगड़ जाता है। इस बिगड़े संतुलन को पुन: अपने स्थान पर लाने के लिए विष्णु भिन्न-भिन्न रूपों में अवतार धारण करते हैं। वही विष्णु का धर्म है। जो प्राणी इस सन्तुलन को स्थिर रखने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं वही सच्चे विष्णुभक्त हैं।

विष्णु की नाभि से कमल उत्पन्न हुआ। कमल से ब्रह्माजी अविभूर्त हुए। उन्हें सृष्टि रचना का आदेश दिया गया। ब्रह्मा ने अपनी असमर्थता प्रकट की। तब उन्हें तप करने के लिए कहा गया और वह समर्थ हुए। यह भी एक अटल नियम है—तप से सृजन होता है, शक्ति का विकास होता है।

विष्णु का धर्म है यह देखना कि कहीं इस नियम का उल्लंघन तो नहीं हो रहा है। तप, परिश्रम, क्रियाशीलता सहिष्णुता से ही इच्छित कार्यों की पूर्ति होती है।

प्राचीन काल में जिसने भी शक्तियां और सिद्धियाँ प्राप्त कीं या महानतम कार्यों का सम्पादन किया, उन्होंने तप का ही आह्वान किया। संसार के पाप-ताप हरने के लिए स्वर्गलोक से उतर कर गङ्गाजी पृथ्वी

पर आई। शिवजी ने उन्हें अपनी जटाओं में धारण किया, यह प्रत्यक्ष प्रक्रिया लोक विदित है। पर इस गङ्गावतरण के पीछे भागीरथ की तपस्या ही प्रधान है। यदि भागीरथ जी तप करने खड़े न होते तो गङ्गावतरण का होना तथा उसके द्वारा भूतल के समस्त प्राणियों को सुख पहुँचना सम्भव न हुआ होता। दुर्गा के अवतार और असुरों के संहार की कथा में श्रेय देवताओं की थोड़ी-थोड़ी तपस्याके एक स्थान पर एकीकरण को ही है। भगवान राम के द्वारा असुरों का शमन हुआ, यह ठीक है पर राम जन्म के पीछे स्वयंभू मनु और शतरूपा रानी का तप और दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ ही प्रधान है। सीता जन्म के सम्बन्ध में कथा है कि ऋषियों ने अपना थोड़ा-थोड़ा रक्त एक घड़े में गाढ़ा और वह रक्त ही कालान्तर में परिपक्व होकर सीता के रूपमें जनक को हल जोतते समय प्राप्त हुआ। ऋषियो का रक्त ही सीता बन कर असुरों के विध्वंस का कारण बना।

इन्द्र ने वज्र जैसा अचूक अस्त्र बनाया और उस वज्र से असुरों का संहार आसानी से कर लिया पर वह वज्र था क्या? तपस्वी दधीचि की हड्डियाँ ही रूपान्तर से वज्र बनी थीं। सिद्धि बुद्धि दाता गणेश मनुष्यों को सद् ज्ञान और शुभ लाभ का वरदान देते है। पर वह गणेश हैं क्या? तपस्विनी पार्वती और योगेश्वर शंकर जी की तप साधनाओं का एकीकरण पिन्ड ही गणेश है। व्यास जी का तप उनके पुत्र शुकदेव के रूप में प्रकट हुआ था। अजनी पुत्र हनुमान की महाशक्ति उनकी माता ने देवाह्वान से ही अपने उदर में स्थापित की थी। पार्वती ने शिव को पति रूप में पाने के लिए तप किया था। ध्रुव ने तप के द्वारा राज्य की प्राप्ति की। समुद्र मन्थन के तप द्वारा ही देवताओं और असुरों ने मिलकर समुद्र से १४ रत्न निकाले। विश्वामित्र ने तप द्वारा ही नई सृष्टि की रचना की थी। तपोबल से ही उन्होंने त्रिशंकु को सीधे स्वर्ग को भेजा था और तप के द्वारा ही वह क्षत्रिय से ब्राह्मण बने। तप के बल पर ही

महर्षि वशिष्ठ ने राजा विश्वामित्र की विशाल सेना को पराजित कर दिया था। तप द्वारा ही सावित्री ने यमराज से टक्कर लेकर अपने पति को जीवित करवा लिया था। सार यह है कि जिसने भी असाधारण कार्य किये हैं, उसे तप का ही आश्रय लेना पड़ा है।

हमें निरन्तर तप में रत रहने के लिए शास्त्रकारों ने प्रेरित किया है। किसी भी क्षेत्र में सफलता के लिए सफलता की कुन्जी तप ही है। तैत्तिरीयोपनिषद के ऋषि ने एक महान रहस्य का उद्घाटन किया है—"परमेश्वर ने प्रकट होने की इच्छा की, उसने तप किया और तप से तेजस्वी होकर इस दृश्य जगत को रचा और उसी में प्रविष्ट हो गया।" इसका अभिप्राय यह है कि सृष्टि की रचना करने के लिए ईश्वर को तप भी करना पड़ा। इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं था। अतः वह प्रेरित करते हैं कि अपने जीवन के निर्माण के लिए तप करो। मुण्डकोपनिषद में तप के लाभों का वर्णन किया गया है। "संकल्प रूप तप के द्वारा ब्रह्म प्रवृद्ध होता है। वही अन्न को उत्पन्न करता है, उसी से अमृतत्व की प्राप्ति होती है (१।८)।" "परमेश्वर को वही साधक देख पाते हैं जो सब दोषों से मुक्त हो चुके हों क्योंकि वह देह के भीतर प्रकाश रूप से विराजमान है और सत्य भाषण, तपस्या, ब्रह्मचर्य आदि श्रेष्ठ कर्मों से प्राप्त होता है (३।१।५)।" भागवतकार ने लिखा है—"देवताओं के सौ वर्ष तक ब्रह्मा ने तप किया। उसी के फल स्वरूप वह स्थावर जंगम सृष्टि की उत्पत्ति करने में समर्थ हुए।" एक और स्थान पर निर्देश है कि तप से ही साधक ईश्वर को प्राप्त करता है।" प्रश्नोपनिषद के ऋषि ने घोषणा की है—'तपस्वी ब्रह्मचारी और सत्यनिष्ठ व्यक्ति ही उत्तरायण गति को प्राप्त करके ब्रह्मलोक को जाते हैं।"

मनुस्मृति में तप पर काफी प्रकाश डाला गया है। भगवान मनु कहते हैं "समस्त लोकों में जो कुछ भी दृष्टिगोचर हो रहा है, उसके

मूल मध्य और अन्त में तपस्या विद्यमान है। त्रिकालदर्शी ऋषियों ने यह शक्ति तप के बल पर हीं प्राप्त की है। दुस्तर, दुष्प्राप्य, दुर्गम और दुष्कर सभी कार्यों का प्रतिकार तप ही है। स्वर्ग का साधन तप ही है। शरीर, मन और वाणी के पापों को तप द्वारा ही नष्ट किया जाता है। ब्रह्मा ने तप द्वारा ही शास्त्रों की रचना की थी। तप के फलस्वरूप ही पवित्र हृदय वाले ऋषियों के अन्तःकरण में वेद ज्ञान का अवतरण हुआ।"

महाभारत में तप की महिमा का वर्णन इस प्रकार से है—"आदित्य, वसु, रुद्र, अग्नि, अश्विनीकुमार, वायु, विश्वेदेवा, साध्य, पितृ, मरुदगण, यज्ञ, राक्षस, गन्धर्व, सिद्ध और दूसरे देवताओं ने तप द्वारा ही सिद्धियाँ प्राप्त की हैं। पृथ्वी लोक में राजा व अन्य गृहस्थ जिन्होंने बड़े कुलों में जन्म लिया है, वह उनके तप का ही फल है।"

उन्नति के उच्च शिखर पर चढ़ने के लिये निरन्तर प्रयत्न, पुरुषार्थ और परिश्रम करना होगा। ज्ञान, धन, कीर्ति, नेतृत्व, मनोबल, स्वर्ग, मुक्ति, सुख शांति सभी कुछ तप की अग्नि में तपने से मिलता है। तप का अर्थ है—कष्ट सहन करना, परिश्रम, एवं प्रयत्न करना। हर क्षेत्र में यही सफलता की कुन्जी है। सिद्धियाँ इसके दरबार में सर झुकाती हैं और तप की ही छत्रछाया में निवास करती हैं। तप तो शक्ति और सिद्धि का जनक और पिता है। संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं। उन्होंने इसी तप की उपासना करके महानतम कार्यों का सम्पादन किया। वह महान तब ही बन पाये जब उन्होंने स्वयं तप का साक्षात रूप ग्रहण कर लिया और वह तपोमूर्ति बन गये। जो इसकी उपासना से वंचित रहते हैं, वह निरन्तर अपने भाग्य का ही रोना रोते रहते हैं और उसके लिए ईश्वर को कोसते रहते हैं। जो तपस्वी है, वह अपने भाग्य को स्वयं लिखता है, भाग्य निर्माण का अधिकार अपने हाथ में

लेता है और स्वर्ण अक्षरों से अङ्कित करके जीवन की गतिविधियों को निर्देश देता है कि तुम इस तरह से चलो। दैव पर आश्रित व्यक्ति प्रार्थना करके, भगवान को फुसलाकर, अनाधिकार चेष्टा करके छप्पर फाड़ करके धन वर्षा की व्यर्थ आशा करता है। तपस्वी अपनी भुजाओं के बल से अपने भाग्य का ढाँचा स्वयं निर्मित करता है। ईश्वर को सृष्टि की रचना करते समय जब तप करना पड़ा तो हमें अपने निर्माण के लिये भी तप ही करना होगा। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। विष्णु के धर्म का पालन करना हमारा कर्तव्य है।

शास्त्र का कहना है—"ऋतञ्च सत्यं चार्भाद्धात्तपसोऽव्यजायते" उद्दीप्त तप से ऋत और सत्य की उत्पत्ति हुई। ऋत वह नियम हैं जिससे भौतिक जगत में व्यवस्था यनी रहती है और सत्य वह है जिनसे पाप पुण्य के कर्मों का संतुलन स्थिर रहता है। इन्हीं के लिए वेद ने कहा है—"तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन् (ऋग्वेद १०।९०।१६)" वह प्रथम धर्म थे, उन्हीं को धारण, संरक्षण, विष्णु करते हैं।

• • •

शतपथ ब्राह्मण १।२ में यज्ञ को ही विष्णु कहा गया है और कहा है कि यज्ञ से प्रथमपद से पृथ्वी, द्वितीय से अन्तरिक्ष और तृतीय से आकाश में प्रवेश करता हूं। इसका स्पष्ट रूप से वामन भगवान् के तीन पदों की ओर ही संकेत है। यजुर्वेद में वामन को रुद्र का एक विशेषण माना गया है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वामन का अर्थ प्रज्ञायुक्त यज्ञ किया है।

विष्णु सर्वव्यापक शक्ति और बलि आसुरी शक्तियों का प्रतीक हैं। वामन द्वारा वलि का बाँधा जाना ईश्वर द्वारा विश्व की नियमवद्धता का सूचक है।

वेद में यज्ञ को विश्व ब्रह्माण्ड को नियन्त्रण में रखने वाला कहा गया है। यजुर्वेद में इस प्रश्न को छेड़ा गया है। २३।६१ में कहा गया है—

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवन-स्यनाभिः।

अर्थ—मैं तुम से पृथिवी के अन्त को पूछता हूं। ब्रह्माण्ड की नाभि जहाँ है, उसे भी पूछता हूँ।

यजुर्वेद २३।६२ में इसका उत्तर भी दिया गया है—

इयं वेदि परोऽअन्तः पृथिव्याऽअयं यज्ञो भुवनस्यनाभिः।

अर्थः—यह उत्तर वेदी ही पृथिवी की परम सीमा है। यह यज्ञ समस्त लोकों की नाभि है।

नाभिरूपी केन्द्र से ही हमारा पालन होता है। अतः यज्ञ से ह विश्व ब्रह्माण्ड नियमबद्ध किया जाता है। वामन और बलि का आख्यान यज्ञ क्रिया का ही विस्तृत रूप है।

यजुर्वेद २।२५ में भी विष्णु से यज्ञ का अभिप्राय लिया गया है। कहा है "विष्णु जगती छन्द रूपी अपने चरण से स्वर्ग पर विशेष रूप से चढ़े हैं। जो शत्रु तप से द्वेष करता है और हम जिससे द्वेष करते हैं, वे दोनों प्रकार के शत्रु भाग से वंचित कर निकाल दिए गए। सर्वव्यापी भगवान ने अपने त्रिष्टुप छन्द रूपी चरण से अन्तरिक्ष पर आक्रमण किया। जो शत्रु तप से द्वेष करते हैं, वे और हम जिनसे द्वेप करते हैं, वे दोनों प्रकार के शत्रु भाग से वंचित कर निकाले गए। उन सर्वव्यापी भगवान से गायत्री छन्द रूपी चरण से पृथ्वी पर आक्रमण किया। जो शत्रु हम से द्वेष करते हैं और हम जिनसे द्वेप करते हैं, वे दोनों प्रकार के शत्रु भाग हीन कर पृथ्वी से निकाले गये। जो यह अत्र भाग देखा है। उस अत्र से वर्ग को निराशा कहते हैं। इस सन्मुख दिखाई देने वाली यज्ञ भूमि की प्रतिष्ठा के निमित वर्ग को निराश किया। हम इस यज्ञ के फल से पूर्व दिशा में उदित सूर्य के दर्शन करते हैं। महाद्वीप ज्योति से हम युक्त हुए हैं।"

यज्ञ में भी प्रातः, माध्यंदिन और सायं तीन सदन रहते हैं। प्रातः सदन में गायत्री छन्द के मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। माध्यंदिन सदनमें त्रिष्टुप छन्दके मन्त्र बोले जाते हैं। जगती छन्द के मंत्र तृतीय सदनमें पढ़े जाते हैं। यही यज्ञ का नियम है। गायत्री छन्द के साथ यज्ञ पृथ्वी में फैलता है। त्रिष्टुप छन्द के साथ अन्तरिक्ष में और जगती के साथ द्युलोक में व्याप्त हो जाता है। यही विष्णु के तीन पद कहे गये, जिनसे उन्होंने पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौलोक नाप लिया था।

दुष्ट वायु हम जीवधारियों से द्वेष करती है। रोगों को उत्पन्न करती है। हम उससे द्वेष करते हैं क्योंकि वह रोग उत्पन्न करने वाली

हमारी शत्रु हैं। अग्नि में जो हवन सामग्री डाली जाती है। उससे वायु शुद्ध हो जाती है और रोग कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। इस लिए कहा गया है कि जो हम से द्वेष करते हैं और जिनसे हम द्वेष करते हैं वे निकाले गये। इस मंत्र में विष्णु को यज्ञ की संज्ञा दी गई है।

यज्ञ भारतीय संस्कृति का प्रतीक है। हिन्दू धर्म में जितना महत्व यज्ञ को दिया गया है उतना और किसी को नहीं दिया गया। हमारा कोई भी शुभ-अशुभ धर्म-कार्य इसके बिना पूरा नहीं होता। जन्म से मृत्यु तक सभी संस्कारों में यज्ञ आवश्यक है। हमारे धर्म में वेदों का जो महत्व है वही महत्व यज्ञों को भी प्राप्त है क्योंकि वेदों का प्रधान विषय ही यज्ञ है। वेदों में यज्ञ के वर्णन पर जितने मन्त्र हैं उतने अन्य किसी विषय पर नहीं। यदि यह कहा जाये कि यज्ञ वैदिक धर्म का प्राण है तो इसमें भी अत्युक्ति नहीं। वैदिक धर्म से यज्ञको निकाल दें तो वैदिक धर्म निष्प्राण हो जायेगा। यज्ञ से ही समस्त सृष्टि उत्पन्न हुई। विष्णु को भी अनेक स्थानों पर सृष्टि का रचयिता कहा गया है।

भगवान स्वयं यज्ञ रूप है और तदुत्पन्न सम्पूर्ण सृष्टि भी यज्ञ रूप है, तो यज्ञ के अतिरिक्त संसार में कुछ है ही नहीं। चारों वेद भी इस यज्ञ रूप भगवान से उत्पन्न हुए हैं, अतः यह भी यज्ञ रूप हैं और उनमें जो कुछ भी है वह भी यज्ञ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

हमारे वेद शास्त्रों का पन्ना-पन्ना यज्ञ की महिमा से भरा पड़ा है। देखिये ऋग्वेद में 'विश्व शान्ति का सर्वश्रेष्ठ आधार यज्ञ ही है, (१०।६६।२)······यज्ञ को आगे करके कार्य आरम्भ करो, यज्ञ के साथ आरम्भ किये हुऐ कार्य सफल होते हैं (१०।१०१।२)····यज्ञ से परमात्मा प्रसन्न होते हैं (१।१४। ४)···मुक्ति के अधिकारी यज्ञिय देव हैं, सचमुच यज्ञ के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती (४।४५।२)··· यह यज्ञ देव (परमात्मा) तक ले जाने वाला है, यह पवित्र है और पवित्र करने वाला है।"

यजुर्वेद में यज्ञ की महत्ता पर इस प्रकार प्रकाश डाला गया है "यज्ञ तप का स्वरूप है (४।२।२६)···यज्ञ में दी हुई आहुतियां कल्याण कारक होती हैं, जिन्हें कल्याण की इच्छा हो वह यज्ञ में आहुतियां दें (१५।३८)···जो असुर प्राण इस पृथ्वी पर असुर रूप से विचरण करते रहते हैं, वह यज्ञ की अग्नि द्वारा शरीर में से निकाल वाहर किये जाते हैं (२।३०)···जो यज्ञ को छोड़ता है, उसे यज्ञ रूप परमात्मा भी छोड़ देता है (२ २३)···यज्ञ ही मुख्य धर्म है (३१। ६)···मन, वाणी, बुद्धि की उन्नति तव होगी जब यज्ञ एवं यज्ञपति की उपासना की जाये। (३०।१)···यज्ञ से सब दिशायें अनुकूल वन जाती हैं (१३।५)··· यह अग्नि सहस्रों सँख्यावाले वल का स्वामी है। धनों का मुख्य दाता और क्रान्ति दर्शक है (१५।२१) अग्नि विश्व का प्रेरक है (१५।३३)"

अथर्ववेद का कथन है "यज्ञ करने वाले को स्वर्ग सुख प्राप्त होता है, जिन्हें स्वर्गीय सुख प्राप्त करना अभीष्ट हो वे यज्ञ किया करें (१८।४।२)···यज्ञ न करने वाले का तेज नष्ट हो जाता है अथवा अपनी तेजस्विता स्थिर रखने के लिये यज्ञ किया कीजिये···जो इस अग्नि के चारों ओर बैठ कर दिव्य उद्देश्य से हवि चढ़ाते हैं, उनके हृदय में परमात्मा का तेज प्रकाशित होता है (६।७५)"

ब्राह्मण ग्रन्थों में देखिये "यज्ञ का पुण्य फल कभी नष्ट नहीं होता, वुद्धिमानी पूर्वक यज्ञका अक्षय पुण्य संचित करते रहो। (तै० ब्र० ११४.६)" यज्ञ श्रेष्ठतम् कर्म है।···यह अग्नि होम निश्चय ही स्वर्ग सुख प्राप्त कराने वाली विशेष नौका है।····यज्ञ ही विष्णु है, यज्ञ ही प्रजापति है, यज्ञ ही सूर्य है। (शतपथ)

गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है "मैं ही यज्ञ हूँ" और कई थलों पर उपदेश देते हुये बताया "यज्ञ न करने वाले को यह लोक और

परलोक कुछ भी प्राप्त नहीं होता''''यज्ञ के निमित्त किये गये कर्मों के करने से यह मनुष्य कर्म वन्धन में वंधता है''''यज्ञ से वचे हुये अन्न को खाने वाले श्रेप्ठ पुरुप सब पापों से छूटते हैं।''''हवन क्रिया ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है, ब्रह्म रूप अग्नि में हवन किया जाता है और ब्रह्म ही हवनकर्त्ता हैं। इस प्रकार जिस की बुद्धि में सभी कर्म ब्रह्म हो जाते हैं, वह ब्रह्म को ही प्राप्त होता है''''यज्ञ करने योग्य कर्म है।"

मनुजी ने लिखा है "महायज्ञ और यज्ञ करने से यह शरीर ब्राह्मी या ब्राह्मण वनता है।" पुराणों में इस प्रकार उल्लेख है—अग्नि होम (यज्ञ) से वढ़कर और कोई धर्म नहीं, यज्ञ करने वाला ही सच्चा धर्मात्मा है (कूर्म पुराण)। यज्ञ ही कल्याण का हेतु है (विष्णु पुराण)। यज्ञों में सारा संसार निहित है। पृथ्वी यज्ञ से धारण की हुई है। यज्ञ ही प्रजा को तारता है (कालिका पुराण)। अग्नि होम से वढ़कर कोई पवित्र कर्म नहीं है। इनसे अन्तःकरण पवित्र होता है (पद्म पुराण) यज्ञ से देवता तथा पितृ जीते हैं (विष्णु धर्मोत्तर पुराण)।"

कठोपनिषद् में यमराज नचिकेता से कहते हैं " इस अग्नि का शास्त्रोक्त रीति से तीन वार अनुष्ठान करने वाला पुरुप ऋग, यजुः साम-तीनों वेदों के साथ सम्बन्ध जोड़कर यज्ञ, दान, तप-रूप तीनों कर्मों को करता रहने वाला मनुष्य जन्म मृत्यु से तर जाता है। अग्नि स्वर्ग के प्राप्त करने का, अनन्त जीवन का और सम्पूर्ण संसार के स्थिर होने का कारण है। (क्योंकि सूर्य की आकर्पण शक्ति से जगत स्थिर है)" प्रश्नोपनिषद् में यज्ञ को देवताओं, पितरों और ऋपियों का जीवन-प्राण वताया गया है। मुण्डकोपनिषद् का कथन है" अग्निहोत्री को यह आहुतियां सूर्य को किरणें वनकर उस स्वर्ग लोक में पहुँचा देती हैं, जहां देवताओं का एकमात्र पति निवास करता है।" (द्वितीय खण्ड श्लोक ५) छांदोग्योपनिषद् में उपकोशल नाम के एक ब्रह्मचारी को, जो सत्यकाम

जांवाल के यहाँ ब्रह्म विद्या सीखने गया था, अग्नियों द्वारा ब्रह्म विद्या का उपदेश मिलने का वर्णन मिलता है, क्योंकि उसने बारह वर्षों तक अग्नियों की सेवा की थी ।

यज्ञ से आत्म साक्षात्कार, स्वर्ग-सुख, बन्धन-मुक्ति, मन-शुद्धि, पाप प्रायश्चित होता है और ऋद्धि-सिद्धियाँ मिलती हैं। अनेक प्रकार के आध्यात्मिक एवं भौतिक शुभ परिणाम प्राप्त होते हैं । अनेकों मानसिक दुर्बलताएें दूर हो सकती हैं । यज्ञ से प्रसन्न हुए देवता मनुष्य का धन, सौभाग्य, वैभव तथा सुख साधन प्रदान करते हैं । यज्ञ करने वाला कभी दारिद्री नहीं रह सकता । यज्ञ करने वालों की सन्तान बलवान, बुद्धिमान, सुन्दर और दीर्घजीवी होती है । यज्ञ को सर्व-कामना पूर्ण करने वाली कामधेनु और स्वर्ग की सीढ़ी कहा गया है । यज्ञ से अमृतमयी वर्षा होती है, जिससे अन्न, वनस्पति, दूध, खनिज पदार्थों की प्रचुर मात्रा में उत्पत्ति होती है, जिससे प्राणियों का पालन होता है । यज्ञ से सद्भावना पूर्ण वातावरण की उत्पति होने से आकाश में फैले हुए चिन्ता, कलह, क्लेश, शोक, ईर्ष्या, द्वेष, अन्याय लोभ व अत्याचार के भाव नष्ट होते हैं । यज्ञ से वायु शुद्ध होती है । यज्ञ से शत्रु मित्र बन जाते हैं, पापों का नाश होता है, आत्मा का मैल दूर होता है और लोक के सब दुष्कर्म नाश होते हैं । यज्ञकर्ता भय रहित हो जाते हैं । यज्ञ से मल-विक्षेप व कुसंस्कारों का निवारण होता है, मन, वाणी एवं बुद्धि की उन्नति होती है, पवित्र आच-रण करने की शक्ति प्राप्त होती है और शान्तिमय वातावरण की उत्पत्ति होती है । यज्ञ करने वाले को माया नहीं सता सकती, उसकी आयु बढ़ती है ।

जिस-जिस कामना से जो यज्ञ करता है उसकी वह सभी कामनाऐं पूर्ण हो जाती हैं। निष्काम भाव से करने वाले को निश्चय

ही परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति होती है। पुत्रार्थी को पुत्र लाभ होता है। शरीर, मन तथा आत्मा पवित्र होते हैं। दुःखों से छुटकारा मिलता है। यज्ञ के द्वारा मनुष्य देवता बन सकते हैं, अपनी आसुरी प्रवृत्तियों का शमन कर सकते हैं। यज्ञ से बुद्धि-शुद्ध और तीव्र होती है, इन्द्रिय शक्तियाँ बढ़ती हैं। यज्ञकर्ता कष्टों कठिनाइयों से छूटकर सुख शांतिको प्राप्त करता है। यज्ञ प्रसन्नता का स्रोत है, इससे मानसिक शक्तियों का विकास होता है। यज्ञ मनुष्य के अन्दर त्याग समर्पण, परोपकार, आन्तरिक शत्रुओं का दमन, सङ्गठन आदि भावनाओं का संचार करता है। यज्ञ से राजयक्ष्मा टी० बी०) जैसे रोग ठीक हो सकते हैं। ऋग्वेद भी साक्षी है कि—

"यज्ञ से ज्ञान बुद्धि और बल की वृद्धि होती है। (१।१३।२) यज्ञ सुखों की वर्षा करने वाला है। (१।१६।१।१)... यज्ञ से सब तरह का कल्याण होता है। ५।४।७ जो यज्ञ करता है वह धन ऐश्वर्य से, तेज से तथा यश और कीर्ति से मनुष्यों में चमकता है और अन्त में आत्म ज्ञानी होकर अमर हो जाता है। (६।५।५५)... हे, वेदपाठ के देवता उठो देवताओं को यज्ञ का संदेश सुनाओ। आयु, प्राण, प्रजा, पशु और कीर्ति बढ़ाओ। यज्ञ कर्ता को हर प्रकार से बढ़ाओ। (१०।१६४।२।)" यजुर्वेद में यज्ञ पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है—

"यज्ञ से अशुद्ध तत्वों का नाश होता है। (१।१३)... यज्ञ से आरोग्यता प्राप्त होती है। (१।१४,४।१५)...यज्ञ से दिव्य वातावरण की उत्पत्ति होती है। (१।१५)...यज्ञ से आन्तरिक शत्रुओं का नाश होता है। (१।१७)...यज्ञ नेत्र रक्षक है। (२।१६)...यज्ञ से असुरों का नाश होता है।! (२।३०)...यज्ञ सुखों का संचय करने वाला है। (३।४८,४।१६)...यज्ञ निश्चय से कल्याणकारी है, वह दीर्घ आयु उत्तम अन्न, एश्वर्य समृद्धि, सुसंतति व बल पराक्रम प्रदान करता है। (३।६३)...यज्ञ वीरता दायक और कायरता विनाशक है। (४।३७)

यज्ञ ऋषियों के हृदय को पवित्र करने वाला है। (३।४) यज्ञ वन्धन का साधन है। (५।३०)....यज्ञ देवताओं मनुष्यों पितृजनों और अपने प्रति किए गए, जाने या अनजाने किए गए पापों से बचाने वाला है। (८।१३)....यज्ञ करने वाले के लिए वायु और नदियाँ मधुर रस बहाती हैं। (१३।२७)....यज्ञ से आत्म दल की वृद्धि होती है। (१७।६५)....मन, आत्मा, वाणी, प्राण, ज्ञान ज्योति, श्री, वेद आयु, नेत्र, यज्ञ से सम्पन्न होते हैं। (१८।२९)....यज्ञ से ब्रह्म वर्चस् की प्राप्ति होती है। १९।१९....यज्ञ से सद्बुद्धि की प्राप्ति होती है। २०।८५....यज्ञ से तीनों छन्दों (तीनों लोकों) जगती, त्रिष्टुप और गायत्री में कल्याण होता है। (८।२५,५।१३।१८)"

यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय में यज्ञ से अनन्त लाभों का प्रार्थना के रूप में इस प्रकार वर्णन है "मेरा अन्न, ऐश्वर्य, प्रयत्न ,ध्यान, प्रजा, स्वर, प्रशंसा, कीर्ति, ज्ञान, सुख, प्राण, चित, विचार, वाणी, मन, चक्षु, चातुर्य, वल ओज, साहस. स्वामित्व, मानस कोप, क्रोध, उद्वेग, सौम्यभाव, उदार भाव दीर्घजीवन, लोक, धनधान्य, वृद्धि, समृद्धि. सत्य, श्रद्धा, तेज, व्यवहार हर्ष, सुन्दर वचन, श्रेष्ठ कर्म, ज्ञान, अमर स्वरूप, आरोग्य, स्वास्थ्य, शत्रु रहित्य, निर्भयता, संयम शक्ति, धारण शक्ति, धैर्य, प्रेरणा, कल्याण, कामना, प्रसन्नता, भूत और भविष्य, सुमार्ग और सुपथ्य समर्थ और शक्ति, उद्देश्य यज्ञ से सुसम्पन्न हो।"

"यदि रोगी अपनी जीवनी-शक्ति को खो भी चुका हो, निराशा जनक स्थिति को पहुँच गया हो, मरण काल भी समीप आ पहुँचा हो तो भी यज्ञ उसे मृत्यु के चंगुल से बचा लेता है। और सौ वर्ष जीवित रहने के लिए पुनः बलवान कर देता है। (अथर्व, ३।११।२)"

"गर्भाधान, जात कर्म, चूड़ाकर्म और मौन्जी वन्धन संस्कार करने के समय हवन करने से वीर्य और गर्भ की त्रुटियों और दोनों

की परिशुद्धि हो जाती है (मनु)"। यज्ञ से जनता का कल्याण होता है। और उनके बल तथा बुद्धि की शक्ति बढ़ती है" (ऐतरेय ब्राह्मण ३।२।१।४)"।"यज्ञ करने से अपने कर्तव्य का पालन करते हुए प्राणी-मात्र का जो अप्रत्याशित उपकार होता है। उससे स्वर्ग (सुख विशेष) की प्राप्ति होती है। (मीमांसा)"। "आरोग्य प्राप्त करने की इच्छा करने वालों को विधिवत् हवन करना चाहिए (चरक ऋति)"।"यज्ञ करने वाले को गृह—पीड़ा बन्धु नाश, धन क्षय, पाप, रोग, बन्धन आदि की पीड़ा नहीं सहनी पड़ती है। (कोटि होम पद्धति)"।

ब्रह्माण्ड की सूक्ष्म दिव्य शक्तियों में अव्यवस्था होने पर ही भूकम्प, दुर्भिक्ष, तूफान, अतिवृष्टि, रोग, महामारी आदि सामूहिक विद्वेष, विक्षोभ, युद्ध भय, शोक, सामने आते रहते हैं। यदि इन देव शक्तियों की तुष्टि - पुष्टि होती जाया करे, इनका सन्तुलन बराबर रहे तो कोई कारण नहीं कि इन शक्तियों के ताण्डव को सह कर हम दुखी हों। ऋग्वेद १।१६४।३६ की घोषणा है कि 'यज्ञ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की नाभि है—बाँधने वाला है।" अथर्ववेद (६।१०।१४) भी इसका समर्थन करता है। देखिये 'यज्ञ ही समस्त विश्व ब्रह्माण्ड का केन्द्र मूल है।" क्योंकि यज्ञ देव शक्तियों को बल मिलता है, जिससे वह संचालन कार्य बड़ी तत्परता से करती रहती है, उसमें कोई गड़बड़ी होने का भय नहीं रहता।

विष्णु की नाभि से कमल की उत्पत्ति होती है। उस कमल पर स्थित रहकर ब्रह्मा तप करते हैं। और सृष्टि रचना करने की शक्ति प्राप्त करते हैं। विष्णु को विश्व ब्रह्माण्ड माना जाए तो वह यज्ञ का ही अलङ्कारिक रूप लगते हैं क्योंकि यज्ञ को भी वेद ने विश्व ब्रह्माण्ड की नाभि घोषित किया है।

विष्णु क्षीर सागर में रहकर सृष्टि का पालन करते हैं। जब बालक का जन्म होता है तो वह माता के स्तनों में दूध उत्पन्न कर देते हैं ताकि शिशु उसे पीकर जीवित रह सके। यज्ञ से भी सृष्टि की पुष्टि होती है। सारी सृष्टि के पालन की जिम्मेदारी को वहन करने का अभिप्राय निःस्वार्थ सेवा और परमार्थ भावना से ओत-प्रोत रहना है। यही यज्ञ की ध्वनि है यज्ञ का भी अर्थ है त्याग, बलिदान और परमार्थिक भावना।

विष्णु के दर्शन से हमारे सामने यज्ञ का सम्पूर्ण चित्र खिंच जाता है और यज्ञीय जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा मिलती है। हम अपने जीवन को यज्ञमय बनाएं, यही विष्णु भक्ति का अभिप्राय है।

• • •

विष्णु सोम के प्रतिनिधि माने जाते हैं। विष्णु ईश्वर की पालन शक्ति का नाम है। सोम भी जगत का पोषण करते हैं। इसलिए दोनों में साम्य है। ब्राह्मण इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। शतपथ ब्राह्मण ३।३४।२१ में सोम को विष्णु कहा गया है।

वैदिक काल में सोम एक ऐसी जड़ी-बूटी थी जिससे आनन्द, उल्लास उत्साह, प्रसन्नता, आरोग्यता, बुद्धि, प्रतिभा, वीर्य और शक्ति की प्राप्ति होती थी। इसे एक सशक्त आयुर्वेदिक औषधि माना जाता था यह असीम शक्ति बढ़ाने का गुण रखती थी। वृद्धों में भी जवानी की शक्ति और उत्साह लाने की विशेषता रखती थी। युद्ध में जाते समय सैनिकों को सोम पिलाया जाता था। देवताओं का तो यह प्रिय पेय था।

श्री अरविंद घोष ने इसका इस प्रकार से वर्णन किया है "सोम आनन्द के रस का, अमृत रस का अधिपति है। अग्नि की तरह वह पौधों में, पार्थिव उपचयों में और जलों में पाया जाता है। सोमरस जो कि बाह्य यज्ञ में प्रयुक्त किया जाता है इसी आनन्द रस का प्रतीक है। यह इन्द्र की वज्रभूत विद्युत शक्ति जिसे 'अद्रि' कहा जाता है के साथ घनिष्ट प्रतीकात्मक सम्बन्ध रखता है। सोम गन्धर्व है। आनन्द की सेनाओं का अधिपति है और वह देव के सच्चे पद की आनन्द के पृष्ठ या स्तर की रक्षा करता है। वह सर्वोच्च है, अन्य सब सत्ताओं से बाहर तथा उनके ऊपर स्थित है। उनसे भिन्न और अद्भुत है और इस प्रकार सर्वोच्च

तथा सर्वातीत होता हुआ। लोकों के अन्दर विद्यमान है किंतु उन्हें अति क्रमण करता हुआ वह उन लोकों के अन्दर देवों के जन्मों की रक्षा करता है।"

सोम विश्व का पोषक तत्व है। यह इसकी विशेषता है कि यदि यह थोड़ी मात्रा में भी शरीर में प्रविष्ट किया जाए तो भी यह शीघ्र ही सारे शरीर के अंग-अंग में अपना व्यापक रूप धारण कर लेता है। सारे शरीर को वह प्रभावित करता है। स्वरूप से वृहत्तर रूप धारण करने का उसमें गुण है। इसी तत्व को पुराणों में विष्णु के चरित्र को वामन रूप में चित्रित किया गया है। वामन छोटे थे। उन्होंने अपना असाधारण रूप धारण कर लिया तीनों लोकों में उनका शरीर फैल गया, तीन पगों में सारी त्रिलोकी को नाप लिया। जो कुछ अण्ड में वामन ने किया वही पिन्ड में सोम करता है। इस लिए विष्णु को सोम का प्रतिनिधि माना जाता है।

सोम को ऋग्वेद ६।८६।४१,६।६६।२५ व कौषीतकि ब्राह्मण ७।१० में चन्द्रमा कहा है। क्योंकि इसके पान से शीतलता प्राप्त होती है। ऋग्वेद ६।५१।२,६।६७।३२ में इसे अमृत की संज्ञा दी गई है। क्योंकि इसे ग्रहण करने वाला सदैव निरोगी रहता है, रोग और व्याधि उसके पास फटकने भी नहीं पाती। शतपथ ५।१।३।७ में इसे प्रजापति कहा है क्योंकि यह नई शक्तिओं का सृजन करता है। शतपथ १२।७।३।१३ में इसे दुग्ध कहा गया है क्योंकि उसकी तरह पोषण का गुण रखता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण १।४।७।४-५ में सोम को सुवर्ण कहा है। सुवर्ण का गुण स्वास्थ्य की स्थिरता व सुदृढ़ता है। सोम भी यही करता है। विष्णु का भी यही गुण है पालन पोषण। ब्राह्मणों में सोम के अन्न प्राण, हवि, यश, वर्च रस, शुक्र, राजा, वायु, ब्राह्मण पुरुष आदि अर्थ किए गए हैं। जिनसे यही प्रतिध्वनि निकलती है।

कौषीतिकि व तैत्तिरीय ब्राह्मण में सोम को रेत या वीर्य कहा गया है (रेतो वै सोमः)। वीर्य शरीर का सबसे अधिक मूल्यवान तत्व है। शक्ति की स्थिरता का यही मूलाधार है। उसकी सुरक्षा शक्ति की सिद्धि है और क्षय ही रोग, निर्बलता, दुःख को निमन्त्रण देती है। यह प्राणों को पुष्ट करने वाला आवश्यक तत्व है। इसकी सुरक्षा और क्षय दोनों मस्तिष्क रूपी केन्द्र से होते हैं। क्योंकि अच्छे और बुरे दोनों तरह के विचारों का सृजन यहीं से होता है, संत और डाकू बनाने का श्रेय इसी केन्द्र का है। यह शरीर का राजा है। इसी लिए अथर्व ६।७।२ में मस्तिष्क का राजा सोम कहा गया है। इसके पोषण से सारे शरीर का पोषण सम्बन्धित है। सारे शरीर की नस नाड़ियाँ इससे जुड़ी हुई हैं।

ऋग्वेद ६।६४।६ में कहा है "हविदाता यजमान के निमित्त दिव्य, पार्थिव और अन्तरिक्ष के सब दानों की यह सोम वृष्टि करे।" ऋग्वेद ६।६६।८ में कहा है।" हे सोम ! तुम हमको अन्तरिक्ष से सब रूप के अन्नों को भेजो और विभिन्न रत्नादि भी हमें प्रदान करो।" ऋग्वेद ६।६३।६७ में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "भगवान सोम स्वर्ग से और अन्तरिक्ष से पृथ्वी के श्रंगों पर आता है।" ऋग्वेद ६।५।१।२ में इस द्यौलोक का अमृत कहा गया है, इस तरह से यह तीनों लोकों में व्याप्त है। तीनों लोकों का पोषण तत्व है। विष्णु भी तीनों लोकों के अधिपति हैं, पालनकर्ता हैं।

ऋग्वेद ६।७१।७ में सोम को 'त्रिपुष्ट' कहा गया है। इसका अभिप्राय पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्यौलोक से है क्योंकि यह तीनों लोकों में व्याप्त है। ऋग्वेद ६।६७।२६ में तीन तरह के तेजों का वर्णन है। मस्तिष्क का राजा सोम कहा ही गया है (अथर्व ६।७।८)। मस्तिष्क के भी तीन भाग हैं। पहला ऊपरी भाग जिसे सेरीब्रम (Cerebum) कहते हैं। बीच वाला मस्तिष्क जिसे मेडूला ओपलोंगेटा

Medulla oplonata कहते हैं। तीसरा भाग है मेरु दन्ड या केन्द्रीय नाड़ी जाल (Spinal Column) सोम के पुष्ट से यही अभिप्राय है। विष्णु के तीन पगों का भी यही अर्थ है। इस रूप में मेरुदण्ड को पृथ्वी, बीच वाले मस्तिष्क को अन्तरिक्ष और ऊपरी मस्तिष्क को द्युलोक समझना चाहिये।

इस तरह से विष्णु सोम के प्रतिनिधि रूप में माने जाते हैं।

वेद में सोम का विस्तृत वर्णन है। इन्द्र और अग्नि के बाद सोम के ही अधिक मंत्र मिलते हैं। कुछ अर्थ यहाँ उद्धृत किए जाते हैं:—

"हे इन्द्र ! आओ सोम पान कर प्रसन्न होओ" (१।६।१)। "इस प्रसन्नताप्रद सोम को समस्त कार्यों और पुरुषार्थों के करने वाले इन्द्र के निमित्त सिद्ध करो" (१।६।२)। "हे सोम ! बुद्धि से तुम हमको सुन्दर मार्ग बताते हो तुम्हारे नेतृत्व में हमारे पितर देवताओं से रमणीय सुख को प्राप्त करने में समर्थ हुए" (१।६१।१)। "हे सोम तुम उत्तम प्रज्ञा वाले, सभी धनों से युक्त, मन की शक्ति द्वारा चतुर हुए पुरुषार्थ युक्त और तेजस्वी हो" (१।६१।२) हे सोम ! तुम्हारा तेज आकाश, पृथ्वी, पर्वतों, औषधियों और जलों में है" (१।६१।४)। "हे इन्द्र ! यह सोम तुम्हारे बल, कान्ति और पुष्टि का वर्धक हो" (१।१३०।२)। "सोम वीर्यवान, पौष्टिक और विजेता है" (१।१७५।१)।

"प्राचीन काल में सोम पान से इन्द्र नियमपालक, प्रकाशमान और महान् बने" (३।३६।२)। "यह सोमयुक्त इन्द्र सब प्रकार से असीमित और पर्वतों से भी अधिक दृढ़ है। यह प्रकाशयुक्त तथा देवताओं से भी अधिक शक्तिशाली है। यह आकाश और पृथ्वी से भी विशाल तथा विस्तृत है और महान अन्तरिक्ष से भी उत्कृष्ट है"

(३।४०।३) "हे इन्द्र ! सोमरस से दृष्टि प्राप्त कर तुमने अन्धकार को मिटाया और सूर्य तथा ऊषा को आपने अपने स्थान पर नियुक्त किया" (६।१७।५)। "सोमपान से पुष्ट होकर इन्द्र ने सुन्दर कर्मों को किया। सोमपान के पश्चात् उन्होंने श्रेष्ठ कार्य किया। सोम से मैत्री होने पर शुभ कर्म किया" (६।२७।२)

"हे इन्द्र ! सोम पीने से पुष्ट हुए तुम अपने कर्मों को भले प्रकार जानते हो। सोम से उत्पन्न पराक्रम द्वारा तुम दैत्यों का हनन करते हो" (८।१२।१)।

"सोम की शक्ति से पुष्ट होकर तुमने अन्धकार के नाश करने वाले सूर्य की रक्षा भी की" (८।१२।२)।

"सोम से उत्पन्न हर्ष के होने पर इन्द्र ने अन्तरिक्ष को बढ़ाया है क्योंकि उन्होंने मेघ को खोला है" (८।१४।७)।

"जिस के पास असीमित दिव्य पान होता है। वही सोम पीने में समर्थ होता है" (८।३२।१६)

"हे सोम ! तुम हृदय प्रदेश में जाते हो और देवताओं को क्रोध रहित करते हो। तुम अमृतत्व वाले हो। हम तुम्हारा पान करके ही अमर होंगे। युग के लिए पिता के समान सुखकारी तुम पान करने पर प्रसन्नतादायक होओ। तुम अधिक जीवन के निमित्त हमारी आयु वृद्धि करो" (८।४८।२-४)

"हे सोम पान कर लेने पर प्रदीप्त अग्नि के समान ही मुझे तेजस्वी बनाओ। हम पैतृक धन के समान ही इस सुसंस्कृत सोम को ग्रेंगे" (८।४८६-७)।

"मेरे उदर में गया हुआ यह सोम चिरकाल तक प्रभावकारी रहे" (८।४८।१०)

"इस महान सोम को पीने से आयु वृद्धि होती है।" ८।४८।११

"सोम रोगी को निरोग करते, नंगे को आच्छादित करते, पंगु को गमन शक्ति देते और अन्ध को दर्शन शक्ति देते है। हे सोम! शरीर को दुर्बल बनाने वाली व्याधियों से तुम रक्षा करने वाले हो।" (८।७९।१-३)

यह सोम असुरों के नाशक हैं।"(९।१।१)

"हे सोम! तुम अत्यन्त यशस्वी कामनाओं के वर्धक और धारक हो" (९।२।१)

"सोम कामनाओं का देने वाला है। उसकी धारा मधुर रस का मोहन करती है।" (९।७।३।)

हे सोम! हमें स्वर्ग दो, सौभाग्य और ज्योति दो, फिर हमारा कल्याण करो" (९।४।७।)

"यह सोम संसार के धारण करने वाले हैं। इन्द्रियों को पुष्ट करने वाले इसको धारण करते हुए हिंसा से रक्षा करते हुए वीर कर्म से युक्त होते हैं।" (९।२३।५)

हे सोम! तुम पाप नाशक और बल साधक हो।" (९।२५।१)

सोम सबसे स्वामी, असंख्य कर्मा और सबके धारक हैं। उनके निष्पन्न होने पर विद्वज्जन स्वर्ग की ओर भेजते हैं।" (९।२६।३)

"यह निष्पन्न सोम सूर्य के समान ही सब लोकों से ऊपर निवास करते हैं।" (९।५४।३)

"हे सोम! इन दुर्गम राक्षसों द्वारा पीड़ित किए जाने के पूर्व ही उनसे हमारी रक्षा करो।" (९।७०।९)

"सोम ने आकाश पृथ्वी का अन्धकार नष्ट करने के लिए आदित्य को आकाश में आरूढ़ किया।" (९।७१।१)

"सोम का शोधक तेज शत्रुओं को संतप्त करता हुआ आकाश के ऊपर फैला है । इनकी दमकती हुई रश्मियाँ विभिन्न प्रकार से रहती हैं" (६।८३।२)

सोम के बल से इन्द्रादि देवता बलवान होते हैं । सोम के द्वारा ही पृथ्वी महिमामयी हुई है" (१७।८५।२)

यह सोम की महिमा विष्णु की महिमा है क्योंकि वह विश्व के पालन कर्ता हैं । विष्णु सृष्टि पोषक तत्व हैं । अतः पृथ्वी की हर पोषक वस्तु में विष्णु पोषक तत्व विष्णु के ही कारण होता है । उसमें विष्णु के दर्शन होते हैं । क्योंकि विष्णु सर्वव्यापी तत्व है ।

• • •

विष्णु और अग्नि ३०

ऐतरेय ब्राह्मण में यज्ञ की अग्नि को ही विष्णु कहा गया है। "अग्निर्वै देवानामवमो विष्णु परमः। तद-तरेष सर्वा अन्या देवता :।" ऋग्वेद (२।१।३) में कहा है "हे अग्ने ! तुम विष्णु रूप हो।" ऋग्वेद ४।५८।३ में अग्नि के चार सींग बताए गए हैं जिनका अर्थ चार दिशायें अथवा चार वेद माना जाता है। विष्णु की भी चार भुजायें दिखाई जाती हैं। इन चार भुजाओं का अभिप्राय भी यही लिया जाता है कि विष्णु विश्वव्यापी देव है। अग्नि भी सर्वव्यापी है। विष्णु जगत का पालन पोषण करते हैं, अग्नि भी पुष्टिकारक है। विष्णु देवता हैं, अग्नि को भी देवता, देवताओं का प्रतिनिधि, पुरोहित माना जाता है। भृगु ऋषि ने ब्रह्मा विष्णु महेश की परीक्षा करके विष्णु को श्रेष्ठ घोषित करके प्रथम पूज्य माना था। अग्नि की पूजा भी सबसे पहले की जाती है। हमारी कोई भी पूजा अग्नि के बिना पूरी नहीं मानी जाती। हर शुभ-अशुभ अवसर पर इसका आह्वान किया जाता है। देवताओं में इसे उच्च स्थान प्राप्त है। ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र अग्नि की स्तुति से ही आरम्भ होता है। अग्नि के गुणों का विस्तृत विवेचन ऋग्वेद में उपलब्ध होता है। उससे विदित होता है कि वेदों ने अग्नि का कितना उच्च मूल्यांकन किया है। ऋग्वेद के अनुसार अग्नि चरित्र इस प्रकार है:—

"अग्रणि, प्रकाशित, यजनकर्ता, देवदूत, रत्नयुक्त अग्नि का स्तवन करता हूँ। पूर्व काल में जिसकी ऋषियों ने उपासना की थी। तथा अब भी ऋषि गण जिसकी स्तुति करते हैं। वह अग्नि देव-गण को

यज्ञ में बुलाता है। अग्नि धनों को दिलाने वाला, पोषक तथा वरित्व प्रदान करने वाला है" ऋग्वेद १।१।१-६। "हे अग्ने! तू हविदाता का कल्याण करने वाला है" १।१।६। "हम देव-दूत सब ऐश्वर्यों के स्वामी यज्ञ के सम्पादन करने वाले अग्नि का वरण करते हैं" १।१२।१। "मेधावी, सत्यनिष्ठ, शत्रु नाशक, अग्नि को यज्ञ कर्म में निकट से स्तुति करो "१।१२।७। "हे अग्ने तुम्हारे समान कोई देवता या मनुष्य महान नहीं है, जो तुम्हारे बल का सामना कर सके।" १।१६।२। "हे अग्ने! अंगिराओं में श्रेष्ठ और प्रथम हो। देवताओं को नियमों से सुशोभित करते हो होता के वरण करने पर तुम्हारे बल से आकाश पृथ्वी काँपते हैं" १।३१।२,३। "मनुष्यों ने जिस बलवर्द्धक अग्नि को धारण किया है, हम उसको हवियों से तृप्त करें।" १।३६।२। हे अग्नि देव! तुम ज्वालाओं से युक्त ऊपर हो। तुम मनुष्यों में नाभि के समान हो। तुम उनको खम्भे के समान सहारा देते हो।" १।५६।१। "अग्नि आकाश की मूर्द्धा पृथ्वी की अधिपति है। सब मनुष्यों में व्याप्त उस अग्नि को ज्योतिरूप से देवताओं ने मनुष्य में प्रकट किया" १।५६।२। "जैसे सूर्य पृथ्वी को धारण करता है, वैसे अग्नि ने अन्तरिक्ष को धारण किया है तथा सत्संकल्पों से आकाश को भी धारण किया है" (१।६७।३) हे अग्ने! तुम्हारा गुण किरणों और नक्षत्रों में भी स्थापित है" १।७१।५। "हे अग्ने! तुम सब संसार के साथ छाया के समान रहते हो। तुम्हीं ने आकाश, पृथ्वी और अन्तरिक्ष को पूर्ण किया है" १।७३।८। "यह अग्नि पृथ्वी को सब ओर से स्पर्श करते है। यह शब्दवान जब श्वास लेते हैं। तब इनकी चिनगारियाँ फैलती हुई अन्धकार का नाश करती बढ़ती हैं" १।१४०।५। हे अग्ने! तुम अपनी गगनचुम्बी ज्वालाओं से चन्द्रमा के समान लगने वाले चैतन्यताप्रद हो। तुम जलों के समान रक्षक आकाश पृथ्वी में व्यापक होते हो" २।२।४। हे अग्ने! तुम अदिति रूप हो, होता और वाणी भी हो" २।१।११। हे इच्छित वर्षा करने वाले अग्ने! हमारा

दौत्य कर्म करो।" २।६।८। "यह अग्नि मेधावी, प्रदीप्त, बलवान, दिव्य होता आश्रयभूत, पोषक, सामवन्द्य और ज्वालायुक्त हैं" २।६।११।

"अग्नि जल के सब ओर गमन करते हैं। वह जल अग्नि को नहीं बुझाता और अग्नि द्वारा नहीं सूखता। अन्तरिक्ष के पुत्र रूप अग्नि वस्त्र द्वारा ढके नहीं जाते। परन्तु जल से ढके होने के कारण नंगे भी नहीं हैं। सनातन, नित्य और तरुण सप्त नदियां अग्नि को गर्भ रूप से धारण करती हैं" (३।१।६)। अमरत्व प्राप्त देवताओं ने अग्नि की इच्छा से विश्वव्यापी अग्नि को पार्थिव, विद्युत और सूर्य रूप दिए। उन्होंने उन तीनों में से संसार के पालनकर्त्ता पार्थिव अग्नि को पृथ्वी पर तथा शेष दोनों को आकाश में स्थापित किया (३।२।६)। सबको आनंद देने वाले, सुवर्णमय रथ वाले, पीतवर्ण वाले, जलमें वास करने वाले, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, द्रुतगामी, बली, पोषक, प्रदीप्त, वैश्वानर अग्नि को देवताओं ने स्थापित किया" (३।३।५)। "हे इन्द्राग्ने! तुमने प्रथम चेष्टा से ही असुरों के नब्बे नगरों को एक साथ कंपा डाला" (३।१२।६) देवताओं का आह्वान करने वाले, अत्यन्त बुद्धिमान, संसार के स्वामी अग्निदेव हमारे यज्ञ में आते हैं (३।१४।१)। "हे बलवान अग्निदेव! मित्र, वरुणादि समस्त देवगण तुम्हारे प्रति स्तोत्र उच्चारण करते हैं। क्योंकि तुम बल के पुत्र तथा साक्षात् सूर्य हो। तुम अपनी पथ प्रदर्शन करने वाली रश्मियों को विस्तृत कर आलोक में स्थित रहते हो" (३।१४।४)। हे अग्ने! तुम्हारा तेज सभी तेजोमय पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ है" (४।७।६)। वैश्वानर अग्नि के तेज से दिव्यलोक के उच्च स्थान बने हैं। वैश्वानर की मूर्द्धारूप मेघ में जलराशि चलती है और उससे सात नदियाँ प्रवाहित होती हैं" (६।०।६)। "वे अग्नि स्तुत्य, बली सम्राट इन्द्र के समान ही हैं। अग्नि तेजस्वी, पर्वतों के धारणकर्ता, प्रज्ञापक, कल्याणप्रद और आकाश-पृथ्वी के अधिपति हैं" (५।६।१-२)।

"सूर्य के समान ही अग्नि अत्यन्त तेजस्वी होते हैं" (७।१०।१)। "हे अग्ने ! तुम संसार के पालक होकर हमें धन प्रदान करो । (७।१५।११) ।

"हे अग्ने ! जैसे पुत्र माता पिता की सेवा करता हुआ उन्हें सुख देता है, वैसे ही तुम आकाश-पृथ्वी को विस्तृत करते हुए उन्हें पूर्ण करते हो" (१०।५।७) । हम इन सब स्थावर जंगम प्राणियों के नाभि के समान मेधावी अग्नि को बढ़ाने वाले वैश्वानर अग्नि की शरण को प्राप्त हुए उन्हीं की उपासना करते हैं" (१०।५।३) । हे अग्ने ! जैसे शीघ्र गमन करने वाले अश्व युद्ध की ओर जाते हैं; वैसे ही संसार के सब धन तुम्हारी ओर गमन करते हैं" (११।६।६) । "हे अग्ने ! हमारे यज्ञ को बढ़ाते हुए सूर्यमण्डल में पहुँचो जिन ज्योतिर्मय मार्गों को श्रेष्ठ कर्मों द्वारा पाया जाता है, उनके रक्षक होओ।" (१०।५५।६) । यह अग्नि दीर्घ सूत्र वाले हैं। यह देने वालों में प्रमुख है। यह सहस्रों स्थानों को ढकने में समर्थ हैं। सैकड़ों मार्गों से आगमन करते हैं। यह प्रकाशमानों में भी प्रकाशमान हैं" (१०।६९।७।) । "मरणशील मनुष्यों में निवास करने वाले अविनाशी अग्नि की महानता से मैं परिचित हूँ" (१०।७९।१) । "जो अग्नि संसार को धारण करने वाले और विपत्तियों को दूर करने वाले है, वे होता और गृहस्वामी होते हुए हमको श्रेष्ठ धन और गौ प्रदान करते हैं ? मैं उन्हीं अग्नि की स्तुति करता हूँ" (१०।१२२।१) ।

यह अग्नि चरित्र, विष्णु का गुण गान ही समझना चाहिए। इन वेद मन्त्रों में भी विष्णु और अग्नि का साम्य झलकता है। यहाँ अग्नि को अदिति रूप कहा गया है। विष्णु ने अदिति के गर्भ से वामन रूप में अवतार धारण किया था। वह भी अदिति रूप ही है। विष्णु इन्द्र को युद्धों में सहयोग देते थे, असुरों को परास्त करने में इन्द्र का मार्ग-

दर्शन करते थे। उन्होंने मोहिनी रूप में देवताओं को अमृत पिलाया। वामन रूप से इन्द्र को इन्द्रासन दिलाया। वेद में अग्नि को इन्द्राग्नि सम्बोधित करते हुए उसे नब्बे नगरों को कंपाने का श्रेय दिया गया है। त्रिदेवों में विष्णु जगत के पालनकर्ता हैं। ऋग्वेद ७।१५।११ में अग्नि को भी संसार का पालनकर्ता कहा गया है। विष्णु की नाभि से पुराणों में ब्रह्मा की उत्पत्ति बताई गई है। तभी ब्रह्मा संसार की उत्पत्ति कर पाते हैं। ऋग्वेद १७।५।३ में अग्नि का भी ऐसा ही चरित्र दर्शाया गया है। लक्ष्मी विष्णु की पत्नी हैं। निरंतर उनकी सेवा में रत रहती है। वह उनके नियन्त्रण में है। वह समग्र ऐश्वर्यों के स्वामी हैं। ऋग्वेद १०।६।६ में अग्नि की ओर संसार की समस्त धन-सम्पत्ति का गमन बताया गया है। ऋग्वेद १।१५६।४ में विष्णु को सूर्य कहा है। ऋग्वेद १०।५५।६ में अग्नि को सूर्य मण्डल में पहुँचने की क्षमता वाला बताया गया है।

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि विष्णु और अग्नि एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। अग्नि ही विष्णु हैं।

अग्नि देवता है। देवता कहते हैं देने वाले की दिव्य विचारों वाले को। अग्नि दिव्य विचारों और प्रेरणाओं का स्रोत है। नीचे उसका संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया जा रहा है:—

(१) अग्नि एक व्यापक तत्व हैं—यजुर्वेद १२।३७ में कहा है। "हे अग्ने ! तुम औषधियों के गर्भ में हो, वनस्पतियों के गर्भ में हो, सब भूतों के गर्भ में हो और जल में भी हो।" विष्णु सर्वव्यापक हैं। प्राणी मात्र में समाए हुए हैं। सभी प्राणियों में विष्णु के दर्शन करने चाहिए। मनुष्यों में कोई छोटा बड़ा नहीं है, सब समान हैं। भेद भाव अनुभव करना अज्ञानता की निशानी है। रंगभेद नीति में कुछ भी सार नहीं हैं। सभी देशों के निवासियों को अपना कुटुम्बी ही समझना चाहिए। पशु

पक्षियों से भी घृणा न करके प्रेम करना चाहिए। उनकी हिंसा या अपमान विष्णु का तिरस्कार है।

(२) अग्नि को देख कर यह अनुभव होता है कि यह हमारी देह 'भस्मान्त शरीरम्' हैं। इसकी यही प्रकृति है। जो शरीर उत्पन्न हुआ है, उसकी मृत्यु निश्चित है। जब इस नश्वर शरीर को एक दिन अग्नि में जल जाना है तो इसके लिए छल, कपट, झूठ, अन्याय, अत्याचार, हिंसा आदि दुष्कर्म करना बुद्धिमानी नहीं है, इसे भोगों में लिप्त रखने और सजाने में ही अधिकांश समय लगा देने में कोई औचित्य नहीं है। जितने आहार की शरीर की आवश्यकता है उससे अधिक की आत्माको है। उसकी पुष्टि के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। भौतिक सुखों के लिए बुरे कर्मों का आश्रय लेना मूर्खता है। जब यह शरीर एक दिन अग्नि की भेंट होना ही है तो जीवन को तमोगुणी व रजोगुणी तत्वों के हाथों में क्यों सौंपा जाए, उसे सात्विक गुणों के विकास का माध्यम क्यों न बनाया जाए ?

(३) अग्नि का स्वभाव निरन्तर ऊपर उठने का है। यदि उसे दबाकर नीचे की ओर भी करने का प्रयत्न किया जाए तो भी वह ऊपर को ही प्रवृत्त होती है। हमारा स्वभाव भी निरन्तर ऊँचे उठने का होना चाहिए। हमारे चारों ओर आसुरी शक्तियों का विस्तार है, जो निम्न-गामी प्रवृत्तियों की ओर मोड़ने का प्रयत्न करती हैं। यदि उनके प्रभाव में आ गए तो जीवन नष्ट हो जाएगा। दैनिक आत्म निरीक्षण के द्वारा अपने अवगुणों का अवलोकन करना चाहिए। उन्हें दूर करते हुए ऊपर उठते रहना चाहिए। जो तत्व नीचे को दबाना चाहे, उनसे संघर्ष करके भी अपनी स्वाभाविक गति को न छोड़ना चाहिए।

(४) अग्नि में जो भी वस्तु डाली जाती है। वह उसे जला-कर उसके सूक्ष्म तत्व को वायु के साथ मिला देती है। जो गुण जलने

वाली वस्तु में होता है, उसे पक्षपात करके वह किसी व्यक्ति विशेष तक नहीं पहुँचाती। वह समान रूप से सारे विश्व को वितरण कर देती है। हमें भगवान ने जो सम्पत्ति दी है, वह केवल अपने शरीर को पुष्ट करने के लिए नहीं है। उसे समाज कल्याण के कार्यों में लगाते रहना चाहिए, उपनिषद ने कहा है यह धन ईश्वर का है, किसी और का नहीं है। गीता में कहा है जो अकेला खाता है, वह चोर है। सब के साथ मिल बाँट कर खाना चाहिए। वेद भगवान का आदेश है कि सौ हाथों से कमाओ और हजार हाथों से दान करो।

(५) अग्नि का गुण है अपने चारों ओर प्रकाश फैलाते रहना अन्धकार को दूर करना। हमारे पास जोभी अज्ञान और अन्धकार को दूर करने के साधन उपलब्ध हैं,उनका निरन्तर उपयोग करते रहना चाहिए। चारों ओर ज्ञान का दीपक जलता रहे, यही जीवन का उद्देश्य निश्चित होना चाहिए।

(६) अग्नि में जो भी वस्तु डाली जाती है, वह अग्निवत हो जाती है। कैसे भी स्वभाव की वस्तु हो, वह उसे अग्नि में परिवर्तित कर देती है, अपने जैसा बना लेती है। हमारा भी यह प्रयत्न होना चाहिए कि जो मित्र और सम्बन्धी हमारे सम्पर्क में आते हों, उन्हें अपने जैसा सद्गुणी बनाना चाहिए, अपने गुणों की छाप उन पर डालनी चाहिए।

(७) अग्नि में यदि मलिन वस्तुएँ डाली जाएँ तो अग्नि मलिन नहीं होती वरन् उस वस्तु को पवित्र कर देती है। इसी तरह से जो बुरे तत्व हमारे सम्पर्क में आते हैं, उनसे प्रभावित न होकर उन्हें अपना जैसा ढाल लेना चाहिए।

(८) अग्नि सदैव गरम रहती है। कभी ठण्डी नहीं पड़ती है। यह उष्णता शक्ति का प्रतीक है। शक्ति से ही सुख, शान्ति,

वैभव मिलता है। इसी से प्रगति और विकास सम्बन्धित है । अपनी शक्तियों का निरंतर विकास करते रहना चाहिए । जीवन में शिथिलता आना ही असफलता है । सफलता के लिए गतिशीलता आवश्यक है। यह हमारे जीवन में ओत-प्रोत होनी चाहिये ।

(६) अग्नि पहले स्वयं में उष्णता उत्पन्न करती है फिर दूसरी वस्तुओं में। दूसरों के निर्माण की बात सोचने से पहले हमें अपना निर्माण करना चाहिए। दूसरों को उपदेश देने का अधिकार तभी प्राप्त होता है, जब अपना जीवन स्वच्छ हो। जो गुण अपने में विकसित हो चुके हों, उन्हीं का उपदेश दूसरों को देने का साहस करना चाहिए।

(१०) अग्नि जब तक जलती है । उसकी गर्मी बनी रहती है । हमें भी जीवन में अंत तक अपनी शक्तियों को स्थिर रखना चाहिए। हमारा तेज मंद न होने पाए। शारीरिक क्षीणता के साथ आत्मिक ह्रास न होना चाहिए।

अग्नि देवता का सूक्ष्म अध्ययन जीवन निर्माण के अमूल्य सूत्र हैं । अग्नि ही विष्णु है । अग्नि का शरीर विष्णु का शरीर है। यह शिक्षाएँ विष्णु भगवान की हैं । इन्हें व्यवहारिक जीवन में उतारना ही विष्णु-भक्ति की सार्थकता है।

• • •

विष्णु और गाय ३१

भगवान विष्णु गाय से विशेष रूप से सम्बन्धित रहे हैं। वैष्णव जगत में गाय को कितना महत्व दिया गया है, इसका अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि विष्णु के सर्वोच्च पद को 'गोलोक' कहा जाता है जिसका वैष्णव साहित्य में विस्तृत उल्लेख मिलता है। वेद भी इस सम्बन्ध की पुष्टि करता है। ऋग्वेद १।१२।१८ में विष्णु को 'गोप' कहा गया है। गोप का अर्थ है—गौओं की रक्षा करने वाला, गो-पालक ऋग्वेद १।१५४।६ में तो विष्णु के उच्चतम लोक में गायों का निवास बताया गया है। यह पद उचित ही दिया गया है क्यों कि गाय को हिंदू धर्म में माता के पवित्र नाम से सम्बोधित किया गया है।

हिंदू धर्म में जिस प्रकार नदियों में गंगा, वृक्षों में पीपल, पक्षियों में गरुड़, मन्त्रोंमें गायत्री, शास्त्रों में वेद वैसेही पशुओं में गायको विशेष आदर व सम्मान प्राप्त है। इसे माता के उच्चतम व पवित्रतम पद से विभूषित किया गया है। पशु होते हुए भी इसके विशेष गुणों को दृष्टि में रखते हुए इसका मूल्यांकन राष्ट्र के निर्माता, मार्ग दर्शक, नेता व बुद्धि जीवी ब्राह्मण के तुल्य किया गया। इसी अभिप्राय को महाभारत में अलङ्कारिक शब्दों में इस प्रकार कहा गया है। कि "गाय ने देव, असुर और मनुष्यों सहित तीनों को धारण कर रखा है।" महाभारत में महर्षि च्यवन ने राजा नहुष से अपना मूल्य गाय के बराबर स्वीकार किया है। उपनिषदों में सत्यकाम का आख्यान तो अत्यन्त आश्चर्यजनक हैं जिसमें केवल गौओं को चराने से उसे चारों वेदों और षट् शास्त्रों का ज्ञान

प्राप्त हुआ था। वेद ने गाय को मनुष्य की सम्पत्ति कहा हैं, इन्हें देवताओं के राजा इन्द्र के समान घोषित किया है (अथर्व० ४।२१।५); इनका दुग्धादि रस निर्बल प्राणी को पुष्टि कारक, पुरुष के असुन्दर अंगों को सुन्दर बनाने वाला, परम प्रशंसित कहा है और उसे हमारे घरों को सुशोभित करने वाला कहा गया है। (अथर्व० ४।२१।६)। पवित्रतम वस्तु पवित्र रक्षक के पास ही रहनी चाहिए। इस लिए गाय को विद्वान ब्राह्मण को ही देने के लिए आदेश दिया गया है। (अथर्व० १२।४।२२ इसे देवताओं की निधि रूप घोषित किया गया है। (अथर्व० १२।४।२९ इसके द्वारा ब्रह्म पद मिलने की बहुत बड़ी बात कह दी गई है (अथर्व० १२।५।४) क्यों कि इसका दुग्धादि रस शरीर को ही पुष्ट करने वाला नहीं है, इससे आत्मा को भी बल मिलता है। वेद ने आगे बढ़ कर इसे हमारे भाग्य का निर्माता कहा (ऋग्वेद १।१६४।४०) और इसे हमारी श्रेष्ठ सम्पत्ति बताया है (ऋग्वेद ६।२८।५) तभी प्रार्थना की गई है कि इसे चोर न चुरावें, यह नष्ट न हों, शत्रुओं के हथियार इन पर न गिरें (ऋग्वेद ६।२८।३) और इनकी रक्षा की विशेष व्यवस्था की जाती थी। रक्षा के लिए राजा को विशेष आज्ञाएें दी गई हैं ताकि यह राष्ट्र की श्रेष्ठतम मानी जाने वाली सम्पत्ति नष्ट न होने पाए।

गाय को इतना महत्व देने का कारण है। क्यों कि उसके शरीर से निकलने वाली हर वस्तु अन्य पशुओं की अपेक्षा मूल्यवान व गुणवान है। भाव प्रकाश के अनुसार गाय का दूध मधुर शीतल, दुग्धवर्द्धक, स्निग्ध, वात पित्त और रक्त विकार नाशक, वृद्धों के लिए अमृत और सम्पूर्ण रोगों को नष्ट करने वाला है। गाय का दही मीठा, रुचिकारक, पवित्र, अग्नि प्रदीपक, हृदय को प्रिय पुष्टिकारक, और वात नाशक है। सम्पूर्ण दहियों में गाय का दही अधिक गुण वाला है। गाय का मक्खन हितकारी, वर्ण को उत्तम बनाने वाला, बलदायक, अग्नि प्रदीपक, वात, पित्त, रक्त विकार, क्षय, बवासीर, लकवा और खाँसी को नष्ट करता

है। यह बालकों और वृद्धों के लिए हितकारी है। परन्तु बालकों के लिए तो अमृत सदृश ही है। गाय का घी नेत्रों को हितकारी, अग्निप्रदीपक, पाक में मधुर, शीतल, वात, पित्त तथा कफ नाशक, बुद्धि, लावण्य, कांति ओज तथा तेज की वृद्धि करने वाला, बलवर्द्धक, आयुवर्द्धक, रसायन, पवित्र, और मंगल रूप है। यह सम्पूर्ण घी में उत्तम है।

वैज्ञानिक विश्लेषण करने पर गो मूत्र को रासायनिक तत्वों से ओत-प्रोत पाया गया। आयुर्वेद के अनुसार यह अनेकों रोगों में लाभ दायक है। भाव प्रकाश के अनुसार गो-मूत्र—चरपरा, तीक्ष्ण, गरम, खारा, कसैला हलका, अग्निप्रदीपक, मेधा को हितकारी, पित्तकारक, और कफ, वात, शूल, गुल्म, उदर अफारा, खुजली, नेत्र रोग, मुखरोग, किलास कोढ़, वात सम्बन्धी रोग, वस्ति, रोग, कोढ़, खाँसी, श्वास, सूजन, कामला तथा पाण्डु रोग नाशक हैं। गो मूत्र पिया जाए तो खुजली, किलास कोढ़, शूल, मुख रोग, नेत्र रोग, गुल्म (गोला), अतिसार, वात सम्बन्धी रोग, मूत्र रोग, खाँसी, कोढ़, उदर रोग, और पाण्डु रोग, नाशक है। कान में डालने से कर्णशूल नाशक है, प्लीहा में लाभ दायक है। दमा, प्रमेह मधुमेह, अजीर्ण, तिल्ली, यकृत-विकार उदरामय, और आँव सम्बन्धी रोगों में इसको लाभप्रद देखा गया है। हृदय रोगों में भी इसका प्रयोग होता है। पेटके कीड़े इससे नष्ट हो जाते हैं। नेत्र-ज्योति को बनाए रखने के लिए यह अमृत है, गले को सुरीला बनाने के लिए यह सहायक है।

गाय का गोबर व्यर्थ की वस्तु नहीं है। इस पर वैज्ञानिक शोधें हुई हैं। आयुर्वेदाचार्यों ने तो इसे एक औषधि के रूप में माना है और अनेकों रोगों में इसके उत्तम प्रयोग लिखे हैं। हैजे और अतिसार के कीटाणुओं को नष्ट करने की इसमें अपूर्व शक्ति है। सरसों के तेल में मिलाकर मोच के स्थान पर मालिश की जाती है। छालों जख्मों और घावों पर घी

में मिला कर लगाते हैं और वह शीघ्र ही सूख जाते हैं। शीतला में भी इसका उपयोग किया जाता है। गोबर को सुखा कर उसकी राख को छालों पर थोड़ा-थोड़ा डाला जाए तो वह भर जाते हैं। तिल्ली में भी वह लाभदायक सिद्ध हुआ है। दौरों, दिमाग की खराबी, मृगी आदि रोगों में इसे तिली के तेल या घी में मिला कर लेप करने से लाभ होता है। इसका शीत निवारक गुण तो प्रसिद्ध ही है क्यों कि साधु लोग इसकी राख को शरीर में मल कर नग्न रह कर साधना करते हैं और उन्हें शीत का कोई प्रकोप नहीं होता। इतने रोगों में काम आने वाली वस्तु क्या किसी प्रकार की धन सम्पत्ति से कम मूल्यवान है ?

हिंदू धर्म में इसे अत्यन्त पवित्र माना जाता है। घरों में, चौकों व रसोईयों को इससे लीपा जाता है। वैज्ञानिकों ने इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार से दिया है कि गोबर में रोग उत्पन्न करने वाले कीटाणुओं को नष्ट करने की अपार शक्ति है। जहाँ गोबर का लेप होता है। वहां कीटाणु उत्पन्न नहीं हो सकते। उस स्थानको कीटाणु से रक्षित समझना चाहिए। यह भी बताया गया है कि इसमें फिनायल जैसा दुर्गन्ध दूर करने वाला गुण है। रसायन शास्त्रियों की खोजों के परिणाम स्वरूप गाय के गोबर में सेलिका, चूना, फारफोरस, मेगनेशिया और एसिड पाए जाते है जिसके कारण से अनेकों रोगों के निवारण में इसका उपयोग किया जाता है। इन खोजों की सहायता से इसका उपयोग और रोगों में भी किया जा सकता है। इस लिए पुराणकारों ने इसका धन के रूप में चित्रण किया है।

भारत कृषि प्रधान देश है जहाँ की ९० प्रतिशत जनता कृषि पर ही निर्भर करती है। प्राचीन काल में खेतों में गाय के गोबर का ही खाद के रूप में प्रयोग होता था जिससे फसलें अच्छी होती थीं और भूमि की उर्वरा शक्ति बनी रहती थी। प्राचीन काल में दीपावली कृषकों का

ही त्योहार था क्यों कि उस समय ज्वार, बाजरा, मक्का, मूंग, उर्द और धान आदि की फसलें कट चुकी होती हैं ईख तैयार होती है और रवी की उनको तैयारी करनी होती है। खरीफ की फसल का ढेर उनके घर में लग जाने से उनके चारों ओर प्रसन्नता नाच उठती हैं और उस अन्न रूप धन की पूजा के लिए लक्ष्मी का पूजन करते हैं और अपनी हार्दिक प्रसन्नता को दीपोत्सव के रूप में प्रदर्शित करते हैं और इससे ३ दिन पूर्व गाय के बछड़े की पूजा, अर्चना करते हैं, जिसमें गाय के प्रति आभार प्रदर्शन ही अभिप्रेत है क्यों कि उसके कारण ही यह अन्न के ढेर उसे प्राप्त हुए हैं।

दीपावली के अगले दिन 'गोवर-धन' की पूजा की जाती है। गोबर का गिरिराज बनाया जाता है, विधि-विधान से उसका पूजन होता है। उसकी परिक्रमा करके उसका सम्मान किया जाता है और भगवान कृष्ण की जय-जयकार बोली जाती है जिन्होंने इन्द्र पूजा के स्थान पर "गोबर-धन" पूजा को प्रचलित किया और गोबर के महत्व को दर्शाया। हिंदू धर्म की यही विशेषता है कि जिस वस्तु से हमें लाभ प्राप्त होता है, उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना अपना कर्तव्य धर्म समझते हैं।

गोवर को धन मानने की आस्था का वैज्ञानिक विश्लेषण भी किया गया है और वह इस कसौटी पर खरा उतरा है। अमेरिका की कृषि अनुसंधान संस्थाओं के वैज्ञानिकों का कहना है कि भूमि की उर्वरा शक्ति धीरे-धीरे कम होती रहती है। इस कमी को पूरा करने के लिए कोई प्राकृतिक साधन होना चाहिए। अनुभव के लिए उन्होंने गो-मूत्र से मिला गाय का गोबर खेतों में डाला। परिणाम आशाजनक निकला। गेहूँ की फसल गाय के गोबर से अच्छी होती है, इस तथ्य को हमारे पूर्वज भली प्रकार जानते थे। गेहूँ को संस्कृति में 'गोधूम' भी कहा जाता

है। वैज्ञानिक शोधों ने यह भी सिद्ध किया है कि रुई की फसल भी गाय के गोबर से अच्छी होती हैं क्योंकि इससे उर्वरा शक्ति बढ़ती है। अन्न और वस्त्र ही जीवन यापन की दो प्रमुख आवश्यकताऐं हैं जिनकी प्राप्ति के लिए गोबर एक अमूल्य साधन है।

उपयोगिता और सात्विक गुणों की दृष्टि से गाय का स्थान सर्वोपरि है। हिंदू संस्कृति की यही विशेषता है कि जो वस्तु भौतिक या आध्यात्मिक रूप में लाभदायक होती है, उसे धर्म से सम्बन्धित कर दिया जाता हैं। गाय तो विशेष रूप से धार्मिक जगत से जुड़ी हुई है। विष्णु तो उनके रक्षक गोप माने ही गए हैं। उनके प्रमुख अवतार कृष्ण ने तो साक्षात गोप का ही रूप धारण किया, गोप के घर में ही उनका पालन पोषण हुआ। गाय तो उनकी जैसे एक अभिन्न अंग बन गई। गायों को वह स्वयं चराते थे। गायें भी उन्हें परम प्रिय सखा के रूप मानती थीं। कृष्ण और गायों में इतना प्रेम हो गया था मानों वह उनके परिवार की सदस्यायें ही हों। जब वह बाँसुरी की मधुर तान छोड़ते थे, वह कहीं भी घास चर रही हों, दौड़ती हुई उनके पास आती थीं और हावभाव से अटूट प्रेम का प्रदर्शन करती थीं। कृष्ण भी उनकी जी जान से सेवा करते थे।

गाय के माखन से तो उन्हें विशेष प्रेम था। वह उसे चुरा कर खा जाते थे। तभी तो उन्हें प्रेम में 'माखनचोर' भी कहा गया है।

कंस की आज्ञा से व्रज का सारा दूध, दही और मक्खन मथुरा आता था और उस क्षेत्र के गोप स्वयं उस से वंचित रह जाते थे। कृष्ण और उनके साथी गोपों ने इसका विरोध किया। उन्होंने पहले समझाया बुझाया, वह नहीं माने, उनके घरों से माखन चुरा कर खाया, उनकी मटकियों को तोड़ा, मथुरा के मार्ग में खड़े होकर संगठित रूप से उनका विरोध किया। यह एक प्रकार से कृष्ण के नेतृत्व में जन-आंदोलन था।

गोवर्द्धन आने का अभिप्राय भी यही था कि सभी गोप अल्प योग भी देगें तों कंस के विरोध की गम्भीर समस्या भी सुलझ जायेगी।

कृष्ण ने अपने व्यवहार से सिद्ध किया कि गाय हमारा जीवन है, उसके लिए बड़े से बडे त्याग के लिए भी सदैव तैयार रहना चाहिए और उसकी सुरक्षा व अभिवृद्धि के लिए हर सम्भव प्रयत्न करना चाहिए।

कृषि प्रधान देश भारत की अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने में गाय का विशेष हाथ रहा है। प्राचीन काल में इसी को धन सम्पत्ति माना जाता था। जिसके पास जितनी गायें होती थीं। वह उतना ही धनवान समझा जाता था। गोबर को तो धन घोषित किया गया है। गाय की उपयोगिता को देखते हुए गाय को लक्ष्मी का रूप ही स्वीकार किया जाता था। पौराणिक कथाओं में तो गाय में लक्ष्मी का निवास माना गया है और इस सम्बन्ध में अनेकों कथाऐं उपलब्ध होती हैं। लक्ष्मी विष्णु की अर्द्धांगिनी हैं। गाय भी कृष्ण का अभिन्न अंग रही है।

कृष्ण ने गाय की रक्षा के लिए जनमत तैयार किया था, उसे एक संगठन का रूप दिया था। आज गाय की उपेक्षा हो रही है, उसके वंश को नष्ट करने का प्रयत्न किया जा रहा है। विष्णु (कृष्ण) भक्त का कर्तव्य है कि जिस तरह से कृष्ण ने इसे अपना एक अभिन्न अंग मान कर उसके लिए सर्वस्व त्याग की बाजी लगाई थी, हम भी अपने जीवन का उद्देश्य निर्धारित कर उसकी सुरक्षा और अभिवृद्धि में पूर्ण सहयोग दें। यही सच्ची विष्णु भक्ति का प्रमाण है।

• • •

इन्द्र देवताओं के राजा हैं, वैदिक युग के सर्वोपरि देवता हैं। वेदों व पुराणों में इन्द्र के इतिहास की झाँकी मिलती है। वेदों में उसके चरित्र का चित्रण सुन्दर ढङ्ग से हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक युग में इन्द्र एक सर्वोच्च सम्मानित पद था। तभी तो इन्द्र के सम्बन्ध में वेद में सबसे अधिक मन्त्र आए हैं। इन्द्र से सम्बन्धित लगभग साढ़े तीन हजार मन्त्र वेद में उपलब्ध होते हैं। इतने मन्त्र और किसी भी देवता को समर्पण नहीं किये गए हैं। अग्नि, सोम, वायु, मित्रावरुण, ऊषा, पूषा, अश्विन आदि देवता इन्द्र के बाद ही आते हैं। इसका कारण यह है कि ऐतिहासिक व्यक्तियों में इन्द्र ने सबसे अधिक वीरता-पूर्ण कार्य किए थे। वह शक्ति का प्रतीक ही बन गये थे। अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष करना उनका मुख्य कार्य बन गया था। अन्यायी राजाओं को परास्त करके वह कमज़ोर राजाओं की सहायता किया करते थे। राक्षसों का दलन उनका उद्देश्य था। इस कार्य में वह इतने प्रसिद्ध हो गए थे कि जिस राजा पर आसुरी-तत्व आक्रमण करते थे, वह इन्द्र का ही आह्वान करता था और इन्द्र भी उसकी सहायता करना अपना कर्तव्य समझते थे। इन्द्र ने मानो असुरता के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए अपना जीवन ही अर्पण कर दिया हो। सम्भव है वह स्वप्न में भी असुरों को मारते-काटते हों। वह असुरों के नहीं असुरता के शत्रु थे। जो लोग धर्म और सदाचार से दूर रहते थे, यज्ञ नहीं करते थे, धर्म और संस्कृत का विरोध करते थे, वह इन्द्र के

शत्रु थे। इन्द्र उन्हें बुरे विचारों का विष फैलाने वाले अनार्य अथवा दास कहते थे।

पुराणों में भी देवासुर संग्राम की कथाएँ मिलती हैं। उनसे पता चलता है कि देवताओं और असुरों में निरन्तर संघर्ष और युद्ध हुआ करते थे। इसका कारण विचारों और व्यवहार में मतभेद ही था। असुर चोरी, डकैती और ऐसे ही अन्यायपूर्ण कार्यों से जनता को आतंकित करते थे। इसलिए जनता उनसे परेशान थी और उनका सदैव असहयोग ही करती थी। इन्द्र शान्तिपूर्ण राज्य की स्थापना करना चाहते थे, उनकी शक्तियाँ दिन-दिन सङ्गठित होती गईं और अन्त में वह असुरों को परास्त करने में सफल हुए। असुरों ने अपने आचरण को बदलना स्वीकार नहीं किया। वह इन्द्र के पराक्रम से भयभीत होकर अपने देश को ही छोड़ कर भाग गए और विदेशों में जाकर असीरिया आदि अपनी नई बस्तियाँ बसा लीं। असुरों पर विजय के परिणाम स्वरूप इन्द्र को देश-व्यापी ख्याति प्राप्त हुई और उनका अभिनंदन किया गया। तब से इन्द्र सर्वोच्च सत्ता का प्रतीक पद बन गया। इस पद को प्राप्त करने वाले इन्द्र ही कहलाते थे। उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व दिखाई नहीं देता।

असुरों ने जब विदेशों में अपनी बस्तियाँ बसा लीं और राज्य स्थापित कर लिया तो वह आर्यों से अपनी पुरानी शत्रुता को भूले नहीं। अपनी शक्तियों को सङ्गठित करके उन्होंने पुनः इन्द्र पर आक्रमण किया। इस बार वह वृत्र के नेतृत्व में आए। पारसियों की अवेस्ता में इसका वर्णन मिलता है। असुर योजनाबद्ध रूप से आए थे परन्तु आर्य भी अपनी पूरी तैयारी से लड़े थे। इन्द्र के वज्र ने हजारों के सर उतारे। विजय इन्द्र के हाथ रही। असुरों को पराजय का मुंह देखना पड़ा, उनकी अधिकांश सेना काम आई। इससे उनकी शक्ति को काफी क्षति पहुँची। वृत्र को जीत कर तो इन्द्र की धूम चारों ओर मच गई।

वेद में इन्द्र के युद्धों के काफी वर्णन मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि युद्ध ही उनका जीवन बन गया था। चूंकि अत्याचारियों को समाप्त करने का उनका उद्देश्य निःस्वार्थतापूर्ण था, इसलिए वह कभी पराजित नहीं हुए, वह जहाँ जाते, विजयश्री उनके पैर चूमती थी। ऋग्वेद के सोलहवें मण्डल के १८वें सूक्त में महाभारत जैसे एक भीषण युद्ध का वर्णन आता है, जिसमें वशिष्ठ के कहने पर इन्द्र ने सूर्यवंशी राजा सुदास की सहायता की थी। दस अनार्य राजाओं ने, जिनमें तुर्वश, भलान, विपाण, मत्स्य, पक्थ व अलिन आदि भी थे, सुदास पर आक्रमण किया। पुरुष्णी (रावी) नदी के बाँध को तोड़ दिया, जिससे आस-पास का भू-प्रदेश जल-मग्न हो गया। इन्द्र ने अनार्य राजाओं के छक्के छुड़ा दिये। उनके ५६०६६ योद्धाओं को मौत के घाट उतारा।

इन्द्र के शत्रु नेताओं में शम्बर का नाम भी विशेष रूप से लिया जाता है। वह शक्तिशाली व ऐश्वर्यशाली असुर था। उसने ९९ नगरों का निर्माण करवाया था। इन्द्र ने इन समस्त पुरियों का विध्वंस कर दिया और सौवीं को अपना निवास स्थान बनाया। शम्बर मायावी था, अपने रूप बदलने में वह विशेषज्ञ था, इसलिए ३९ वर्ष तक वह इन्द्र से बचता रहा। इन्द्र भी अपनी धुन के पक्के थे। अन्त में उनकी योजना सफल हुई और चालीसवें वर्ष में शम्बर मारा गया।

इन्द्र का सारा जीवन अनार्यों से संघर्ष और युद्ध करने में ही बीता परन्तु उन्होंने अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध ही युद्ध किया, किसी श्रेष्ठ पुरुष का कभी वध नहीं किया। वह स्वयं कहते हैं—"जो सत्य का पालन नहीं करता और यज्ञ में हवि आदि नहीं देता, मैं उस दुष्कर्मी, पापी को भी मिटा देता हूँ।" (ऋग्वेद ७।८७।१)।

इन्द्र की प्रशंसा के वेद में सूक्त के सूक्त भरे पड़े हैं। ऐसा लगता है कि उस युग में इन्द्र ने अत्यन्त वीरतापूर्ण कार्य किये थे

और अनार्यों से आर्यों की रक्षा की थी। महान रक्षक और योद्धा के रूप में इन्द्र ने आर्यों का हृदय जीत लिया था, तभी उन्हें सर्वोच्च आसन पर अवस्थित किया गया था। इसलिए उनकी कीर्ति देश की सीमाओं को तोड़ कर विदेशों में भी फैली। श्री त्रिवेणी प्रसादसिंह के अनुसार "वृत्रहन वहराम अथवा राम के रूप में ईरान तथा 'वाहाजन' एवं पराक्रमी 'हरकुलेश' के रूप में मध्य-पूर्व तथा योरोप में भी इन्द्र की पूजा हुई तथा वरुण, मित्र एवं नासत्य के साथ इन्द्र नाम से भी यह मिश्रानी राजाओं के देवता रहे।"

वेद के अध्ययन से पता चलता है कि विष्णु का जीवन भी ऐसे ही पराक्रमों से भरा हुआ था। वह भी असुरों का नाश और देवताओं की सहायता करते रहते थे। उनकी वीर गाथायें वेद में वर्णित हैं। ऋग्वेद १।२६।१६ में कहा है "विष्णु के पराक्रम को देखो जिनके बल से सभी नियम स्थित हैं।" सभी नियमों का आधार उनके बल पर ही है। ऋग्वेद १।१५४।२-४ में कहा है। "मैं विष्णु के पराक्रम का वर्णन करता हूँ। उन्होंने तीन पैरों से लोकों को नाप लिया और आकाश को स्थिर किया। विष्णु के तीन पदों में सम्पूर्ण जगत निवास करता है। अतः पर्वत पर रहने वाले भयंकर पशुओं के समान यह संसार विष्णु के पराक्रम की प्रशंसा करता है जिन विष्णु ने अकेले अपने तीन पैरों में तीनों लोकों को नाप लिया, उन महात्मी विष्णु की बहुत से जीव स्तुति करते हैं। जिन अकेले ने त्रिगुणात्मक पृथ्वी आकाश और सब लोकों को धारण किया है, वे विष्णु अक्षय स्वतंत्रता में प्रसन्न रहते हैं और मनुष्यों को मधुर अन्नादि से युक्त करते हैं।"

ऋग्वेद १।१५५।४-६ में भी विष्णु की प्रशंसा की गई है।" सबके स्वामी रक्षक, शत्रुरहित युवा विष्णु के बल-वीर्य की हम स्तुति करते हैं। जिन्होंने लोक रक्षा के लिए तीन पाँव रख कर ही सब लोकों को लाँघ डाला। सभी प्राणी इन विष्णु के दो पदों को

ही देख सकते है। तीसरे पद को पहुँचने का कोई भी साहस नहीं करता। आकाश में गमन करने वाले मरुद्‌गण भी नहीं प्राप्त कर सकते। विशाल स्तुतियों से युक्त विष्णु ने काल के ९४ अंशों को चक्र की तरह घुमाया। स्तुति करने वाले उन्हें ध्यान में खोजते और आह्वान करते हैं।" अन्यत्र भी कहा है। "विष्णु ही मित्र युक्त दिन को प्राप्त करने वाले श्रेष्ठ बल को धारण करते हुए अन्धकार को मिटा कर प्रकाश करते हैं" १।१५६।४। "हे विष्णु! तुम्हारी महिमा को कोई नहीं जानता। पृथ्वी पर जो उत्पन्न हुए हैं या जो होंगे। उनमें तुम्हारी महिमा का ज्ञाता कोई नहीं है। तुमने विराट स्वर्ग को धारण किया है और पृथ्वी की पूर्व दिशा को भी धारण किया है" ४।९९।२।

वेद में जितने मंत्र इन्द्र के लिए अभिहित किए गए हैं उतने विष्णु के लिए तो नहीं हैं। परन्तु फिर भी वेद में विष्णु का स्थान ऊँचा है। विष्णु इन्द्र के सहयोगी हैं, मित्र हैं, उनके साथ कार्य करते हैं। वृत्र के वध में उन्होंने इन्द्र का साथ दिया है। इसलिए वेद में इन्द्र और विष्णु साथ-साथ दिखाई देते हैं।

"हे इन्द्र और विष्णो! तुमने सूर्य, अग्नि और उषा को प्रकट कर यज्ञमान के लिए स्वर्ग की रचना की है। तुमने रणक्षेत्र में दस्यु की माया का नाश किया है। हे इन्द्र और विष्णो! तुमने शम्बर के निन्यानवें पुरों को तोड़ा और वर्चि के शत सहस्र वीरों का संहार किया। यह स्तुति इन्द्र और विष्णु की बल-वृद्धि करेगी। हे इन्द्र और विष्णो! संग्राम भूमि में तुमको स्तोत्र अर्पित किया है, तुम हमारे अन्न की वृद्धि करो। हे विष्णो! मैंने यज्ञ में स्तुति की है। तुम हमारे हव्य को स्वीकार करो। हमारी स्तुति तुम्हारी वृद्धि करे और तुम सदा हमारा पालन करो।" ऋग्वेद (७।९९।४-६)

"हे इन्द्र और विष्णु! मैं यह स्तोत्र और हवि तुम्हारी ओर प्रेपित करता हूँ। इसके पश्चात् तुम यज्ञ का सेवन करो। तुम हमें

उपद्रव रहित मार्ग से ले जाते हो, अतः धन प्रदान करो। हे इन्द्र और विष्णो ! तुम स्तुतियों के कारण रूप हो। तुम्हें स्तुतियाँ प्राप्त हों। स्तोताओं से गाने योग्य स्तोत्र भी तुम्हें प्राप्त हो। हे इन्द्र और विष्णो ! तुम सोमों के स्वामी हो ! तुम धन-दान करते हुये सोमों के सामने आओ। स्तोत्र, उक्थों के सहित तुम्हें बढ़ावें। हे इन्द्र और विष्णो ! हिंसकों के हराने वाले अश्व तुम्हें वहन करें। तुम स्तुतियों का सेवन करते हुये मेरे निवेदन पर ध्यान दो। हे इन्द्र और विष्णो ! सोम का हर्ष उत्पन्न होने पर तुम प्रदक्षिणा करते हो। तुमने अन्तरिक्ष का विस्तार किया है। हमारे जीवन के लिए लोकों को प्रसिद्ध किया है। हे इन्द्र और विष्णो ! तुम सोम से प्रवृद्ध होते हो। यजमान तुम्हें नमस्कारयुक्त हव्य देते हैं अतः तुम हमें धन प्रदान करो। तुम कलश के और समुद्र के समान पूर्ण हो। हे इन्द्र और विष्णो ! तुम सोम-पान से अपना उदर भरो। तुम्हारे पास हर्षकारी सोम गमन करे। तुम मेरी स्तुति सुनो। हे इन्द्र और विष्णो ! तुम अजेय हो ! तुम में से कभी कोई पराजित नहीं हुआ। तुमने जिस पदार्थ के लिए राक्षसों से स्पर्द्धा की, वह अपरिमित होते हुए भी तुम्हें प्राप्त हो गया। (ऋग्वेद ६।६९।१–८)। "जो उत्तम कर्म वाले विष्णु और इन्द्र की सेवा में तत्पर रहते हैं, वे त्रैलोक्य स्वामी परमात्मा से यजमान को यज्ञ फल का भागी बनाते हैं।" ऋग्वेद (१ १५७।५)। "हे इन्द्र और विष्णु ! हम दोनों के उस स्थान की कामना करते हैं जहाँ अत्यन्त शक्तिशाली सिद्धि रूप गौएँ हैं।" ऋग्वेद (१।१५४।६)।

इससे स्पष्ट है कि वेद ने इन्द्र और विष्णु को सत्कर्मों में मित्र और बन्धु के रूप में ग्रहण किया है। यह तो व्यवहारिक नियम है कि मित्रता समान स्तर वाले व्यक्तियों में होती है। उनका आधार बल, यश, धन, विद्या या कोई भी शक्ति हो। वेद ने इस तथ्य को स्पष्ट शब्दों में भी स्वीकार किया है "विष्णु इन्द्र के साथी तथा मित्र हैं।"

ऋग्वेद (१।२२।१९)। "इन्द्र के ही कहने पर इन्द्र के सखा विश्व-व्यापी विष्णु के जल निरोधक अनावृष्टिकारी अथवा आर्यों के घेरने वाले वृत्र के नाश के लिए अपने प्रसिद्ध विक्रम दिखाए।" (ऋग्वेद ४।१८।८-१९)। "जब से इन्द्र के सखा विष्णु अर्थात् इन्द्र के समवर्ती व सहचर विष्णु ने तीनों लोकों को तीन पग में पार कर लिया तब से ही जल को सोखने व हरने वाली सूर्य की हरित किरणें निखिल गगन की गति को नियमित कर रही हैं।" (ऋग्वेद ८।१२।१७,२५)।

वेद में सखा होते हुए भी इन्द्र को विष्णु से बड़ा ही माना गया है। "हे इन्द्र ! तुम्हारे जन को विष्णु देते हैं। वे विष्णु तुम्हारी प्रेरणा से आकाश में घूमते हैं। (ऋग्वेद ८।७७।१०) माता अदिति महान ऐश्वर्य वाले तुम इन्द्र की कामना करती हुई कहती है कि "हे पुत्र इन्द्र ! यह सब विजयभिलाषी वीर तुम्हें प्राप्त होते हैं।" तब इन्द्र ने कहा—"हे विष्णु तुम वृत्र को मारने को इच्छा करते हुए अत्यन्त पराक्रमी बनो।" ऋग्वेद ४।१८।११

दोनों में कुछ समानताएँ होते हुए भी वेद ने इन्द्र को बड़ा और विष्णु को छोटा हो स्वीकार किया है। इन्द्र को बड़ा भाई और विष्णु को उनका छोटा भाई कहा गया है। विष्णु को उपेन्द्र-छोटा इन्द्र-गौण इन्द्र भी कहा गया है। इस से यह भी विदित है कि यह आवश्यकता पड़ने पर इन्द्र का आसन ग्रहण कर सकते हैं। वेद में इन्द्र को सर्वोच्च आसन पर अवस्थित किया गया है परन्तु पुराणकारों ने विष्णु को उठाने के लिए इन्द्र को गिरा दिया। राजा पृथु के यज्ञ में वह अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा चुरा कर ले जाते हैं और वह भी ब्राह्मण के वेष में। यह दुष्कृत्य उन्होंने कई बार किया है। अन्त में पृथु को क्रोध आया और धनुष पर बाण चढ़ाकर मारने लगे तो ऋषियों ने रोक कर कहा "इस एक बाण से केवल इन्द्र ही नहीं वरन् सारी सृष्टि का नाश हो जाएगा हम इन्द्र का नाश तो केवल मंत्र शक्ति से ही कर सकते हैं।" यहाँ इन्द्र

को इतना वीर्यहीन वताया गया है कि वह यज्ञ को असफल करने के लिए चोर का नीच कार्य करते हैं कि उनमें कुछ भी वल और पौरुष नहीं है। सारी सृष्टि पर राज्य करने वाले, शक्तिशाली असुरों का विनाश करने वाले इन्द्र अपने आसन को बचाने के लिए चोर बनते हैं और पृथु उनके वध के लिए प्रवृत होते हैं।

वेदों के उदार वृति के इन्द्र जो प्रत्येक असहाय प्राणी की सहायता के लिए सदैव तत्पर रहते हैं, पुराणों में द्वेषी दिखाए गए हैं। इन्द्र को अभीष्ट नहीं है कि अश्विनी कुमारों को देवताओं की तरह यज्ञ में भाग मिले। इन्द्र विरोध करते हैं। एक यज्ञ में जब च्यवन ऋषि ने इस विरोध का प्रतिकार किया और मायावी पुरुष की उत्पत्ति से अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया तो इन्द्र मान गए।

वेदों के निःस्वार्थी इन्द्र पुराणों में घोर स्वार्थी बन जाते हैं। वृत्र वध के लिए वज्र वनाते हैं और वह भी तपस्वी दधीचि की हड्डियों से। इतने उपकारी जीव के शरीर को नष्ट करके इन्द्र अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं।

वेदों के सदाचारी इन्द्र पुराणों में कामी और भोगी वनते हैं और मायावी रूप धारण करके सती साध्वी स्त्रियों का सतीत्व हरण करते हैं। गौतम-पत्नी अहिल्या के साथ गौतम का रूप धारण करके इन्द्र ने भोग किया और भेद खुलने पर शाप प्राप्त किया। वेदों के सर्वोच्च पदाधिकारी देवराज इन्द्र को इतना नीच कर्म करते हुए पुराणों में दिखाया गया है।

ऐसा लगता है कि पुराणकार विष्णु को सर्वोच्च आसन पर इन्द्र के स्थान पर विठाना चाहते थे परन्तु इन्द्र को भिन्न-भिन्न उपायों से गिराने के अतिरिक्त उन्हें और कोई मार्ग नहीं मिला। यह इन्द्र के साथ अन्याय है।

भागवत में स्वीकार किया गया है कि इन्द्र पूजा प्राचीनकाल से गोपों में चली आ रही थी और हर वर्ष बड़े समारोह के रूप में व्रज में आयोजन होता था। विष्णु कृष्ण का अवतार ग्रहण कर ही चुके थे। एक बार जब इन्द्र-यज्ञ की तैयारी होने लगी तो कृष्ण ने उसका विरोध किया कि इन्द्र के स्थान पर गोवर्धन की पूजा होनी चाहिए। प्राचीनकाल से चली आ रही पद्धति को रोक दिया गया। स्पष्टतः यह इन्द्र को नीचा दिखाने के लिए ही था। इस पर इन्द्र को क्रोध आ गया। बस उन्होंने मेघों को घोर वर्षा करने का आदेश दिया। व्रज में चारों ओर जल ही जल दिखाई देने लगा। कृष्ण ने अपनी उँगुली पर गोवर्धन को उठा लिया और उसके नीचे गोपों का संरक्षण किया। इन्द्र का क्रोध शांत होगया क्योंकि उसने कृष्णकी शक्तिको देख लिया।

पुराणों में जहाँ भी इन्द्र का वर्णन आया है, वहाँ उन्हें देव-राज के सम्मानित नाम से ही सम्बोधित किया गया है परन्तु उन्हें बार-बार असुरों से पराजित होते दिखाया गया है। वह कभी ब्रह्मा के पास सहायता के लिए भागते हैं कभी विष्णु के पास। वलि से राज्य दिलाने के लिए विष्णु वामन अवतार ग्रहण करते हैं और छल से वलि से तीन पग पृथ्वी दान में माँग कर सारी सृष्टि को नाप लेते हैं। वेद में विष्णु इन्द्र के आदेश पर कार्य करते हैं। और इन्द्र से छोटे—उपेन्द्र माने जाते हैं परन्तु पुराणों में वह इन्द्र से बड़े दिखाए गए हैं। वह इन्द्र की प्रार्थना पर उनकी सहायता करते हैं।

विष्णु ने तीन पग चल कर सारी सृष्टि को नाप लिया। यह क्रिया से उनकी गतिशीलता और क्रियाशीलता की द्योतक है। व्यक्ति कैसी भी परिस्थिति में क्यों न हो, यदि वह क्रियाशील रहता है, निरंतर संघर्ष रत रहता है तो एक न एक दिन वह प्रगति के उच्चतम शिखर पर अवश्य पहुंच जाएगा, यह विष्णु के जीवन से स्पष्ट है।

• • •

पुराणों में विष्णु को अदिति के गर्भ से उत्पन्न होकर वामन रूप में बलि से राज्य सत्ता छीन कर इन्द्र को दिलाने की कथा आती है। अदिति को देव-माता भी कहा गया है।

ऋग्वेद १।८९।१० के अनुसार "आकाश, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, सम्पूर्ण देवता, सभी जातियाँ, अथवा जो उत्पन्न हुआ है और होगा, वह सभी अदिति रूप है।"

Contributions of Science to Mythology में मैक्समूलर ने कहा है "अदिति द्यावा-पृथ्वी से परे अनिर्वचनीय अस्तित्व है।" Religion and philosophy of the Vedas में निरुक्त का 'आदत्ते रसान्' उदाहरण देते हुए मैकडॉनेल ने कहा है "रस या जल को सोखने वाले सूर्य की माता अदिति है।"

ऋग्वेद १०।७२।२-४ के अनुसार "कर्मकार के समान सृष्टि के आदि में अदिति ने देवताओं को जन्म दिया। वे नाम और रूप से रहित देवता नाम रूप आदि के सहित प्रकट हुए। देवताओं के उत्पन्न होने से पहले असत् से सत् की उत्पत्ति हुई। फिर दिशाएं और वृक्ष उत्पन्न हुए, वृक्षों के पश्चात् पृथ्वी और पृथ्वी से दिशायें उत्पन्न हुईं। दक्ष अदिति से उत्पन्न हुए।"

अदिति के आठ पुत्र हुए जिनमें सात को लेकर वे स्वर्ग लोक में गईं। आठवें सूर्य आकाशमें ही रह गए थे। "उस श्रेष्ठ समयमें अदिति

सात पुत्रों को साथ ले गयी और सूर्य को आकाश में ही प्रतिष्ठित किया।"
ऋग्वेद १०।७२।८,६

वेद ने सूर्य और दक्ष दोनों को अदिति का पुत्र कहा है। दक्ष का नामकरण सृष्टि करने में दक्ष होने के कारण हुआ। वेद के भाष्यकारों ने सूर्य को ही दक्ष माना है। रामायण में कश्यप प्रजापति को मारीच-कश्यप के नाम से सम्बोधित किया गया है। मारीच को 'सूर्य' कहते हैं। शतपथ ब्राह्मण ४।२।१।८ में सूर्य को 'कूर्म'-'करने वाला' कहा है। वही दक्ष है।

यास्काचार्य ने निरुक्त २।१३ में सूर्य को अदिति पुत्र कहा है। यजुर्वेद ३।३५ में अदिति के पुत्र को जीव-धारियों की स्थिरता के लिए ज्योति प्रदान करने वाला कहा है। वह स्पष्ट रूप से सूर्य ही है।

यजुर्वेद ४।३५ में सूर्य को द्यौ का पुत्र कहा गया है। सूर्य का नाम आदित्य भी है। आदित्य नाम से ही उनकी माता का नाम अदिति पड़ा। द्योलोक का नाम अदिति है। सूर्य अर्थात् विष्णु को उसका पुत्र कहा गया है। सूर्य द्योलोक में ही अपनी कक्षा पर भ्रमण करता है। इस लिए वह द्योलोक का पुत्र कहा गया है। सूर्य जगत की आत्मा है, उत्पत्ति का कारण है। पृथ्वी पर प्राणियों का जीवन उसी के कारण है। जीव-धारियों का प्राण ही सूर्य है। सूर्य न हो तो उनके प्राण क्षीण हो जायें। सूर्य विष्णु है। विश्व का पालन पोषक है। वह विश्व की सभी वस्तुएँ प्रदान करने की जिम्मेदारी लिए हुए है। पृथ्वी पर हीरे, पन्ने, जवाहर, सोने चाँदी और ताँबे के जो खजाने भरे पड़े हैं, लोहे, कोयले, तेल, पेट्रोल के जो अपार सागर सुरक्षित हैं, सैकड़ों प्रकार के फल फूल और अनाज इसकी छाती से दूध की तरह निकलते हैं–यह सब सूर्य की कृपा से ही होता है। सूर्य की हर किरण शक्ति का अवतार लेकर आती है।

सूर्योपनिषद में कहा है "आदित्य से ही वायु, भूमि, जल, ज्योति, आकाश और दिशाऐं उत्पन्न होती हैं। वही अन्तःकरण रूप है। वही पांचों प्राणों के रूप में प्रकाशित है। वही पंचेन्द्रियों के रूप में कार्य करते हैं। वही पंच कर्मेन्द्रिय हैं। ज्ञानेन्द्रियों के पंच विषय भी वही हैं। ज्ञान विज्ञान से युक्त हैं। सूर्य स्थावर जंगम के आत्मा हैं। इन्हीं से इन भूतों की उत्पत्ति होती है। इन्ही से यज्ञ, मेघ और आत्मा आविर्भूत होते हैं।

इसी सूर्य-विष्णु की माता अदिति है। वह विश्व-माता है। देव माता है। उसकी कोख से जो पुत्र उत्पन्न हुआ, उसने असुरों से राज्य सत्ता छीन कर देवताओं को दिलाई। उस समय वलि असुरों के शक्ति-शाली राजा थे। वलि को 'वैरोचन' भी कहा है। रोचन कहते हैं—तेज प्रकाश और कांति को। जो इन शक्तियों से हीन हो—वलि इस प्रकार से अन्धकार के प्रतीक हुए। अन्धकार में आसुरी शक्तियों की वृद्धि होती है। उसी समय उनको प्रोत्साहन मिलता है। चोरी आदि कार्य इसी वलि के सहयोग से ही होते हैं। पृथ्वी पर अन्धकार छा जाने को असुरों का राज्य कहा गया है। रात्रि आने पर अन्धकार प्रकाश पर हावी हो जाता है, अपनी सत्ता जमा लेता है। प्रातःकाल होते ही सूर्य का उदय होता है। विष्णु अदिति के गर्भ से जन्म लेते हैं। प्रातःकालीन सूर्य लघु रूप में होता है। इस लिए वौने वामन के रूप में चित्रित किया गया है। वामन अब अपने विराट रूपको प्रदर्शित करते हैं। वह पृथ्वी, अंत-रिक्ष और द्यौलोक में अपने पैरों को फैला देते हैं। समस्त लोकों में उनका प्रभाव दिखाई देने लगता है। सूर्य जब धीरे-धीरे वढ़ता है तो वह सारी पृथ्वी पर चमकता है। अन्धकार समाप्त हो जाता है—वलि का राज्य छिन जाता है। देवताओं के राज्य की स्थापना होनी हैं। देवता प्रकाश के प्रतीक हैं। उनकी शक्ति वढ़ने लगती है। वामन जब विराट रूप धारण कर लेते हैं, जब दो पगों में ही पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौलोक

नाप लेते हैं और तीसरा पैर रखने को उन्हें स्थान नहीं मिलता तो बलि अपना सर आगे करते हैं। वामन बलि के सर पर अपना तीसरा पग रखते हैं। वह पाताल में धँस जाते हैं। सूर्य के बढ़ने के साथ-साथ ऐसा लगता है जैसे अन्धकार नीचे की ओर भाग रहा है। यही बलिका पाताल की ओर जाना है।

बलि को पाताल भेजने वाले थे, अदिति के पुत्र वामन-विष्णु-सूर्य। इस रूपक में विष्णु सूर्य है और द्यौ-अदिति उनकी माता। जिस तरह विष्णु और उनके अवतारों की सर्वत्र मान्यता है और पूजा उपासना होती है, उनके अलग-अलग पुराण भी बन गए हैं, जगह-जगह उनके मंदिर भी दिखाई देते हैं, उनके अनुयाइयों के संगठित सम्प्रदाय भी है, ऐसे विष्णु को जन्म देने वाली, देवमाता अदिति के प्रति पुराणकारों के उपेक्षा बरती है। विष्णु के कृत्यों का मूल श्रेय तो अदिति को ही है जिसने इतनी शक्तिशाली आत्मा को जन्म दिया परन्तु उनका न कोई पुराण बनाया गया, न मन्दिर बनाए गए, न उनकी उपासना प्रचलित हुई, यही आश्चर्य है। अदिति को तो सर्वोच्च देवी के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहिए था।

० ० ०

विष्णु और भृगु ३४

भागवत विष्णु प्रधान ग्रंथ हैं। उसमें यदि विष्णु की असाधारण महिमा का गान किया जाये तो यह स्वाभाविक ही है परन्तु जहाँ सर्वज्ञ तीनों देवताओं की एकता स्थापित की गई है और तीनों को एक रूप ही बताया गया है, वहाँ विष्णु को शेष दो से बड़ा सिद्ध करना अपने के प्रति पक्षपात है। यह नीति अन्य पुराणों को अभीष्ट नहीं है। सभी देवता एक दूसरे की स्तुति करते हैं। इस तरह से वह अपनी ही बड़ाई करते हैं। परन्तु भागवत दशम स्कन्ध के ८९ वें अध्याय में महर्षि भृगु के माध्यम से विष्णु को शिव और ब्रह्मा से श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। कथा इस प्रकार है—

एक बार सरस्वती नदी के तट पर ऋषियों ने एक यज्ञीय आयोजन के लिए विचार विमर्श किया। उसी में यह विवाद चला कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव में बड़ा कौन है। यह निश्चय हुआ कि भृगु उनकी परीक्षा करें। भृगु पहले ब्रह्मा के पास गए। ब्रह्मा सृष्टि के रचयिता हैं। इतने महान व्यक्तित्व के सामने सहज ही हर व्यक्ति का सर झुक जाता है। भृगु उनकी सभा में गए। परन्तु उनको प्रणाम अभिवादन कुछ भी नहीं किया। ब्रह्मा को यह व्यवहार अशिष्ट लगा। वह क्रोध में लाल पीले हो गये। यह अशिष्ट व्यवहार करने वाला उनका अपना ही पुत्र था। इस लिए अपने क्रोध को उन्होंने प्रकट तो न होने दिया परन्तु उनकी आकृति से लग रहा था कि उनको भृगु का प्रणाम न करना बड़ा अपमानजनक लगा है। भृगु ने सोचा कि यह तो

बाह्य विषयों में लिप्त हैं। इस शरीर का ही सम्मान चाहते हैं। जो नश्वर है, यह सम्मान से प्रसन्न होने वाले और अपमान से अप्रसन्न होने वाले हैं। यह ही साधारण मनुष्यों की वृत्ति है। गीता में तो भगवान ने ज्ञानी और पण्डित उसी को कहा है जो मान और अपमान में एक रूप रहता हो, दोनों स्थितियों में उसके मानसिक संतुलन में कोई अन्तर न पड़ता हो। जो मान से फूला नहीं समाता और अपमान से असंतुष्ट नहीं होता, वही स्थितप्रज्ञ है। तभी ब्राह्मणों के लिए प्रशंसा, स्तुति और सम्मान को वर्जित माना है क्योंकि इससे अहंकार की उत्पत्ति होती है जो हमको नष्ट कर देता है। अत: यह सम्मान भी तपस्वी के तप को नष्ट करने वाला सिद्ध होता है। इस लिए जो साधक थोड़े से अपमान से अपना संतुलन खो बैठता है, समझना चाहिए कि उसकी साधना अपरिपक्व है। आत्मानुभूति करने वाले साधक को मान और अपमान में कोई अन्तर नहीं पड़ता, जो व्यक्ति इस अन्तर को देखता है, उसमें इसका अभाव ही लगता है। इस तरह से ब्रह्मा जी भृगु की परीक्षा में असफल रहे।

अब वह कैलाश पर शंकर के पास गए। शिव ने अपनी भुजाओं को आलिङ्गन के लिए आगे बढ़ाया। परन्तु भृगु ने उनकी उपेक्षा की और कहा "तुम लोक और वेद की मर्यादा का उल्लङ्घन करते हो इस लिए मैं तुमसे नहीं मिलता।" यह सुनते ही शिव का मन जैसे अग्नि से जलने लगा हो, वह आग बबूला हो गये और त्रिशूल लेकर भृगु पर झपटे। सती बीच में आ गई, अन्यथा वह भृगु को यमलोक पहुँचा देते। भृगु की परीक्षा में शिव भी असफल रहे क्योंकि उन्होंने इस आवेश और उत्तेजना को अत्यन्त घातक समझा। यह उत्तेजना शारीरिक मानसिक बौद्धिक और आत्मिक सभी दृष्टियों से हानिकारक है।

क्रोध से नाड़ी संस्थान और स्नायु मण्डल प्रभावित होते हैं। खिचाव और तनाव की वृद्धि होती है। यह खिचाव मस्तिष्क तक भी

पहुंचता है। परिणामत: शरीर की जीवनी शक्ति का क्षय होने लगता है, रक्त का दौरान तीव्र हो जाता है, तापक्रम की वृद्धि हो जाती है। रक्त में शक्तिदायक तत्वों का अभाव होने लगता है और दूषित तत्व बढ़ने लगते हैं। अधिक काम करने के कारण हृदय को भी धड़कन, घबराहट और रक्तचाप जैसे रोगों का सामना करना पड़ता है।

क्रोध पाचन-संस्थान को भी प्रभावित करता है। पाचक रस पूर्ण मात्रा में नहीं निकल पाते और पाचन क्रिया अव्यवस्थित हो जाती है। शरीर की दुर्बलता, क्षीणता इसका सहज परिणाम है। एक विद्वान का कहना है कि "उत्तेजना एक क्षणिक पागलपन है, उद्वेग की एक आँधी है। यह दुर्भावनाओं की ज्वार है जिसमें निर्बल इच्छा शक्ति वाला मनुष्य सम्भल नहीं पाता और बारूद से बने पुतले की तरह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। उसे जीवन सौंदर्य, सुख, शांति, सफलता आदि से हाथ धोना पड़ता है।

क्रोध एक ऐसा उबाल है जो विवेक शक्ति और दूरदर्शिता को नष्ट कर देता है। मनुष्य में निर्णय करने की शक्ति का अभाव हो जाता है। यही जीवन को ऊँचा उठाने वाले दो सशक्त स्तम्भ हैं। यह गिर जाने से तो भवन के गिरने का भय उत्पन्न हो जाता है। जिस भवन पर यह इतना गर्व करता है, वह खोखला हो जाता है।

क्रोध मनुष्य की आन्तरिक निर्बलता का द्योतक है। यह कमजोर मन की ही उपज है। अध्यात्मवादियों ने मनसे ही बन्धन और मोक्ष माना है। क्रोध करने वाला व्यक्ति मोक्ष और स्वतंत्रता के मार्ग पर नहीं, बन्धन और परतंत्रता के मार्ग पर चलता है। शास्त्रों ने इसे नरक का द्वार कहा है। गीता (२।६२-६३) के अनुसार 'क्रोध से अविवेक होता है। अविवेक से स्मृति भ्रंश, स्मृति भ्रंश से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से सर्वनाश हो जाता है।" नारद पुराण (पूर्व-प्रथम

७।४१) ने इसे मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु माना है। विष्णु पुराण (१।६।१७-१९) में कहा है "क्रोध अविवेकियों को ही हुआ करता है। विचारवानों को भला कैसे हो सकता है ? यह क्रोध तो मनुष्य के अत्यन्त कष्ट से संचित यश और तप का भी प्रबल नाशक है। लोक और परलोक दोनों को बिगाड़ने वाले इस क्रोध का महर्षिगण सर्वदा त्याग करते हैं।" महाभारत (वन० ३१३।९२) ने इसे दुर्गम शत्रु माना है और (वन पर्व ३५।५१) में लक्ष्मी को नष्ट करने वाला बताया है।

कबीर ने क्रोध को काल की संज्ञा दी है—जहाँ क्रोध तहाँ काल है।

इसे पाप का मूलाधार होने की घोषणा भी की गई है—

क्रोध पाप का मूल है, क्रोध आप ही पाप।
क्रोध मिटे बिनु ना मिटे, कबहुँ जीव संताप ॥

महात्मा गांधी के अनुसार क्रोध के लक्षण शराब और अफीम दोनों से मिलते हैं। शराबी की भाँति क्रोधी मनुष्य भी पहले आवेश वश लाल पीला हो जाता है, फिर आवेश के मन्द होने पर भी क्रोध न घटा तो वह अफीम का कार्य करता है और वह मनुष्य की बुद्धि को मन्द बना देता है। अफीम की तरह वह दिमाग को कुरेद डालता है।

अक्रोधी व्यक्ति ही प्रगति पथ का अधिकारी होता है—पद्म पुराण (सृष्टि खण्ड ५०।६१।६२) में क्रोध छोड़ देने से तीर्थों के सेवन का फल बताया है। "महाभारतकार का निर्णय है (अनु० ११३।६) कि जिसने क्रोध को जीत लिया है। वह परलोक में सुख पाता है।"

क्रोध ऐसा महारोग है जिससे शंकर जैसे श्रेष्ठ देवता भी न बच सके जिनकी चरणधूल को करोड़ों व्यक्ति अपने मस्तक पर लगाकर गर्व का अनुभव करते हैं और अपनी जीवन आशाओं का उन्हें केन्द्र बिन्दु मानते हैं। अपनी जीवन नैया को उनके सहारे छोड़ देते हैं. वह भी इस रोग से पीड़ित पाए गए। रोग कमजोर शरीर में ही पनप सकता है। यह निर्बलता का ही लक्षण है। अपरिपक्व साधना का प्रतीक है । भारतीय तत्ववेत्ताओं ने बड़े से बड़े नेताओं को इस कसौटी पर कसा है कि वह व्यवहारिक दृष्टि से कितने उच्च हैं। शंकर का क्रोध भृगु की दृष्टि में उन्हें गिरा देता है क्योंकि योगी और तपस्वी को छोटी-छोटी बातों पर आवेश नहीं आना चाहिए। वास्तव में तपस्वी वह है जिसने क्रोध को जीत लिया है। भृगु ने इस कथा के माध्यम से यह निर्णय किया है कि मनुष्य का व्यक्तित्व, यश, कीर्ति, पद, प्रतिष्ठा कितने ही बढ़े-चढ़े क्यों न हो, यदि वह क्रोध पर विजय नहीं प्राप्त कर सका तो मानना चाहिए कि अभी उसमें विवेक का अभाव है, जो प्रगति पथ पर बढ़ने से रोकता है। अतः जिन्हें श्रेष्ठता को ऊँचाईयों पर चढ़ना अभीष्ट हो, वह क्रोध, उत्तेजना और आवेश पर नियन्त्रण रखें। उसके कारण शंकर भृगु की परीक्षा में असफल रहे।

अब भृगु वैकुण्ठ में विष्णु भगवान के पास गए। वह लक्ष्मी जी की गोद में अपना सिर रख कर सोए हुए थे। भृगु ने सोचा यह भी लक्ष्मी के नियन्त्रण में हैं। उन्होंने विष्णु के वक्षःस्थल पर लात मारी विष्णु चौंके। वह शंकर की तरह आवेश में नहीं आए। शंकर को तो भृगु ने कुछ अपमान जनक शब्द ही कहे थे। विष्णु को आवेश में लाने के लिये तो पूरा जोर लगा दिया। पहले तो उन्होंने इस छोटे से शिष्टाचार का उल्लङ्घन किया कि पति-पत्नी जहाँ अकेले में लेटे हुए हैं वहाँ पर पुरुष को नहीं जाना चाहिए। साधारण व्यक्ति के साथ अगर ऐसा व्यवहार किया जाए तो वह आग बबूला हो जाएगा। यह तो एक साधा-

रण-सा सामाजिक नियम है कि किसी दम्पत्ति के व्यक्तिगत कक्ष में जाने से पूर्व उनकी अनुमति लेना अत्यन्त आवश्यक होता है। भृगु ने इसकी अवहेलना की। विष्णु यदि उन्हें डांटते तो यह नियमानुकूल था परन्तु वह भृगु के अपराध को भूल गए, साधु पुरुषों की तरह वह उन्हें प्रसन्न करने के उपाय अपनाने लगे। उनको स्वागत न कर सकने के लिऐ खड़े हो क्षमा-याचना करने लगे और कहा कि यदि उनको पूर्व सूचना मिल गई होती तो वह उनकी अवगानी करते। विष्णु के भृगु के चरणों को हाथ में ले लिया और दवाने लगे। उनके इन शब्दों ने तो मानो भृगु के मन को जीत लिया "आपके चरण अत्यन्त कोमल हैं। मेरे वक्ष:स्थल पर लात मारने से इन्हें कष्ट हुआ होगा। आपके चरणों का जल तीर्थों को भी तीर्थं वनाने वाला है। आप उससे वैकुण्ठ को मुझे और मेरे अन्दर रहने वाले लोकपालों को पवित्र कीजिए।"

उन्हें यह अनुमान था कि विष्णु लक्ष्मी के प्रभाव में है। साधारणत: लक्ष्मी से प्रभावित व्यक्ति विवेक की आँख खो देता है। वह हर प्रकार के उचित अनुचित प्रवृतियों को अपनाता है भले ही उसमें राष्ट्रीय व सामाजिक क्षति होती हो। ऐसा व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक पूंजी को भी नष्ट कर देता है। वह अपने आत्म विकास पर स्वयं रोक लगा देता है। इसी भावना को व्यक्त करने के लिए वृहदारण्यकोपनिषद में महर्षि याज्ञवल्क्य से मैत्रेयी पूछती हैं "भगवन ! यदि धन से सम्पन्न सारी पृथ्वी मेरी हो जाये तो क्या मैं उससे अमर हो सकती हूँ अथवा नहीं ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया "नहीं, भोग सामग्रियों के सम्पन्न मनुष्यों का जैसा जीवन होता है, वैसा ही तेरा भी जीवन हो जायेगा। धन से अमृतत्व की आशा है ही नहीं।"

कठोपनिषद में यम ने नचिकेता को धन सम्पत्ति और भोगों के लोभ देते हुए कहा—" तुम धन सम्पत्ति और अनंत काल तक जीने के

साधनों का यदि इस आत्म ज्ञान विषयक वरदान के समान वर मांगते हो तो माँग लो और तुम इस पृथ्वी लोक पर बड़े भारी सम्राट बन जाओ। मैं तुम्हें सम्पूर्ण भोगों में से अति उत्तम भोगों का पात्र बना देता हूँ।" परन्तु भारत की आत्मा के प्रतीक ब्रह्मचारी नचिकेता ने इन्हें अस्वीकार कर दिया और कहा मुझे केवल आत्म-ज्ञान चाहिए।

भृगु को भ्रम था कि विष्णु को भी लक्ष्मी ने भोग वासना की शराब पिला दी है और वह उसके नशे में चूर होंगे और अपने विवेक को सन्तुलित न कर पाएँगे परन्तु उनका भ्रम खोखला निकला। यह ठीक है कि विष्णु ने लक्ष्मी को अपने वक्षःस्थल पर स्थान दिया है अर्थात् वह उन्हें अत्यन्त प्रिय हैं। हर गृहस्थ को भी बताते हैं कि लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए परिश्रम करे और सहस्र भुजाओं से उसे एकत्रित करने का प्रयत्न करे क्योंकि सभी सांसारिक व्यापार उसी के सहयोग से सम्पन्न होते हैं। भौतिक जीवन को सुखी बनाने के लिए वह एक आवश्यक साधन है। विष्णु पालन-पोषण के देवता हैं। सारे जगत के पालन की जिम्मेदारी उन पर है। अतः बिना लक्ष्मी के तो उनके कर्तव्य में बाधा उपस्थित हो सकती है। इस लिए वह ऐसी नीति अपनाते हैं जिससे लक्ष्मी सदैव उनके पास रहती है। निरंतर उनके पास रहने पर भी वह उसके नियंत्रण में नहीं रहते। लक्ष्मी स्वयं विष्णु की सेवा करती हैं, उनके अधिकार में है। विष्णु इस पक्ष में है कि भोग तो करना चाहिए, इन्द्रियों पर कड़ा प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए, उन्हें अपने स्वाभाविक धर्मों के अनुकूल ही चलना चाहिए परन्तु उनमें लिप्त नहीं होना चाहिए, उनके ही होकर नहीं रह जाना चाहिए। 'ईशावास्योपनिषद्' के अनुसार भोग तो करना चाहिए परन्तु त्याग से। त्यागपूर्वक भोग बन्धन में नहीं डालते। यह आदर्श गृहस्थ के लक्षण हैं। उसकी जीवन नीति यही होनी चाहिए।

लक्ष्मी जब समुद्र मंथन से निकलीं और विष्णु को वरण करने के लिए वरमाला पहनाई तो उन्हें आदर्श गुणों का खान पाया।

भृगु को तो विष्णु की परीक्षा लेनी थी। अतः उन्हें उत्तेजित करना ही था। इसलिए उन्होंने अपमानजनक कृत्य किया। वैसे भी बिना कारण के कोई व्यक्ति किसी को मारे तो उसका प्रतिकार करना स्वाभाविक है। फिर अपनी धर्म पत्नी के सामने तो छोटे-से अपमान को बड़ा माना माना जाता है। और क्रोध की तरंगें क्षण भर में आकाश को स्पर्श करने लगती हैं। परन्तु विष्णु ने इस विष का पान किया और उससे अप्रभावित रहे जैसे उन्हें कुछ हुआ ही नहीं। उन्होने अपनी सहिष्णुता का परिचय दिया। यह दैवी गुण आध्यात्मिक विकास का आलम्बन है। असहिष्णु व्यक्ति अपनी इस पूंजी को खो देता है। वह अपने तप का नाश करता है। पारिवारिक व सामाजिक सुख शान्ति के लिए इस गुण का होना आवश्यक है। असहिष्णुता से गृहस्थ जीवन कलह क्लेश का अखाड़ा बन जाता है। कठिनाइयाँ और बाधाएँ हर एक के जीवन में आती हैं। उनसे जो घबड़ा कर उत्तेजित हो जाता है वह अपनी प्रगति को कुण्ठित करता है। प्रगति सदैव उसकी परीक्षा लेती रहती है। सर्दी, गर्मी, वर्षा, भूख, प्यास, निद्रा आदि के हिचकोले लगते ही रहते हैं। जो इनके समक्ष अपने हथियार डाल देता है। वह इस जीवन का असफल यात्री गिना जाता है। उसे जीवन की सुख और शान्ति प्राप्त करने का कोई अधिकार नहीं है।

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य ने लिखा है "सहिष्णुता का ही दूसरा नाम तप है। यदि कोई प्रशंसा करे तो फूल कर कुप्पा न होना और गालियाँ दे तो क्रोध से लाल न हो जाना, दोनों अवस्थाओं में एक समान रहना, यह है सच्ची सहिष्णुता। जिसमें सहन शक्ति होती है, उसके जीवन में एक अनोखी मिठास अपूर्व शान्ति, अद्भुत सन्तोष और एक दिव्य अनुभूति का संचार होता है जो कि बुरे

से बुरे व्यक्तियों को बदल देती है। सहनशीलता में जादू की शक्ति है।

यही सहन शीलता का जादू भृगु ने विष्णु में देखा और अत्यन्त प्रसन्न हुए कि उन्हें अपनी कसौटी पर खरा उतरने वाला पात्र मिल गया अन्यथा अपने मिशन से निराश ही लौटना पड़ता। वह प्रसन्नचित्त ऋषियों के पास लौटे और उन्हें सूचना दी कि विष्णु ही मेरी परीक्षा में उत्तीर्ण हुए हैं और वे ही श्रेष्ठ देव माने जाने चाहिये।

ब्रह्मा, विष्णु और महेश तो ईश्वर की तीन देवत्व की शक्तियों के नाम हैं। उनमें तो कोई छोटा बड़ा नहीं है। परन्तु सहिष्णुता-श्रेष्ठता की कसौटी अवश्य है। सफल जीवन के लिए इस गुण का विकास आवश्यक है। इस कथा का यही आशय है।

• • •

मूर्ति पूजा ईश्वर उपासना का आरम्भिक शिक्षा-सूत्र है। यह चित्त शुद्धि का सरल साधन है। इसमें अपने इष्ट देव का ध्यान सुविधा जनक होता है। निराकार उपासना कष्टसाध्य है जैसा कि भगवान कृष्ण ने गीता १२-५,६ में निर्देश दिया है कि जो सबके मूल में रहने वाले, अचल, अव्यक्त, सर्व व्यापी, अचिन्त्य, प्रत्यक्ष न दिखलाये जाने वाले और नित्य अक्षर अर्थात् ब्रह्म की उपासना सब इन्द्रियों को रोक कर सर्वत्र समबुद्धि रखते हुए करते हैं, वे भी मुझे ही पाते हैं परन्तु उनके चित्त अव्यक्त में आसक्त रहने के कारण उनको क्लेश अधिक होते हैं। क्योंकि अव्यक्त उपासना का मार्ग कष्ट से सिद्ध होता है। इसका अभिप्राय यह है कि साधक सब इन्द्रियों को जीत कर और सभी प्राणियों के प्रति सम बुद्धि की व्यवहारिक भावना बना कर ही उस निराकार उपासना का अधिकारी बनता है। यदि आरम्भिक साधक के लिए सूक्ष्म और असीम की उपासना निर्धारित कर दी जाए तो वह अन्धकार में ही टटोलता रहेगा और भटक जायेगा क्योंकि केनोपनिषद् (१।३) के अनुसार "वहाँ न तो चक्षु पहुँचता है, न वाणी पहुँचती है और न ही मन ही पहुंच सकता है, वह विदित पदार्थों से भी परे हैं।" अतः ऋषियों का यह मत बना कि सीमित बुद्धि वाला साधक सीधे असीम की उपासना नहीं कर सकता, वह सीमित की उपासना करने से ही असीम तक पहुंच जायेगा। इस ध्रुव सत्य की पुष्टि एक पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक ने भी की है। अपनी पुस्तक "दि रेलिजन एटीट्यूड" में वुडवर्न ने लिखा है—

"मूर्ति का यथार्थ महत्व प्रतीकात्मक होता है और इसका प्रभाव विशेषतः ऐसे व्यक्तियों की चेतना पर पड़ता है जिन्होंने मानसिक प्रतिमाओं का प्रयोग करना नहीं सीखा है।" अर्थात् जिसका मानसिक स्तर पर्याप्त रूप से विकसित नहीं हुआ है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक नाइट ने भी अपनी पुस्तक "सिम्वालिकल लैंन्ग्युएज आफ एनशेन्ट आर्ट एन्ड माइथोलाजी" में लिखा है "मूर्ति पूजकों का यह विश्वास था कि दैवी सत्य प्रतीक में छिपा रहता है पहेली और कल्पित आख्यायिकों में प्रछन्न रहता है। यह निर्वल मानवीयता को समयानुकूल रखता है। वनिस्वत का यह ज्ञान और मूल दर्शन में प्रदर्शित हो।" इससे स्पष्ट है कि आधुनिक मनोविज्ञान भी इस मूल भूत सिद्धान्त को स्वीकार करता है कि छोटे स्तर वाले व्यक्तियों के लिए प्रार्थना व पूजा के लिए कोई दृश्य चित्र या मूर्ति की आवश्यकता अनिवार्य है।

भगवान विष्णु विश्वरूप हैं। उनके निराकार रूपको ध्यान में लाना सहज नहीं है। इस लिए ध्यान के लिए एक मूर्ति की आवश्यकता हुई जो स्थूल रूप से इनकी साक्षात प्रतिकृति हो। आचार्यों की खोज का परिणाम शालग्राम शिला निकली जिसे विष्णु का प्रतिरूप माना गया। वैसे तो शालग्राम शिला गण्डकी नदी में उपलब्ध होने वाला एक पत्थर ही होता है। उसके वीच में तो सोने के सूक्ष्म कण रहते हैं और चारों ओर काले रंग का प्रस्तर दृष्टि गोचर होता है। काले रंग के पत्थर से विष्णु के श्याम वर्ण की झलक तो मिलती ही है। उनके मूर्त रूप का वर्ण तो वही होना ही चाहिए। केवल काले रंग से ही वह पत्थर विष्णु नहीं वन गया वरन् उसकी बनावट भी ऐसी है कि उससे भगवान के विश्व रूप के प्रतिनिधि के दर्शन होते हैं। सुप्त भुवन रूपी विश्व के वीच में सूर्य चमक रहा है जो सोने के सदृश्य लगता है और उसके चारों ओर काले रंग का सोम का घेरा है जो गोलाकार होता है। जिस तरह काले रंग के सोम के घेरे में सूर्य चमक रहा है, उसी तरह काले प्रस्तर

के घेरे में सोने के सूक्ष्म कणों का संग्रह है। शालग्राम शिला साक्षात् विश्व-रूप भगवान की मूर्ति है। सुविधा की दृष्टि से विश्व रूप भगवान की प्रति-कृति शालग्राम शिला मान ली गई है जिसके ध्यान में साधक को कोई कठिनाई अनुभव नहीं होती। शालग्राम का ध्यान करते हुए साधक यह नही समझता कि वह केवल एक पत्थर की पूजा कर रहा है, वह उस पत्थर के माध्यम से भगवान के विश्व रूप का ध्यान करता है।

शालग्राम शिला के भौतिक रूप की उपयोगिता भी कम महत्व पूर्ण नहीं है। इसके मध्य में सोने के कण विद्यमान रहते हैं। सोने को शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से एक महत्व पूर्ण धातु माना गया है। स्त्रियों इसे आभूषणों के रूप में शरीर के विभिन्न अंगों में धारण करती हैं। वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि उससे स्त्रियों के स्वास्थ्य में स्थिरता रहती है। सोने की भस्म तो आयुर्वेद में प्रसिद्ध टॉनिक माना ही जाता है। सोने के पात्र में शेरनी का दूध दोहना भी इस तथ्य की पुष्टी करता है। सोनेके इन गुणोंके कारणही शतपथ ब्राह्मण ४।३।४।२४ व १०।४।१।६ में कहा है—"आयुः हिरण्यं, अमृतं हिरण्यं" अर्थात् सुवर्ण आयु है और सुवर्ण अमृत है। इसके इन गुणों के कारण ही जन्म लेते ही शिशु की जिह्वा पर सोने की शलाका से ॐ लिखा जाता है और मरते समय भी मुख में सुवर्ण डालने की प्रथा है। प्राचीन काल में अंगुलियों में सोने के छल्ले और कानों में कुण्डल पहने जाते थे। जिनका स्पष्ट अभिप्राय स्वास्थ्य की स्थिरता ही था परन्तु उन्होंने कालांतर में आभूषण का रूप धारण कर लिया और उसे फैशन माना जाने लगा, वही सामाजिक सम्मान का चिन्ह भी बन गये।

वेद ने भी स्पष्ट रूप से सुवर्ण के स्वास्थ्यवर्द्धक गुणों का प्रतिपादन किया है। "जो पुरुष इस सुवर्ण को धारण करता है। वह वृद्धावस्था में मरने वाला होता है। जिस सुवर्ण को सूर्य द्वारा उत्पन्न

प्रज्ञावान मनु ने धारण किया था, वही दीप्तिमान सुवर्ण तुझे देह कांति से युक्त करे। ऐसे सुवर्ण के धारण करने वाला आयु से सम्पन्न होता है। हे सुवर्णधारी पुरुष! यह सुवर्ण तुझे आयुष्मान बनावे, यह तुझे वर्च से युक्त करे, और तू सुवर्ण के समान तेज को प्राप्त करता हुआ मनुष्यों में तेजस्वी हो। वरुण तेज से सुवर्ण को जानते हैं, वृहस्पति भी जिसे जानते हैं, उस सुवर्ण के मृत्यु नाशक गुण से वृत्र के हनन कर्ता इन्द्र भी परिचित हैं, वह सुवर्ण तुझे आयु और वर्च से सम्पन्न करने वाला हो" (अथर्व १६।२६।१-४)।

पूजा के समय इस शालग्राम की मूर्ति को तांवे के पात्र में रखा जाता है और गंगा जल से मंत्रों के साथ उच्चारण से स्नान कराया जात है, और इसे सस्कारित किया जाता है। इससे चरणामृत वनाया जाता है जिसमें अनेकों प्रकार की अन्य औषधियाँ जैसे चंदन, केसर, कस्तूरी आदि का मिश्रण रहता है। तुलसी तो आवश्यक रूप से मिलती ही है। तांवे का पात्र इस मिश्रण को दिव्य बनाने में सहायक सिद्ध होता है क्योंकि उसमें रखा हुआ जल रोग नाशक हुआ करता है। चुनी हुई औषधियों, ताम्रपात्र, तुलसी और गंगाजल की रोग कीटाणु नाशिनी शक्ति, अपना अनुकूल प्रभाव दिखाती हैं। शालग्राम के सुवर्ण कणों का प्रभाव तो सोने पर सुहागे का काम करता है। प्रातःकालीन यह औषधि मिश्रण दिन भर काम करने की शक्ति बनाये रखता है। इस रोग को अकाल मृत्यु हरने करने वाला कहा गया है, यह उचित ही है।

शालग्राम शिला के इस भौतिक, आध्यात्मिक व प्रतीकात्मक महत्व को दृष्टि में रख कर ही ब्रह्मवैवर्त पुराण के प्रकृति खण्ड के अध्याय २१ में अतिशयोक्तिपूर्ण शैली में महात्म्य का वर्णन किया गया है—

"जो अपने ऊपर शालग्राम-शिला का जल छिड़कता है, वह सम्पूर्ण तीर्थों में स्नान कर चुका तथा समस्त यज्ञों का फल पा गया। अखिल यज्ञों, तीर्थों, व्रतों और तपस्याओं के फल का वह अधिकारी

समझा जाता है। साध्वि ! चारों वेदों के पढ़ने तथा तपस्या करने से जो पुण्य होता है, वही पुण्य शालग्राम-शिला की उपासना से प्राप्त हो जाता है। जो निरन्तर शालग्राम-शिला के जल से अभिषेक करता है, वह सम्पूर्ण दान के पुण्य तथा पृथ्वी की प्रदक्षिणा के उत्तम फल का मानो अधिकारी हो जाता है। शालग्राम-शिला के जल का निरन्तर पान करने वाला पुरुष देवाभिलषित प्रसाद पाता है, इसमें संशय नहीं। उसे जन्म, मृत्यु और जरा से छुटकारा मिल जाता है। सम्पूर्ण तीर्थ उस पुण्यात्मा पुरुष का स्पर्श करना चाहते हैं। जीवन्मुक्त एवं महान् पवित्र वह व्यक्ति भगवान् श्रीहरि के पद का अधिकारी हो जाता है। भगवान् के धाम में वह उनके साथ असंख्य प्राकृत प्रलय तक रहने की सुविधा प्राप्त करता है। वहां जाते ही भगवान् उसे अपना दास बना लेते हैं। उस पुरुष को देख कर, ब्रह्महत्या के समान जितने बड़े-बड़े पाप हैं, वे इस प्रकार भागने लगते हैं, जैसे गरुड़ को देख कर सर्प। उस पुरुष के चरणों की रज से पृथ्वी देवी तुरन्त पवित्र हो जाती है। उसके जन्म लेते ही लाखों पितरों का उद्धार हो जाता है।

मृत्युकाल में जो शालग्राम के जल का पान करता है, वह सब पापों से मुक्त होकर विष्णुलोक को चला जाता है, उसे निर्वाण-मुक्ति सुलभ हो जाती है। वह कर्मभोग से छूटकर भगवान श्री हरि के चरणों में लीन हो जाता है—इसमें कोई संशय नहीं।

यह आवश्यक नहीं कि जिन लाभों का वर्णन यहाँ किया गया है, वह शालग्राम-शिला के सम्पर्क से होता ही हो। इसका उद्देश्य तो जन-साधारण को आकर्षित करना है ताकि वे इनसे लाभान्वित होते रहें। माहात्म्य-वर्णन में पुराणकारों का यही उद्देश्य रहता है।

विष्णु का श्याम रंग ३६

परमात्मा निराकार है। उसका कोई आकार नहीं, कोई रङ्ग नहीं परन्तु फिर भी हम मूर्तियों के रूप में उसके दर्शन करते हैं। इस आकार और रङ्ग का रहस्य समझ में नहीं आता। इस समस्या का समाधान आवश्यक है।

परमात्मा साकार नहीं है, क्योंकि साकार में स्थूलता का होना आवश्यक है और स्थूल वस्तु को देखा जा सकता है। लेकिन परमात्मा दृष्टि से परे है और आज तक उसको स्थूल नेत्रों से किसी ने नहीं देखा। यदि ऐसा सम्भव होता तो संसार में एक ही मत होता और लोग इस तरह के मत-मतान्तरों के झमेलों में न पड़ते। इस सम्बन्ध में मौलाना रोम के एक पद का अर्थ इस प्रकार है—"हे प्रभु ! तू इन विभिन्न मत-मतांतरों वालों को क्षमा कर दे, जो कि आपस में तेरे नाम पर लड़ रहे हैं। क्यों कि इन सबने तेरा रङ्ग-रूप नहीं देखा और अपने अनुमान के अनुसार इन्होंने तेरे सम्बन्ध में कथा-कहानियां बना ली हैं। चूँकि अनुमान और अनुभव के आधार पर इन्होंने इन कथाओं का निर्माण किया है, इसलिए इनमें विभिन्नता का होना आवश्यक है और इसी विभिन्नता के कारण वह लड़ते हैं। यह उनका भी दोष नहीं क्योंकि तू सूक्ष्म होने के कारण उन्हें दिखाई नहीं देता और वह भी अपने-अपने अनुभवों के आधार पर तेरा वर्णन करते हैं।"

"हे प्रभु ! विद्वानों ने तेरी विभूतियों और गुणों को जानकर

तेरा अनुभव किया और तेरे इन गुणों का वर्णन करने के लिए बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिखीं और इन गुणों द्वारा ही उन्होंने तुझे सब जगत का कर्ता-धर्ता निश्चित किया। कवियों ने अपनी कविताओं में तेरे गुण का वर्णन किया। तेरे इन गुणों के वर्णन का दूसरा नाम ही स्तुति है। तू सभी गुणों का आदि कारण है। सभी गुण तुझमें एकत्रित हैं। संसार के सभी गुण तुझमें ही एक स्थान पर मिलना सम्भव हैं। यह गुण और किसी व्यक्ति विशेष में नहीं होते। इसलिए तुम्हें सबसे बड़ा, शुभ-अशुभ का स्वामी, कर्ता माना गया और तुम्हें ईश्वर की संज्ञा दी गई। विद्वानों ने यह भी अनुभव किया है कि चर या अचर, जड़ या चेतन में से कोई भी तेरी इच्छा के बिना कुछ भी कार्य करने में समर्थ नहीं है और तू सबका पालन-पोषण व रक्षण करता है।"

"चित्रकारों ने तेरे विभिन्न गुणों की कल्पना की, उस कल्पना के आधार पर तेरे चित्र बनाये, उन चित्रों में तेरे गुण का निरूपण भी किया। जैसे एक कथक अपने गीत के अभिप्राय को नाच के इशारों से या अभिनय से दिखाता है, ऐसे ही चित्रकारों ने तेरे गुणों का अनुभव करके निराकार होते हुए भी तेरे आकार बनाये और उन आकारों में तेरे रूप की छवि दिखाई। उन कलाकारों के कला-कौशल का यह परिणाम हुआ कि अनपढ़ व अल्प-बुद्धि व्यक्ति भी तेरे उन आकारों और चित्रों में तेरे गुणों का अनुभव करते हैं। इन चित्रों के आधार पर मूर्तिकारों ने मूर्तियों का निर्माण किया। किसी ने तेरे एक गुण का अनुभव किया और किसी ने दूसरे का। प्रत्येक विद्वान, कवि, चित्रकार, मूर्तिकार ने तेरे गुणों की विभिन्न प्रकार की कल्पनायें कीं, उसी के अनुसार उन्होंने चित्र भी बनाये, इसलिए उनमें विभिन्नता का आना आवश्यक है। मूर्तियाँ व चित्र सभी तेरे ही हैं, परन्तु फिर भी उनमें एकता नहीं, अनेकता है क्योंकि विभिन्न कलाकारों ने अपने-अपने ढङ्ग से उसका निरूपण किया है।"

शक्ति का अनुभव करने वालों ने ईश्वर को दुर्गा का रूप दिया,

जो सभी प्रकार के हथियारों से सुसज्जित है, जिसने शेर जैसे शक्तिशाली पशु को भी अपने नियन्त्रण में करके अपना वाहन बनाया है। शक्ति को स्त्री का रूप दिया है। इसका अभिप्राय यह है कि स्त्री शारीरिक दृष्टि से दुर्बल मानी जाती है। इस दुर्बल शरीर को भी यदि ईश्वर की शक्ति प्राप्त हो जाए तो उसकी प्रदान की हुई शक्ति द्वारा वह हजारों-लाखों शक्तिशाली शत्रुओं का भी नाश करने में समर्थ हो सकती है, जैसे कि दुर्गा की कथाओं से विदित है। जब हम इस देवी की पूजा करते हैं तो हम भगवान के इस शक्ति रूपी गुण से शक्ति की आकांक्षा करते हैं।

पालन-पोषण करने वाली शक्ति को विष्णु, सृष्टि की रचना करने वाली शक्ति को ब्रह्मा, त्याग की शक्ति को शिव, मर्यादा की शक्ति को राम और ज्ञान की शक्ति को कृष्ण का रूप दिया। जिन विद्वानों ने भगवान के गुणों का अनुभव किया, वे अपनी कृतज्ञता की श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए उन्हें साकार रूप में लाए क्योंकि निराकार में मन का एकाग्र होना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

इस प्रकार से वह निराकार परमात्मा ज्ञानियों, विद्वानों, कवियों और चित्रकारों के द्वारा साकार रूप में आया। वह मूर्ति या चित्र भगवान का नहीं, उसके गुणों का साकार रूप है। परमात्मा कहते ही उस व्यक्ति को हैं, जिसमें सभी गुणों का मिश्रण हो।

यह ध्यान देने की बात है कि उपरोक्त वर्णित मूर्तियों का श्याम वर्ण रखा गया है। उनके इस काले रङ्ग का भी कुछ आधार है। काले रङ्ग की यह विशेषता है कि उस पर कोई भी दूसरा रंग नहीं चढ़ सकता और जब काला रंग किसी वस्तु पर चढ़ जाता है तो वह उतरता भी नहीं। इसमें सभी तरह के रंग समा जाते हैं और यह सब पर अपना प्रभुत्व रखता है। भगवान के गुण जिन्हें प्राकृतिक नियम भी कहा जाता है, काले रंग की तरह ही हैं जो बदल नहीं सकते और उसमें सब रंग

समा जाते हैं परन्तु वह काले का काला ही रहता है। अनेकों परिवर्तन होने पर भी प्राकृतिक नियमों या भगवान के गुणों में अन्तर नहीं आ सकता, वह सदैव एक जैसे ही रहते हैं और इस तथ्य पर सभी मतों वाले एक राय हैं कि प्राकृतिक नियम अपरिवर्तनशील हैं। विभिन्न गुणों की विभिन्न आकार की मूर्तियों में प्राकृतिक नियमों की अटलता का द्योतक यह काला रंग रखा गया है ताकि उपासक का मूर्ति के दर्शन करते ही इस तथ्य का स्मरण हो आए वार-वार दर्शन करते रहने से उसके अन्तः-करण पर इस भाव की स्थिर छाप पड़ जाये।

ऋग्वेद १।१६४।४७ में सूर्य को कृष्ण कहा गया है। ऋग्वेद १।३५।२ में पृथ्वी को भी कृष्ण कहा गया है। वेदों में आकर्षण शक्ति से मुक्त वस्तु को भी कृष्ण कहा गया है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार अग्नि का पिंड कहा जाने वाला सूर्य अपने स्थान पर स्थित है और वह अपने मण्डल के ग्रहों का सञ्चालन करता रहता है। सूर्य के नौ ग्रह—बुध, शुक्र, पृथ्वी, मङ्गल, वृहस्पति, शनि, अरुण, वरुण और यम हैं। यह सारे ग्रह सूर्य की परिक्रमा कर रहे हैं। पृथ्वी से सूर्य १४ करोड़ कुछ किलोमीटर, वृहस्पति सूर्य से ७७ करोड़ ७१ लाख किलोमीटर, बुध सूर्य से ५ करोड़ ७८ लाख किलोमीटर, मङ्गल सूर्य से २२ करोड़ ६८ लाख किलोमीटर, शनि सूर्य से १३८ करोड़ ५३ लाख किलोमीटर, अरुण सूर्य से ४४९ करोड़ ७ लाख किलोमीटर, यम सूर्य से ५९५ करोड़ ३४ लाख किलोमीटर की दूरी पर हैं। सूर्य इतनी दूरी से इन अरबों-खरबों मन भारी ग्रहों को अपनी आकर्षण-शक्ति से कैसे घुमा रहे हैं? इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। संसार में सबसे अधिक आकर्षक शक्ति सूर्य में होती है। इसलिए उसे कृष्ण कहा गया है। वेदों में विष्णु को ही सूर्य माना गया है, इसलिए विष्णु को कृष्ण कहा जाने लगा।

जिन ग्रहों को सूर्य सञ्चालित करते हैं, उनको भी कृष्ण कहा गया है, क्योंकि उनमें भी आकर्षण शक्ति होती है। यदि उनमें यह शक्ति

न होती तो वह नियमवद्ध रूप से सूर्य के चारों ओर न घूमते रहते। सूर्य उन्हें अपनी ओर खींच लेता और भस्म कर देता। इसीलिए पृथ्वी को भी कृष्ण कहा गया है।

विष्णु के श्याम वर्ण होने का वर्णन ऊपर किया ही जा चुका है। विष्णु के प्रमुख अवतारों—राम और कृष्ण का भी रंग श्याम कहा गया है। इसमें देश की भावनात्मक एकता का रहस्य भी दृष्टिगोचर होता है। सम्भव है, जिस समय देव-मूर्तियों के रङ्गों का निर्धारण किया गया हो उस समय देशके विभिन्न भागोंमें रङ्गभेद-नीतिने सिर उठाया हो। धार्मिक एकता में धर्मशास्त्रों—वेद, उपनिषद्, दर्शन, स्मृतियाँ, ब्राह्मण, रामायण, गीता, महाभारत आदि ने सन्तोषजनक कार्य किया क्योंकि देश के एक कोने से दूसरे कोने तक इनका समान रूप से मूल्यांकन होता है। भाषा और रीति-रिवाज में भले ही अन्तर रहा हो, परन्तु धर्मशास्त्रों पर आस्था के सम्बन्ध में सारा देश एकमत रहा है। जो कार्य इन धर्म-शास्त्रों ने किया है उनमें देव-मूर्तियों के निश्चित वर्ण ने भी काफी सहयोग दिया। कोई समय था जब स्वार्थी तत्वों ने उत्तर और दक्षिण में रङ्गभेद-नीति के आधार पर फूट डालने का प्रयत्न किया। दूरदर्शी कवियों ने इसका सुन्दर समाधान किया। विष्णु और उनके अवतारों—राम और कृष्ण को उन्होंने श्याम वर्ण का चित्रित किया। उत्तर में जन्मे राम को दक्षिण वाले भी अपने वर्ण का समझते हैं। उत्तर भारत में तो वे लोक-प्रिय थे ही, दक्षिण में भी लोकप्रिय बनते गये। कृष्ण ने उत्तर में जन्म लेकर, बचपन में असाधारण कार्य-सम्पादन कर सम्पूर्ण क्षेत्र पर अपनी धाक जमा ली। द्वारका में बसे और राज्य-स्थापना की। देश के एक कोने से दूसरे कोने तक व्यापक रूप से उनकी पूजा होती है। विष्णु के यह दोनों अवतार देश की एकता के आधार बने। इस तरह से विष्णु के श्याम वर्ण में भी मनोवैज्ञानिक भाव छिपा है। • • •

विष्णु का प्रचलित रूप श्याम वर्ण का है परन्तु उनका श्वेत वर्ण भी माना गया है। विष्णु-सम्बन्धी एक प्रसिद्ध श्लोक है जो पद्म-पुराण का एक भाग है—

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम्।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत् सर्वविघ्नो पशान्तये॥

इसका अभिप्राय यह है कि समस्त विघ्नों की शान्ति के लिए चार भुजाओं वाले और प्रसन्न वदन विष्णु का ध्यान करना चाहिए जो श्वेत वस्त्रधारी हैं और चन्द्रमा की तरह श्वेत वर्ण के हैं।

वेद में सूर्य को विष्णु कहा गया है। यजु० ३२।३८।६ सूर्य के दो रूपों—श्वेत और कृष्ण का वर्णन है—

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्य्योरूपं कृणुते द्योरुपस्थे।
अनन्त मन्त्रद्रुशस्य पात्रः कृष्णमन्त्रद्धरितः सम्भरन्ति॥

इस मन्त्र का महीधर भाष्य प्रस्तुत करते हुए एक विद्वान ने लिखा है "सूर्य द्योलोक के गोद में मित्र और वरुण के उस रूप का करती है जिस रूप से मनुष्यों को देखता है अर्थात् मित्र रूप से सुकृती जनों के ऊपर अनुग्रह करता है और वरुण रूप से पापीजन को दण्ड देता है। इस सूर्य का एक रूप देश और काल से अपरिच्छेद्य, देदीप्यमान रोशनी देने वाला श्वेत है अर्थात् विज्ञान घनानन्द ब्रह्म ही है और एक कृष्ण अर्थात् द्वैत लक्षण रूप को दिशाएँ इन्द्रियाँ धारण करती हैं। अर्थात्

सूर्य के दो रूप हैं—एक कृष्ण अर्थात् इन्द्रियग्राह्य द्वैत रूप और दूसरा श्वेत अर्थात् शुद्ध चैतन्य अद्वैत लक्षण। महीधर भी सूर्य के दो रूपों को स्वीकार करते हैं—एक शुक्ल और दूसरा कृष्ण। शुक्ल को वह शुद्ध चैतन्य अद्वैत और कृष्ण को इन्द्रिय-ग्राह्य कहते हैं।

यह श्वेत वर्ण वाले विष्णु का ही प्रतिपादक हैं। सर्वव्यापी विष्णु का यही मूल रूप है। वह सृष्टि के कण-कण में समाए हुए हैं। वासुदेव शब्द की आध्यात्मिक व्युत्पत्ति करते हुए महाभारत [शान्ति० ३४१।४०] में कहा गया है—'सर्वभूताधिवाश्च वासुदेवस्ततो ह्यहम्।' मैं प्राणीमात्र में वास करता हूँ, इसी से मुझको वासुदेव कहते हैं। जब साधक को यह व्यावहारिक अनुभव हो जाता है कि 'जो कुछ है सब वासुदेव ही है'। भगवान ने गीता [७।१९] में आश्वासन दिया है कि ऐसा ज्ञानवान मुझे पा लेता है। ऐसा साधक अद्वैत कृष्ण का ही अनुभव करने लगता है। उसे सर्वत्र अद्वैत ही भासित होता है, द्वैत नहीं। इस ज्ञान को गीता में सात्विक ज्ञान की संज्ञा दी है। 'जिस ज्ञान से यह विदित होता है कि विभिन्न अर्थात् भिन्न-भिन्न सब प्राणियों में एक ही अविभक्त और अव्यय भाव अथवा तत्व है। उसे सात्विक ज्ञान ही समझना चाहिए।' [१८।२०]

इस भावना के लाभ का वर्णन करते हुए गीता [५।१९] में कहा है 'जिसके मन में सर्वभूतान्तर्गत ब्रह्मात्म्यैक्य रूपी साम्य प्रतिबिम्बित हो हो गया है। वह यहीं-का-यहीं जन्म-मरण की गति लेता है।' गीता १३।३० में भी कहा है—'जिसकी ज्ञान-दृष्टि में समस्त प्राणियों की भिन्नता का नाश हो चुका है और जिसे वे सब एकस्थ अर्थात् परमेश्वरस्वरूप दीखने लगते हैं, वह ब्रह्म में मिल जाता है।' तैत्तरीय [२।७] में कहा है 'जिसके मन में अपनी आत्मा और मन के बीच कुछ भी परदा या द्वैत-भाव शेष नहीं रह जाता, वह ब्रह्म रूप ही है।'

उपनिषद् के ऋषि ने अपनी अनुभूति का वर्णन इस प्रकार किया है—'ब्रह्म अमृत-रूप है, वही सामने और वही पीछे है। दायीं और बायीं ओर भी वही है। नीचे और ऊपर की ओर भी वही विस्तृत है। यह सम्पूर्ण विश्व ही महान् ब्रह्म है।' [मुण्डकोपनिषद् २।२।११]

छान्दोग्योपनिषद् [६।२५।२] में इन्हीं भावनाओं को दूसरे शब्दों में व्यक्त किया गया है—'आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही पश्चिम की ओर है, आत्मा ही पूर्व की ओर है, आत्मा ही उत्तर में है, आत्मा ही दक्षिण में है, आत्मा ही सब कुछ है।'

दूसरे ऋषियों का यह हजारों वर्ष पूर्व का अकाट्य निर्णय था कि सृष्टि में दृष्टिगोचर होने वाली अनेकता सत्य नहीं है। उसके मूल में सर्वत्र एक ही अ-मृत, अव्यक्त और नित्य तत्व विद्यमान है।'[कठोपनिषद् ११।२०, बृहदारण्यक ४।११]। इसी भाव से विष्णु को पहचाना जाता है। जो इस रूप को नहीं जानता, वह भटकता रहता है।

उपनिषदों ने आत्मा विषयक गम्भीर चिन्तन किया है और वह एक निश्चित परिणाम पर पहुँचे हैं। नरसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद् में देवताओं ने पूछा—'वह नित्य शुद्ध-बुद्ध एवं आत्मभूत तत्व क्या है?' प्रजापति ने कहा—'ब्रह्म आत्मा है। उस ब्रह्म के आत्मा होने में किसी को संशय नहीं करना चाहिए।' एक अन्य स्थान पर कहा है—'यह आत्मा एकमात्र—अद्वितीय ही है। वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, मुक्त, निरञ्जन, अद्वैत और आनन्दमय है।' [नवम खण्ड]। सातवें खण्ड में लिखा है—'वह आत्मा अजर, अमर, अ-मृत स्वरूप, अभय, शोकरहित, मोहशून्य, भूख व प्यास रहित तथा अद्वैत है।' पाँचवें खण्ड में आत्मा की सर्वव्यापकता का वर्णन है—'वह सब जो कुछ दृष्टिगोचर होता है, यह आत्मा ही है, जो यह आत्मा है वही सब कुछ है।' आठवें खण्ड में में ब्रह्ममय आत्मा में सम्पूर्ण जगत के होने को स्वीकार किया गया है।

वृहदारण्यकोपनिषद् में महर्षि याज्ञवल्क्य के उपदेश अद्वैत ज्ञान के स्पष्ट हैं। चतुर्थ ब्राह्मण में मैत्रेयी को उपदेश देते हुए कहते हैं–'ब्राह्मण जाति उसे परास्त कर देती है जो ब्राह्मण जाति की आत्मा से अलग है। क्षत्रिय जाति उसे परास्त कर देती है जो क्षत्रिय जाति को आत्मा से अलग मानता है। लोक, देवगण, भूतगण उसे परास्त कर देते हैं जो लोकों, देवताओं और भूतगणों को आत्मा से अलग देखते हैं। यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, देवता, भूतगण यह सब जो कुछ भी है सब आत्मा ही है।' इसमें भिन्नता का अनुभव करने वाले की उपेक्षा की गई है। आगे याज्ञवल्क्य ने कहा है—'जब अद्वैत की भावना विद्यमान रहती है तभी सूँघने, देखने, सुनने और दूसरों को अभिवादन करने प्रक्रिया संचालित होती है, परन्तु जब साधक के लिए आत्मा ही सब कुछ हो जाती है तब वह सूँघने, देखने, सुनने, अभिवादन करने, मनन करने और जानने का का व्यवहार किसके साथ करे ? क्योंकि वह तो उन सबको अभिन्न रूप में देखता ही है। सब व्यवहार अपने ही लगते हैं।

महोपनिषद में ऋषि ऋभु ने अपने पुत्र निदाघ को उपदेश देते हुए कहा—'जहाँ मैं नहीं हूँ, ऐसा कोई स्थान नहीं है। यह सब असम्भव है। यह सब निश्चयपूर्वक ब्रह्म ही है। यह सब आत्मा ही व्याप्त हो रहा है। तुम इस भ्रान्ति को त्याग दो कि मैं और हूँ वह कोई और है।'

नारदपरिव्राजकपोनिषद् में नारद के पूछने पर ब्रह्माजी कहते हैं–'अपना स्वरूप ही ब्रह्म है, ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है। ब्रह्म और अपने में जो अभिन्नता जानते है, वे पशु-बुद्धि हैं।'

भागवत [११।२।४५ और ३।२४।४६] में परम भागवत उसे माना गया है जो भगवान और अपने में अभिन्नता का अनुभव नहीं करता है, जो भगवान और अपने में एकता की अनुभूति करता है और समझता है कि सब प्राणी भगवान में और मुझ में भी हैं।

समर्थ गुरु रामदास ने दासबोध [२०।२।३] में स्वानुभवरूप कहा है—'जिधर देखता हूँ उधर ही वह अपार दिखाई देता है। वह एक ही प्रकार का है और स्वतन्त्र है, उसमें द्वैत नहीं है।' एक कवि ने भी ऐसा ही कहा है—

जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है।

सन्त कवि तुकाराम के अभङ्गों में भी इस भाव की ही अभिव्यक्ति हुई है—

'गूँगे का गुड़ है भगवान, बाहर भीतर एक समान।
किसका ध्यान करूँ सविवेक? जल-तरङ्ग हैं हम एक॥'

ईसा ने भी कहा है कि—मैं और मेरे पिता एक हैं, दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

शङ्कराचार्य का भी मत है कि बाह्य दृष्टि से पदार्थों की दिखाई देने वाली अनेकता सत्य नहीं है। उनमें तो शुद्ध और नित्य ब्रह्म व्याप्त है। उसी की माया से इन्द्रियों की अभिन्नता का आभास होता है। आत्मा ही मूलतः ब्रह्म-रूप है। इस अनुभूति के अभाव में योग की प्राप्ति सम्भव नहीं है। इसी को उन्होंने अद्वैतवाद की संज्ञा दी।

तिलक ने अद्वैत ज्ञान की महत्ता को स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है—'जिसने द्वैत भाव को छोड़कर आत्मस्वरूप को जान लिया है, उसे चाहे प्रारम्भ कर्म-क्षयके लिए देहपात होने की राह देखनी पड़े तो भी उसे मोक्ष-प्राप्ति के लिए कहीं भी नहीं जाना पड़ता, क्योंकि ब्रह्म-निर्वाण रूप मोक्ष तो उसके सामने हाथ जोड़े खड़ा रहता है।'

इस अद्वैत भाव की अनुभूति करने के लिए भगवान विष्णु अपने श्वेत वर्ण द्वारा आह्वान करते हैं कि तुम अपने शुद्ध स्वरूप को पहचानो। यदि अभी तक भ्रम में रहे तो अब चेत जाओ। उनका कृष्ण, द्वैत रूप भी आवश्यक है क्योंकि विष्णु तो सगुण-निर्गुण दोनों हैं।

भक्ति का आरम्भ द्वैत भाव से होता है। यदि वह ब्रह्म अलग नहीं है तो वह किसकी उपासना करे। अद्वैत तो अध्यात्म की ऊँची सीढ़ी है। वहाँ तक पहुँचने के लिए अनेकों सीढ़ियों पर से होकर जाना पड़ेगा। साधारण बुद्धि के लोग अद्वैत तत्व के समर्थन में असमर्थ रहते है। इस लिए उनके लिए द्वैत भावना आवश्यक है। द्वैत से ही वह अद्वैत में आते हैं, सगुण उपासना से वह निर्गुण उपासना की ओर बढ़ते हैं। इसलिए विष्णु के दो रूप—कृष्ण और श्वेत माने गये हैं।

श्वेत वर्ण अद्वैत भाव के लिए प्रेरित करता है। विष्णु सर्वव्यापी देव हैं। उन्हें अणु-अणु में व्यापक जानना ही सच्चा ज्ञान है। प्राणीमात्र में उन्हें समाया हुआ मानना और तत्वतः व्यवहार मात्र ही उनकी सच्ची उपासनाएँ और सारे जगत से अभिन्नताका अनुभव करना ही विष्णु के श्वेत वर्ण की प्रेरणा है। त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद् के अध्याय ५ में कहा है—'नारायण से भिन्न कुछ भी नहीं है। समस्त संसार नारायण-रूप प्रतीत होता है। अष्टम अध्याय में तो अद्वैत सिद्धि के लिए किस बात की भावना करनी चाहिए, इसका भी निर्देश किया दिया गया है और कहा है—'ब्रह्म मैं हूँ, मैं ही हूँ, ब्रह्म ही मैं हूँ, मैं ही मैं हूँ, मैं महन्ता का हवन करता हूँ—स्वाहा की भावना करे। मैं सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ, मैं अजन्मा हूँ, मैं परिपूर्ण हूँ, इस प्रकार की भावना से उपासक त्रिगुणातीत,अद्वैत, अपार, निरतिशय सच्चिदानन्द—समुद्र हो जाता है।'

श्री रामोत्तरतापनीयोपनिषद् में राम के अद्वैत रूप का वर्णन करने के पश्चात् लिखा है—'साधक को ऐसी भावना करनी चाहिए कि ऐसे जो अनिवर्चनीय परमात्मा श्री राम हैं, वह मैं ही—इस प्रकार अपने को सामने लाकर मन के द्वारा परब्रह्म परमात्मा श्री राम के साथ एकता कर भगवान के साथ अपनी अभिन्नता का चिन्तन करें।'

कृष्ण-भक्तों को भी गोपालोत्तरतापनीयोपनिषद्में भी यही प्रेरणा दी गई है—'त्रिगुणमयी प्रकृति से परे जो भगवान गोपाल हैं, वह मैं ही हूँ। इस प्रकार निश्चय करके अपनी आत्मा में गोपाल की भावना करे। वे तत् सत् परब्रह्म श्री कृष्ण ही मेरे आत्मा है। नित्यानन्द रूप जो गोपाल हैं, वह मैं हूँ। इस प्रकार अपने को लेकर मन से भगवान के साथ एकता करे। अपने को इस भाव से देखे, अपने विषय में वह निश्चय करे कि मैं गोपाल हूँ—वही गोपाल, जो अव्यक्त, अनन्त एवं नित्य हैं। जो ऐसा करता है वह मोक्ष-सुख का अनुभव करता है, ब्रह्म-भाव को प्राप्त होता है तथा ब्रह्मचेता होता है।'

भगवान विष्णु भी अपने श्वेत वर्ण के प्रतीक द्वारा यही चाहते हैं कि उनका साधक उनसे अभिन्नता का अनुभव करे।

• • •

विष्णु का वाहन गरुण ३८

विष्णु का वाहन गरुण है। वह गरुण पर चढ़कर लोकों का भ्रमण करते हैं, भक्तों का आर्त्तनाद सुनते हैं और उनके सहयोग के लिए दौड़ते हैं। विष्णु के स्थूल रूप के लिए तो यह असम्भव-सा दृष्टिगोचर होता है। अलङ्कारिक रूप में ही ऐसा कहा जाता है।

भागवत १२।११।१६ में तीनों वेदों को गरुण कहा है। उसे ही यज्ञ-रूप विष्णु वाहन करते हैं। देवत्रयी रूप गरुण ही यज्ञ स्वरूप भगवान के वाहन हैं। ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद से ही यज्ञ की समाप्ति मानी जाती है। अतः वेदात्मा ही गरुण हैं और भगवान विष्णु उन पर विराजते हैं।

वेद विश्व-ज्ञान का मूल हैं, ज्ञान-विज्ञान का अनादि भण्डार हैं। सृष्टि के आदिकाल से मानव-प्राणी को लौकिक और पारलौकिक सुख-शांति के लिए जो ईश्वरीय मार्ग-दर्शन प्राप्त हुआ, वह बीजरूप ही वेदों में सन्निहित है। वेद-व्याख्या के लिए ही उपनिषद्, स्मृतियाँ, पुराण व अन्य धर्म-ग्रन्थों की रचना हुई है। वेद में मानव मात्र की पारिवारिक, सामाजिक व राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान किया गया है। वेद व्यक्तिगत कठिनाइयों की कुञ्जी हैं। इनमें शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक सभी प्रकार की उन्नति की प्रेरणायें, शिक्षायें और उपाय मिलते हैं। संसार भर के धर्मशास्त्रों की विचार-सामग्रियों का मूल वेद ही हैं। वेद सारे संसार के लिए ज्योति का पुञ्ज रहा है। इसी केन्द्र से सभी

और प्रकाश की किरणें प्रस्फुरित होती रही हैं। वेद ने मनुष्यता की सुन्दरतम झांकी प्रस्तुत की है। वह मानवता के धर्म ग्रंथ हैं। उनमें मानव बनने की सच्ची विद्या है, उनमें आचार, विचार और व्यवहार शास्त्र के सिद्धान्त सत्य पर आधारित हैं। वेद में ज्ञान, कर्म, उपासना और आत्मज्ञान इन विषयों का विस्तार है। वेद मांगलिक हैं, शक्ति और ज्ञान के पुञ्ज हैं। वेद की प्रत्येक ऋचा में एक विलक्षण रत्न भण्डार भरा हुआ है उनमें शिक्षा और विज्ञान दोनों ही परिपूर्ण मात्रा में विद्यमान हैं। वेद के प्रत्येक मन्त्र में एक अनुपम सागर लहलहा रहा है। उसके कुछ कण, कुछ बिन्दु जिन्हें प्राप्त हो जाते हैं। उनका जीवन सफल एवं धन्य हो जाता है।

वेद का अर्थ भी ज्ञान है। भगवान सदैव ज्ञान को अपने नियन्त्रण में रखते हैं। उसे अपने से अलग नहीं होने देते। वह स्वयं ज्ञान स्वरूप हैं। वह ही ज्ञान और प्रकाश का मूल स्रोत है। वह प्राणी मात्र में समाए हुए हैं, अन्तःकरणों में बैठकर मानव की क्रीड़ा को देखते रहते हैं। जो अज्ञान का पर्दा डाल देते हैं। वह उन्हें नहीं देख सकते। उस पर्दे को हटाने वाले ही उस प्रकाश के दर्शन करते हैं। वेद ज्ञान रूपी गरुण पर चढ़कर ही भगवान प्राणी मात्र की सहायता करते हैं। जो दुःखी होकर प्रार्थना करते हैं। उन्हें ज्ञान का अमृत चखाते हैं। यज्ञ रूप परमात्मा का वाहन वेद-ज्ञान ही है।

स्थूल रूप से गरुण और सूर्य की शत्रुता है। गरुण सूर्य भक्षक है। सूर्य क्रोध और दुष्टता का प्रतीक है। वह विष से भरा हुआ है। बिना कारण इस विष का दुरुपयोग करके किसी की भी जीवन लीला समाप्त कर देता है। यह उसका स्वभाव है। गरुण ज्ञान के प्रतीक हैं। उन्हें यह दुष्टतापूर्ण व्यवहार पसंद नहीं। इस लिए इसे वह पनपने नहीं देना चाहते। भगवान ऐसी शक्ति को नियंत्रण में रखते हैं जो

दुष्टों, असुरों राक्षसों का संहार करने में दक्ष हों। सर्प तम का प्रतीक है। भगवान सत् से ओतप्रोत रहते हैं। भगवान की सत् शक्ति तम को खा जाती है। जो भगवान की पूजा, उपासना, पाठ और ध्यानादि करते हैं, उनमें भी सत् तत्व विकसित होता है जो तम को निगल जाता है। यही गरुण का सर्पों को खाना है।

'अमरकोश' में गरुण को गुरुत्मान भी कहा गया है। पृथ्वी के चारों ओर का वायुमण्डल ही गरुण है। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि इस आवरण की मोटाई ४८० किलोमीटर है। इसे ऐसे वैज्ञानिक ढंग से बनाया गया है कि यह सूर्य के ताप को ग्रहण करके व्यवस्थापूर्वक पृथ्वी को देता रहे। सूर्य का जितना ताप वायुमण्डल की ऊपरी तह पर पहुँच पाता है। उसका ४२ प्रतिशत तो वायुमण्डल के ऊपरी स्तर से टकरा कर शून्य में विलीन हो जाता है, १५ प्रतिशत वायु ले लेती है और ४३ प्रतिशत पृथ्वी पर पहुँच पाता है। गर्मी के दिनों में इससे ही आदमी जल-भुन जाते हैं। यदि वायुमण्डल सूर्य और पृथ्वी के बीच में न होता तो सूर्य के ताप से पृथ्वी के सारे प्राणी जल-भुन जाते। वायुमण्डल अपनी एक महत्वपूर्ण भूमिका का अभिनय करता है। वेद ने सूर्य को ही विष्णु कहा है। गरुण ही यह वायुमण्डल है। सूर्य की किरणें वायुमण्डल के माध्यम से ही पृथ्वी पर आ पाती हैं, भगवान गरुण पर चढ़कर पृथ्वी का भ्रमण करते हैं, उसका यही अभिप्राय है।

'अमरकोश'में गरुढ़को सुपर्ण भी कहा गया। 'निघण्टु' में सूर्यकी किरण के १५ नाम—रवेदि, किरण, गौ, रश्मि, अभिशु, दीधिति, गभस्ति, वन, उसु, वसु, मरीचि, मयूख, सप्तऋषि, साध्य और सुपर्ण गिनाए गए हैं। अतः सुपर्ण (गरुण) का अर्थ हुआ सूर्य-किरण। निरुक्त ४।२ में भास्काराचार्य ने सुपर्ण का अर्थ सूर्य-किरण ही दिया है। 'अमरकोश' में गरुण के गुरुत्मान, गरुणतार्क्ष्य, वैनतेय, रङ्गेश्वर, नागान्तक, विष्णुरथ,

सुपर्ण और पन्नगाशन नाम आते हैं। गरुण से यहाँ सूर्य-किरण—सुपर्ण ही अभिप्रेत है। विष्णु—सूर्य का रथ भी सूर्य की किरण है। उसी पर बैठकर सूर्य सारी सृष्टि का चक्कर लगाते हैं। सूर्य तो एक स्थान पर स्थित है। अपने रथ-रूपी गरुण—किरणों पर चढ़कर ही वह सर्वत्र अपना प्रकाश फैलाते हैं।

गरुण सर्पों को खाते हैं। सर्प का एक नाम 'अहि' भी आता है। 'निघण्टु' १।१३ में मेघ के २४ नामों में 'अहि' भी आता है। स्पष्ट है कि जब सूर्य की किरणें अपना प्रभाव दिखाती हैं तो मेघ हट जाते हैं। यही सर्पों का निगलना है जो प्राकृतिक-रूप में प्रायः देखने में आता है।

महाभारत के 'आदिपर्व' के २० से ३२ अध्याय तक गरुण को अमृत-हरण करने वाला बताया गया है। 'अमरकोश' में जल को अमृत कहा गया है। सूर्य-किरणें जल को नष्ट करती और सोखती ही हैं। यह उनका स्वाभाविक गुण हैं। अलङ्कारिक रूप में इसे अमृत का खाना बताया गया है।

महाभारत की उपरोक्त कथा में गरुण-माता का नाम विनता व सर्प-माता का नाम कद्रू बताकर गरुण-माता को सर्प-माता की दासी बताया गया है। एक बार कद्रू ने विनता को आज्ञा दी कि उन्हें नागलोक में पहुँचाया जाये तो विनता ने अपने पुत्र गरुण को आज्ञा दी। गरुण पीठ पर सर्पों को ढो-ढोकर नागलोक ले जाते रहे। वैदिक भाषा में सर्प अर्थात् 'अहि' को मेघ भी कहते हैं। जहाँ गरुण—सूर्य-किरण मेघों को बिगाड़ते हैं, वहीं बनाते भी हैं। सूर्य-किरणों से समुद्र-जल सूखकर आकाश में जाता है और मेघ बनते हैं। यही गरुण द्वारा सर्पों को उठाना है।

इस तरह विष्णु के वाहन गरुण का यह अलङ्कारिक रूप है।

कर्मयोग की प्रेरक लक्ष्मी ३६

लक्ष्मी को वैभव और सम्पत्ति की अधिष्ठात्री देवी के पवित्र नाम से सम्बोधित किया जाता है। "लक्ष्यति इति लक्ष्मी" अर्थात लक्ष्मी वह है जो स्वयं को लक्षित करती है। "लक्ष्मी सम्पत्ति शोभ्यो" लक्ष्मी शोभा और सम्पत्ति देने को कहते हैं। लक्ष्मी वह शक्ति है जो हमारी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। इसके अभाव में जीवन दूभर हो जाता है। सम्मान व प्रतिष्ठा जाती रहती है। भर्तृहरि के अनुसार पण्डित, गुणज्ञ, कुलीन, विद्वान, वक्ता व रूपवान वही है जिसके पास लक्ष्मी है। व्यास ने महाभारत के उद्योग पर्व में कहा है— "पुरुषाऽधनं वध:" लक्ष्मी का अभाव मनुष्य के लिए मृत्यु का चिन्ह है। नीति वाक्य भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। "सर्व कष्टा दरिद्रता" दरिद्रता ही सब कष्टों की जननी है।

परन्तु लक्ष्मी प्राप्त किसे होती है? यह उसके अलंकारिक चित्रण से ही स्पष्ट है। लक्ष्मी का वाहन उलूक को दिखाया गया है। उलूक शक्ति का प्रतीक माना जाता है। कहा भी है "उद्योगिनं पुरुर्षसिहमुपैत लक्ष्मी" अर्थात् परिश्रमी व्यक्ति को ही लक्ष्मी की प्राप्ति होती है, आलसी को नहीं। वास्तव में पैसा उद्योगशीलों के ही पास जाता है। परिश्रम को ही पैसे का मित्र कहा गया है। नीति-

कारों ने भी स्पष्ट कहा है "पाणिवन्तो वलवन्तो धनवन्तो न संशयः।" काम करने वाला व्यक्ति ही धनवान और बलवान होता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं। एक अमेरिकन लेखक से किसी ने पूछा था कि अमेरिका में लोग धनवान क्यों हैं? उसने उत्तर दिया कि वहाँ बैठने का कोई स्थान नहीं है अर्थात् काम ही वहाँ की उपासना और पूजा है। जो एकाग्रचित्त से अपने काम में लगा रहता है, लक्ष्मी देवी उसी पर प्रसन्न रहती हैं। विश्व विख्यात वैज्ञानिक एडिसन ने अपने ७० वर्ष के जीवनकाल में १५०० नये आविष्कारों को जन्म दिया था। वह किसी सभा सोसाइटी में जाना पसंद नहीं करते थे, उनका एक ही लक्ष्य था—नई वस्तुओं की खोज। लक्ष्मी की उन पर कृपा होती रही। बिना परिश्रम के आज तक किसी ने लक्ष्मी को प्रसन्न नहीं किया। वास्तव में आत्म संबल, योग्यता और अभ्यास ही लक्ष्मी मन्दिर तक पहुँचने के लिये द्वारपाल हैं।

आलसी और निकम्मे लोगों को लक्ष्मी वरदान के स्थान पर शाप देती हैं भले ही वह लक्ष्मी के चित्र पर प्रतिदिन फूल-हार क्यों न चढ़ाते हों। वह केवल पूजा से प्रसन्न होने वाली नही हैं। उसकी वास्तविक पूजा परिश्रम है। वह इसी की भेंट मांगती है। तुलसी ने कहा भी है कि कामधेनु व कल्पतरु के चित्र टाँगने से कठिनाई दूर नहीं होती। कौटिल्य ने इस तथ्य की पुष्टि की है और कहा है कि धन से ही धन की उत्पत्ति होती है। बेचारे तारों से क्या सहायता प्राप्त हो सकती है? लक्ष्मी का उद्भव भी तो समुद्र मंथन के द्वारा हुआ है। समुद्र मंथन का स्पष्ट अर्थ उद्योग व परिश्रम ही है। लक्ष्मी की प्राप्ति के लिये जो कार्य भगवान विष्णु को करना पड़ा, क्या उसके बिना हम लक्ष्मी की प्राप्ति कर सकेंगे। निश्चय रूप से हमें कर्मयोग की ओर बढ़ना होगा।

लक्ष्मी के पूजन व सम्मान का अर्थ है उसका सदुपयोग, दुरुप-

योग से वह अप्रसन्न हो जाती हैं और वहाँ से अन्तर्ध्यान हो जाती है। एक विद्वान लेखक ने कहा है कि धोखा देना लक्ष्मी को डंडे मार कर घर से खदेड़ना है। विश्वास पात्रता लक्ष्मी की माँ है। महात्मा विदुर का मत है कि धन श्रेष्ठ कर्मों से आता है। साहस, योग्यता, दृढ़ निश्चय, कीर्ति, वेग से वढ़ता है, चतुरता से फलता फूलता है और संयम से सुरक्षित रहता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण गणेश खण्ड अध्याय २३, श्लोक १६–२० में लक्ष्मी स्वयं कहती हैं कि मैं श्रेष्ठ कर्म करने वाले, न त मार्ग पर चलने वाले पुण्यात्मा गृहस्थ व राजाओं के घर रहती हूँ और इस तरह आचार करने वाले व्यक्तियों का मैं अपने प्रिय पुत्रों की तरह पालन-पोषण करता हूँ। इसके विपरीत जो व्यक्ति बुरे आचरण करता है, माता पिता, गुरु, भाई, अतिथि आदि का यथोचित सत्कार नहीं करता, उनके घर मैं नहीं जाती। मिथ्यावादी, झूठा, दुःशील, सत्वहीन, झूठा गवाह, अविश्वासी, कृतघ्न, चिन्ताशील, भय-ग्रस्त, पापी ऋणी कृपण आदि के घर मैं नहीं जाती। लोक में भी स्पष्ट है कि सदाचारी के घर ही धन स्थिर रह सकता है। दुराचारी उसे थोड़े ही दिनों में गँवा देता है।

विष्णु स्मृति में लक्ष्मी स्वयं कहती है कि मेरा निवास धर्म में रायण साधु प्रकृति वाले मनुष्य में, आचार के सेवी में, नित्य शास्त्र में, विनीत वेश में, अच्छे वेश में, सुशुद्ध में, दमनशील में, मल रहित में, मिष्ट भोजन में, अतिथियों की पूजा करने वाले में, अपनी स्त्री में सन्तुष्ट रहने वाले में, धर्म में रत रहने वालों में, उत्कट धार्मिक में, अत्यधिक भोजन न करने वाले में, सत्य में स्थित रहने वाले में, प्राणियों का भला चाहने वाले में, क्षमाशील में, क्रोध रहित में, अपने कार्य में कुशल व्यक्ति में, कल्याण युक्त चित्त में, सर्वदा नम्र व्यवहार रखने वाले में, पतिव्रता और प्रिय भाषण करने वाली नारियों में, परोपकार प्रिय, घरको साफ रखने वाली, जितेन्द्रिय, कलह रहित, अलोलुप, धर्म की चाह रखने वाली और दया से युक्त में रहता है।

महाभारत अनुशासन पर्व के ग्यारहवें उद्भव में भी लक्ष्मी अपने निवास के सम्बन्ध में कहती हैं, कि मेरा निवास क्रियाशील, बोलचाल में कुशल, क्रोध रहित, भगवान की उपासना में लीन, कार्य में चतुर, शक्तिशाली, संयमी और अपने उपकारी के प्रति कृतज्ञता की पवित्र भावना रखने वाले में रहता है। मेरा निवास, आलसी, ईश्वर पर विश्वास न रखने वाले, कृतघ्न, आचार भ्रष्ट, चोर, गुरुजनों का विद्वेषी और कटुभाषी में नहीं रहता है। ऐसे लोगों की मैं उपेक्षा करती हूँ जिनमें बुद्धि, वीरता, शक्ति और तेज का अभाव रहता है, जो स्वजाति में संघर्ष करने वाले और कपटी होते हैं। स्वधर्म पालन में तत्पर, धर्म में दक्ष, बड़ों की सेवा करने वालों, इन्द्रिय निग्रह करने वालों, आत्मज्ञानी, क्षमाशील, स्त्री-पुरुषों में मैं रहती हूँ।

जिस के व्यवहार में सत्यता, स्वभाव में सरलता है, देव ब्राह्मण का सम्मान करने वाली हों, ऐसी स्त्रियाँ मुझे प्रिय लगती हैं। कलह प्रिय, निर्लज्ज, पापाचारी, अधिक सोने वाली, पति के प्रतिकूल व्यवहार करने वाली, दूसरों के घरों में जा जाकर बैठने वाली, मैली स्त्रियों से मैं दूर रहती हूँ। सत्यप्रिय, पतिव्रता, गुणवान, और सौभाग्यवती स्त्रियों में मेरा निवास रहता है।

वेद अभ्यासी ब्राह्मणों में, धर्म प्रिय क्षत्रियों में, कृषि में मन लगाने वाले वैश्यों में और सेवारत शूद्रों में मैं रहती हूँ। यह सब मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

सिहि काल कर्णि जातक 'में' बोधिसत्व के पूजने पर लक्ष्मी कहती हैं। मेरी कृपा प्रज्ञावान पुरुषों पर रहती है। मैं अक्रोधी, त्यागी, मितभाषी, और वाणी के विश्वास योग्य व्यक्तियों के पास रहती हूँ। एसे व्यक्तियों को ही पाकर मैं समुद्र की लहरों की तरह फूल उठती हूँ जो ऊँचे पद पाकर भी नम्र होते हैं।"

स्कन्द पुराण में लक्ष्मी ने अपने प्रियपात्रों में अहंकार रहित मितभाषी और धर्म प्रिय व्यक्तियों को बताया है।

लक्ष्मी कैसे पुरुष को वरण करती है, और अपना सर्वस्व उसके चरणों में अर्पण कर देती है, इस सम्बन्ध में भागवत ८।८।२०-२२ में समुद्र मन्थन से निकलने पर अपने योग्य पुरुष के चुनाव करती हुई कहती हैं "कोई तपस्वी तो है परन्तु वह अक्रोधी नहीं है। कोई ज्ञान वाहन है परन्तु अनासक्त नहीं है। कोई अत्यन्त महत्वशाली होते हुए भी काम के वश में हैं। ऐश्वर्यशाली दूसरों पर आश्रित हैं। धर्माचरण करने वाले तो हैं, परन्तु वह प्राणियों के प्रति व्यवहारिक प्रेम से शून्य है। कोई त्यागी हैं परन्तु उनमें अन्य गुणों का अभाव है। विषयासक्ति से युक्त महात्मा निरंतर अद्वैत समाधि में लीन रहते हैं। उन्हें संतप्त जगत से कोई सम्बन्ध नहीं है, विष्णु में सभी मंगलमय गुणों का निवास है।

लक्ष्मी अपने उपासकों को कर्मयोगी और व्यवहार कुशलता ही एक ऐसा गुण है जो हर क्षेत्र में प्रगति करने का विशिष्ट साधन है। बड़े-बड़े उद्योगपतियों ने इसी देवी का सहारा लिया है। लिवरपूल के एक व्यापारी से पूछा गया कि उसने व्यापार में इतना धन कैसे जमा किया ? उसका स्पष्ट उत्तर था श्रेष्ठ व्यवहार व नम्रता से। अमेरिका में धन कुबेर राकफेलर का भी यही मत है। उन्होंने कहा है कि व्यवहार कुशलता को चाय और काफी की तरह खरीदना चाहिए। मैं इस व्यवहार कुशलता की योग्यता को संसार की मूल्यवान वस्तु समझता हूँ।

लक्ष्मी देवी कमल के आसन पर विराजमान हैं। उनके हाथ में भी कमल रहता है और दूसरे हाथ से वह रुपये बखेरती दिखाई जाती हैं। कमल पंकिल जल में उत्पन्न होता है। परन्तु अपने श्रेष्ठ गुणों के

कारण वह देवी देवताओं के आसन व शोभा के लिए चुना गया। वह आदर्श जीवन का प्रतीक माना जाता है क्योंकि वह दल-दल से निकल कर श्रेष्ठता की ओर बढ़ा है। संसार में भी वैसा ही गँदला वातावरण है। हमें भी कमल की तरह उस दल-दल से ऊपर उठना होगा तभी हमें लक्ष्मी की प्रसन्नता प्राप्त होगी। कमल जल में रहते हुये भी जल से अलग व अलिप्त रहता है। हमें भी इस संसार में गृहस्थ जीवन के सभी व्यवहार करते हुए उनमें लिप्त नहीं होना है। भोग तो करना है परन्तु उनमें आसक्ति नहीं करनी है। अनासक्त भाव से उनको ग्रहण करना है। भोग में त्याग के आदर्श जीवन व्यतीत करने की ओर लक्ष्मी प्रेरित करती हैं और यही वह सिद्धांत है जिससे मानसिक शांति की स्थिरता रह सकती है।

विष्णु का प्रिय बनने के लिए कर्मयोग को व्यवहारिक रूप देना आवश्यक है। विष्णु उन्हीं साधकों से प्रसन्न रहते हैं। जो गृहस्थ को जंजाल और जगत को मिथ्या समझकर उससे भागते नहीं वरन् उसकी समस्त जिम्मेदारियों को कुशलतापूर्वक निभाने के लिए खून पसीना एक कर देते हैं। और समस्त कर्तव्यों का पालन करते हुए उनसे अलिप्त रहते हैं जैसे कमल जल से अछूता रहता है। जिस तरह लक्ष्मी पत्नी के रूप में सदैव विष्णु के पास निवास करती है, उसी तरह वह साधक भी वैसा ही सौभाग्य प्राप्त करता है।

• • •

भागवत के अष्टम स्कन्ध के अध्याय २ में गजेन्द्र का ग्राह द्वारा पकड़ा जाना और तीसरे अध्याय में गजेन्द्र मोक्ष की कथा आती है। कथा संक्षेप में इस प्रकार है। क्षीर सागर से आवृत एक त्रिकूट पर्वत था। उस पर्वत की द्रोणी में एक सरोवर विद्यमान था। आरण्य में एक हाथी अपने परिवार और अनेकों हथिनियों सहित रहता था। वन के सारे पशु उसके पर्वतकाय शरीर से, भयभीत होते थे। वह एक दिन सरोवर में हथिनियों सहित जल पीने गया। अपने बच्चों को नहलाने और जल पिलाने लगा। काफी समय तक वह जल में किलोल करता रहा। इतने में एक ग्राह ने उसके पैरों को पकड़ लिया और जल में खींचने लगा। गज को भी आश्चर्य हुआ कि उसे पकड़ने का साहस किस प्राणी को हुआ है। वह भी अपनी पुरी शक्ति से ग्राह को पानी के बाहर खींचने लगा। कभी गज ग्राह को खींच लेता, कभी ग्राह गज को यही संघर्ष चलता रहा। गज की शक्ति शिथिल होती गई क्योंकि यह युद्ध ग्राह के अनुकूल था। जल तो उसका निवास स्थान था। इसलिए वह लम्बे समय तक उसमें रह कर इस युद्ध को चला सकता था। उसकी शक्ति बढ़ती गई।

गज के बच्चों और हथिनियों ने भी बहुत प्रयत्न किया। परन्तु ग्राह से गज को छुटकारा न मिल सका। अब गज निराश हो गया। अपनी और अपने परिवार की शक्ति पर उसे विश्वास न रहा। उसने विचार किया कि विश्व की सर्वोच्च सत्ता-ईश्वर का सहारा लेने से ही

इस बन्धन से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। और कोई उपाय दृष्टि-गोचर नहीं होता है। तब उसने भगवान विष्णु से आर्त स्वर में प्रार्थना की कि वह उसके इस दुःख का निवारण करें। भगवान ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और गरुड़ पर चढ़ कर आये। जब गजेन्द्र को अत्यन्त कष्ट में देखा तो गरुड़ से भी उतर पड़े और शीघ्र आकर ग्राह का सर चक्र से काट दिया और गजेन्द्र को ग्राह से मुक्त किया।

इस अलङ्कारिक कथा में आध्यात्मिक रहस्य निहित है। कारण (अव्यक्त) चैतन्य क्षीर सागर है। त्रिगुणात्मक माया त्रिकूट पर्वत है। उसके आश्रित संसार रूपी वनमें भटकने वाला जीवात्मा ही गजेन्द्र है। है। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक वृत्तियाँ उसके हाथी और हथनियाँ हैं। सांसारिक विषय-भोगों में लिप्त होकर जीवात्मा की शक्ति शिथिल हो जाती है। वह परिवार के मोह में जकड़ा रहता है। उनको वह अपना समझता है। संसार भर की सुख-सुविधाओं को बटोरने के लिए वह घोर परिश्रम करता है, अनुचित उपायों को अपनाकर भी वह उन्हें पुष्ट करता है। उसका जीवन-प्राण उन्हीं सम्बन्धियों में निहित होता है। उनकी प्रसन्नता से वह प्रसन्न और उनके दुःख से वह दुखी हो जाता है। वह काल की गति को नहीं समझता। जगत की विनाशी प्रकृति का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन नहीं करता। उसने हजारों प्राणियों को शरीर छोड़ते देखा है और यह भली भांति जानता है कि इस शरीर को अमर बनाना सर्वथा असम्भव है फिर भी सम्बन्धियों की मृत्यु होने पर रोता है, दुःखी होता है, रोगी रहने पर परेशान होता है। ऐसा लगता है कि उसका स्वयं कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। सम्बन्धी ही उसे इधर-उधर खींचते रहते हैं।

हर व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने परिवार का पालन-पोषण करे परन्तु उसका यह अर्थ नहीं है! कि वह अपने सुख-दुःख को

उनके आश्रित कर ले और उनके सुख के लिए अपने अमूल्य मन को मलिन करता रहे। अपनी जिम्मेदारी को वह कुशलतापूर्वक निवाहे, पर उनके मोह-पाश में बँधा न रहे। यह मोह ही हमें ग्राह-रूप में बाँधे हुए है और दुखों के समुद्र में धकेलने का प्रयत्न करता रहता है।

शास्त्रों ने इस ग्राह-रूपी मोह से सचेत रहने को कहा है। 'नारद पुराण' के अनुसार मोह के समान कोई घातक वस्तु नहीं है। भागवत में भी कहा है—'संसार में जिन्हें अपना अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्धी कहा जाता है वह शरीर, स्त्री, पुत्र आदि कुछ नहीं हैं, असत्य हैं। परन्तु जीव उनके मोह में ऐसा पागल-सा हो जाता है कि दिन-रात उनको मृत्यु का ग्रास होते देखकर भी चेतता नहीं, शरीर में 'मैं-पन' और जगत की वस्तुओं में 'मेरे-पन' का आरोप बहुत बड़ी दुर्जनता है।'

'मार्कण्डेय पुराण' में मदालसा कहती है—'पृथ्वी पर सवारी चलती है, सवारी पर यह शरीर रहता है और इस शरीर में भी एक दूसरा पुरुष बैठा रहता है, किन्तु पृथ्वी और सवारी में वैसी समता अधिक नहीं देखी जाती जैसी अपनी देह में दृष्टिगोचर होती है। यही मूर्खता है।'

पद्म पुराण ने मोह को पाप की जड़ बताया है और यह परामर्श दिया है, कि या तो ममत्व बिल्कुल छोड़ दे, यदि न छोड़ सके और ममत्व करना ही हो तो सर्वत्र करें।"

कवि ने सत्य ही कहा है—

ममता अहंता वायु का झोंका न जब तक जायगा।
विज्ञान दीपक चित में, तेरे नहीं जुड़ पाएगा॥

जड़भरत की कथा इस सम्बन्ध में उल्लेखवीय है। भरत तपस्वी और ज्ञानी थे। वह एक हरिणि से प्रेम करने लगे। उससे स्नेह यहाँ

तक बढ़ गया कि मरते समय भी उसकी याद में विह्वल होने लगे। इस ममता के कारण उन्हें उसी की योनि में जाना पड़ा।

ऋषियों का अनुभव है कि जब तक मोह से मुक्ति न होगी तब तक शान्ति नहीं मिलेगी। संत तुकाराम ने चेतावनी देते हुए कहा है "यह प्राणी केवल निमित्त के लिए ही स्वतंत्र है। मेरा-मेरा कह कर व्यर्थ ही यह अपना नाश कर लेता है।" रामतीर्थ तो एक वैज्ञानिक अनुभूति बताते हैं "मोह मन को पाले के समान ठिठुरा कर संकुचित कर डालता है।" मन ही बंधन और मोक्ष का कारण बताया गया है। वह ही दुःख-सुख का आधार है। उसके संकुचित होने पर दुःख का सृजन स्वाभाविक है। उसकी स्वतंत्रता में ही शान्ति और सन्तोष है।

गीता में भी कहा हैं "जिसे ममता नहीं होती उसे ही शान्ति मिलती है।" २।७१ में भगवान ने स्पष्ट कहा है कि जो ममता बुद्धि से रहित है। वह परम योगी भक्त मुझ को प्यारा है। कठोपनिषद में भी आश्वासन दिया गया है कि "जब साधक के हृदय की अहंता, ममता रूपी समस्त अज्ञान ग्रन्थियाँ भली भांति कट जाती हैं, उसके सब प्रकार के संशय सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, तब वह इस शरीर में रहते हुए ही परमात्मा का साक्षात्कार करके अमर हो जाता है।"

ग्राह मोह रूपी अज्ञान ग्रन्थि है। जब तक वह ग्रन्थि कटेगी नहीं, दुःखों की निवृत्ति असम्भव है। गज ने अपनी शक्ति से निराश होकर भगवान की शक्ति का आश्रय लिया अपने को एक असीम शक्ति से जोड़ लिया। वह समझने लगा कि वह सर्वोच्च सत्ता उसके साथ है। मनोविज्ञान का सिद्धान्त है कि मनुष्य अपने को जैसा समझता है वह वैसा ही बनने लगता है। शक्ति की भावना करने से शक्ति का विकास होता है। निराशा की भावना से शक्ति का क्षय होता है। यदि हम विश्वासपूर्वक अपने मन को संकेत दिया करें कि हमारी शक्ति दिनों

दिन वढ़ रही है। और हमारे मार्ग की सभी रुकावटें दूर हो रही हैं। तो निश्चय ही वह आपत्तियाँ जादू की तरह दूर होती दिखाई देंगी। दृढ़ निश्चय का होना आवश्यक है। जगत में भी देखा जाता है कि किसी शक्तिशाली गुट से सम्वन्धित व्यक्ति निर्भय होता है। वह दुःसाहसी कदम उठाने में भी संकोच नहीं करता क्यों कि उसे अपनी सम्वन्धित शक्ति पर विश्वास होता है। जो व्यक्ति चलते-फिरते ईश्वरीय वल को साथ लेकर चलता है, उसके मार्ग से पहाड़ भी हट जाते हैं।

गज रूपी जीवात्मा मोह के वन्धनों में वुरी तरह वँधा हुआ है। उससे छूटने के लिए ईश्वरीय शक्तियों का आह्वान चाहिए। ईश्वरता सर्वत्र व्याप्त है। उसे कहीं से आना नहीं पड़ता। आवश्यकता है इस वात की कि उसे सदैव अपने साथ समझा जाए। जव व्यक्ति उसका साथ छोड़ देता है। तभी वह अशक्त होकर दुःखी होता है।

केवल प्रार्थना करने पर मोक्ष मिल जाता है, ऐसी वात भी नहीं है। प्रार्थना से अपनी लघुता और ईश्वर की श्रेष्ठता का अनुभव अवश्य होता है। परन्तु इसके साथ साधन भी आवश्यक हैं। प्रार्थना का अभिप्राय यह है कि जिसके गुणों की हम प्रशंसा कर रहे हैं। हम उनके पद चिन्हों पर चलें, जैसा वह व्यवहार करते हैं। हम भी वैसा ही करें। तभी उनके साथ मिल सकेंगे। बन्धनों से मुक्त होने के लिए भगवान जैसा आचरण अनिवार्य है।

भगवान कहते हैं कि "कर्म तो मुझे भी करने ही पड़ते हैं। परन्तु मुझे कभी कर्मों का अर्थात् गुणों का भी स्पर्श नहीं होता।" (गीता ४।१४)। "कर्मों में मेरी कुछ भी आसक्ति नहीं हैं। इस लिए मुझे कर्म का वन्धन नहीं होता और जो इस तत्व को समझ जाता है। वह कर्म पाश से मुक्त हो जाता है। १३।१३।" इस सृष्टि निर्माण

करने में मेरी आसक्ति नहीं है । इसलिए यह काम मुझे बन्धनकारक नही होते।" ६।६ ।

जैसे सभी कर्म करते हुए भगवान उनसे अलिप्त रहते हैं, वैसे ही हमें भी संसार में सभी कर्तव्यों का पालन करते हुए अकर्ता रहना चाहिए। अपने को अकर्ता और भगवान को कर्ता मानकर सभी साँसारिक प्रवृतियों में संलग्न रहना चाहिए। भगवान ने स्वयं कहा भी है कि मैं जगत के सभी प्राणियों को चक्र की तरह घुमा रहा हूँ और और वह घूम रहे हैं। अज्ञानता के कारण सभी कर्मों का कर्ता हम स्वयं को मान लेते हैं और अपनी शक्तियों पर गर्व करते हैं। परन्तु वह अज्ञानता का गर्व चकनाचूर हो जाता है। ईशावास्य बुद्धि से आचरण करने वाला व्यक्ति ही बुद्धिमान है। 'ईशावास्योपनिषद' के ऋषि ने परामर्श दिया है कि "संसार में जो कुछ है उसे ईश्वर से अधिष्ठित करे अर्थात् ऐसा समझे कि मेरा कुछ नहीं, उसी का है।" फिर दृढ़ आश्वासन देते हुए ऋषि ने कहा है "यदि ऐसी ईशावास्य बुद्धि से काम करेगा, तो उन कर्मों का तुझे लेप नहीं होगा, इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है।" गज को जब तक अपनी शक्ति पर विश्वास रहा वह ग्राह से जूझता रहा, परन्तु जब वह अपनी व अपने सम्बन्धियों की शक्ति से निराश हो गया तो ईश्वर से सम्बन्ध जोड़ा। बिजली का बटन दबाने से उसका सम्बन्ध विद्युत के विशाल भण्डार-समुद्र से हो जाता है। उस स्रोत से प्रकाश बना रहता है। सम्बन्ध विच्छेद होने पर अन्धकार हो जाता है। ईश्वरीय शक्तियों से सम्बन्ध जोड़े रहने से हम सशक्त बने रहते हैं और बन्धनकारक वृत्तियाँ हमारा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकतीं। जगत में रहते हुए भी कमलपत्र की तरह उससे अलग रहते हैं। यही कर्म-योग है।

भगवान ने स्वयं भी इस कर्म-योग का निर्देश दिया है "जो कुछ तू करेगा, खाएगा, हवन करेगा, देगा या तप करेगा, वह सब मुझे

अर्पण कर" (गीता ४।२७) इससे तुझे कर्म को बाधा नहीं होगी। "जो ब्रह्म में अर्पण कर आसक्ति विरहित कर्म करता है, उसे वैसे ही पाप स्पर्श नहीं करता, जैसे कमल पत्र को जल नहीं छूता" (५।१०)। शिव गीता १५।४५ में भी इन्हीं भावों का दिग्दर्शन कराया गया है। भागवत (११।२।३६) में भी कहा है "काया, वाचा, कर्मणा, मन, इन्द्रिय, बुद्धि या आत्मा की प्रवृति से अथवा स्वभाव के अनुसार जो कुछ भी हम करते हैं, वह सब परात्पर नारायण को समर्पण कर दिया जावे।" इससे कर्मों का लेप नहीं होता।

भगवान ने यह भी कहा है कि "यज्ञ के अर्थ किए कर्म बाधक नहीं होते" [गीता ३।६]। यज्ञ करते हुए भी हम कहते हैं "इदन्न मम" यह मेरा नहीं है। यह सब कुछ तेरा है। तेरा ही तुझे अपर्ण है। इसमें भी सभी कर्मों को भगवान से अधिष्ठित करने का अभिप्राय है। अपने कर्मों को भगवान से अधिष्ठित करने से शक्ति की वृद्धि और विकास होता है जिससे सांसारिक दुखों की निवृति में सहायता मिलती है।

इस कथा भागवतकार ने यही निर्देश दिया है कि अपनी सीमित शक्तियों की वृद्धि का उपाय है असीम शक्ति के स्रोत के साथ सम्बन्ध जोड़ लेना और उसे सर्वकर्ता मानना, सभी सफलताओं, असफलताओं का श्रेय उसे देना।

इस सिद्धान्त की पुष्टि एक पशु के माध्यम से की गयी है जिसने खा-खा कर अपने शरीर को पर्वताकार करना सीखा है। जिसमें विचार शक्ति का अभाव है। जिसके पास विवेक का नाम नहीं, जिसका बौद्धिक स्तर इतना नहीं है कि वह अव्यक्त ब्रह्म के सम्बन्ध में कुछ भी सोच सके। उसे तो जो प्रकृति ने सिखा दिया है, वही वह करता रहता है। केवल भौतिक शरीर को हृष्ट-पुष्ट करने और सभी दिव्यताओं व

सात्विक प्रवृत्तियों की उपेक्षा करने से ही तो उसे यह हाथी की योनि मिली है। ऐसे प्राणी को भगवान की स्मृति की कहाँ सूझ सकती है। उसको तो केवल भोग योनि मिली है। दुर्भाग्य से वह कर्मयोनि में नहीं भागवतकार ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया हैं कि भोग योनि वाला प्राणी भी अपनी अहंता ममता को समाप्त करके भगवान का कृपापात्र बन कर जीवन की सर्वोच्च विभूति मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। मनुष्य को तो हाथी से कहीं अधिक सुविधाएँ प्राप्त हैं। उसे कर्म योनि मिली है, उसे विश्व की सबसे बड़ी सम्पत्ति बुद्धि से विभूषित किया गया है, भगवान ने उपहार में केवल उसे ही विचार व विवेक शक्तियाँ प्रदान की हैं, जो और किसी प्राणी को उपलब्ध नहीं है। इन शक्तियों से वह क्षुद्र से महान और नर से नारायण बन सकता है। अपनी उलझ समस्याओं का समाधान कर सकता है। गिरी हुई परिस्थितियों का सुधार कर सकता है। वह जैसा बनना चाहे, वैसा बन सकता है। तो कोई कारण नहीं कि जिस पद को गज ने प्राप्त किया है, उसे हम न प्राप्त कर सकें। हम मोक्ष जैसे उच्चतम पद को भी अवश्य प्राप्त कर सकते हैं। यह दृढ़ आश्वासन देने के लिऐ कथाकार ने एक पशु को माध्यम चुना है। जो उचित ही है। यह हमें आशा और विश्वास की नई स्फूर्ति देता है।

इस कथा को इस ढंग से समझना ही विवेक सम्मत है।

• • •

वेद में विष्णु को सृजन, पालन और संहार तीनों का कर्ता बताया गया है। परन्तु पुराणों में यह कार्य भिन्न-भिन्न देवताओं को सौंपा गया। ब्रह्मा उत्पत्ति के, विष्णु पालन-पोषण के और शिव संहार के देवता माने जाते हैं। समझने की सुविधा की दृष्टि से ऐसा मान लिया गया है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। यह तीनों देवता एक ही शक्ति के तीन रूप हैं। अलग-अलग शक्तियाँ नहीं हैं। यदि यह अलग-अलग शक्तियाँ हों और एक का दूसरे से सम्बन्ध न हो तो व्यवहारिक रूप में बाधा पड़ती है। क्योंकि संहारक शक्ति सृजक और पालक शक्ति का भी संहार कर देगी और वह ही अन्त में शेष रह जायेगी। वह नई सृष्टि बनाएगी और वही पालन करेगी क्योंकि सृजक व पालक शक्तियाँ तो नष्ट हो गईं। इस तरह से केवल संहारक शक्ति ही श्रेष्ठ सिद्ध होती है। वास्तव में एक ही परमात्मा की तीन शक्तियाँ हैं, जो भिन्न-भिन्न कार्य करती हैं।

इन तीन देवताओं में से शिव और विष्णु के मानने वालों ने अलग-अलग सम्प्रदाय बना लिए परन्तु ब्रह्मा कोई सम्प्रदाय नहीं बना उनका मन्दिर भी केवल पुष्करराज में बना और कहीं नहीं। पुराणकर्ता व्यास जी ने विष्णु और शिव दोनों के साथ न्याय किया है। विष्णु सम्बन्धी पद्म, विष्णु, नारद, वाराह, गरुड़ आदि पुराणों की रचना की और शिव सम्बन्धी शिव, वायु, लिङ्ग, स्कन्द कूर्म और ब्रह्माण्ड पुराणों को बनाया जिनमें इनकी महिमा विस्तृत रूप से गाई गई है। सम्प्रदायों

में बुद्धि भेद अवश्य हो गया और वह एक दूसरे को हीन दृष्टि से देखने लगे। कभी-कभी कड़े संघर्ष भी हुए परन्तु पुराणों ने तो दोनों देवताओं की एक-रूपता ही सिद्ध की है। इसलिए यदि सम्प्रदायवादियों ने इन अपने पुराणों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया होता तो आपसी मत-भेद का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। एक को बड़ा और दूसरे को छोटा सिद्ध करना व्यर्थ ही है। दोनों एक ही शक्ति के रूप हैं। दोनों एक हैं। पुराणों ने ही इस पवित्र एक्य भावना का जय घोष किया है।

विष्णु पुराण १।६६।६७ में कहा है "वह एक ही परमात्मा सृजन, पालन और संहार के लिए ब्रह्मा विष्णु और शिव का रूप धारण करते हैं। वे विष्णु सृजक होकर अपनी ही सृष्टि करते हैं, पालक होकर अपना ही पालन करते हैं और संहारक होकर लीन हो जाते हैं।"

पद्म पुराण ७१।१८।२० में तीनों देवताओं की एकरूपता की सुन्दर अभिव्यक्ति की गई है। "शिव और विष्णु के लोक एक ही हैं। उन दोनों में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि उन दोनों का रूप एक ही है। विष्णु रूप धारी शिव और शिव रूपधारी विष्णु को नमस्कार है। शिव के हृदय में विष्णु और विष्णु के हृदय में शिव विराजमान हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव यह तीनों देवता एक ही रूप हैं।"

नारद पुराण में "शिव के अर्चन में रत, त्रिपुण्ड धारण करने वाले, शिव या विष्णु का नाम स्मरण करने वाले, रुद्राक्ष से सुसज्जित, शिव व विष्णु में समान बुद्धि रखने वाले, पञ्चाक्षर मन्त्र का जप करने वाले ही भागवत हैं।"

इसी पुराण में एक और स्थान पर कहा गया है कि "शिव ही हरि हैं और हरि ही शिव हैं। इनमें परस्पर भेद देखने वाला खल है और वह करोड़ों नरकों में जाता है। इसलिए विष्णु और शिव की समबुद्धि से पूजा करनी चाहिए। जो भेद बुद्धि रखता है, उसे दोनों लोकों में दुःख उठाना पड़ता है।"

ब्रह्म वैवर्त कृष्ण प्रधान पुराण है। उसमें शिव भगवान कृष्ण की वंदना करते हैं और उन्हें जय के मूर्तिमान रूप, जय प्रदान करने वाले जय देने में समर्थ, जय की प्राप्ति के कारण और विजय-दाताओं में सर्वश्रेष्ठ कहा है। शिव के मुख से उन्हें विश्व के ईश्वरों के भी ईश्वर, विश्वेश्वर विश्वकारण, विश्वाधार, विश्व के विश्वास भाजन तथा विश्व के कारणों के भी कारण बताया है। (ब्रह्म खन्ड) इसी पुराण में एक अन्य स्थान पर शिव को वैष्णवों का शिरोमणि कहा गया है और उन्हें कृष्ण के वामपार्श्व से प्रकट होता बताया गया है।

रामायण में गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं—

शिव द्रोही मम दास कहावा।
सो नर मोहि सपनेहु नहि पावा॥

राम शिव उपासना के लिए सागर के तट पर बालू की मूर्ति बनाते हैं और शिव कहते हैं—

बारबार वर माँगउं हरषि देहु श्री रंग।
पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥

राम विष्णु के ही अवतार माने जाते हैं।

महाभारत के अनुशासन पर्व में युधिष्ठिर भीष्म से धर्म-वाणी सुन रहे थे। उन्होंने शिव महिमा सुनाने का आग्रह किया तब भीष्म ने कहा कि वह शिव महिमा गान करने में असमर्थ हैं। केवल कृष्ण ही उसका वर्णन कर सकते हैं। कृष्ण ने युधिष्ठिर के अनुरोध पर शिव-महिमा सुनाई। कृष्ण विष्णु का अवतार माने जाते हैं। यह भारतीय पद्धति की विशिष्टता है। एक देव दूसरे को सम्मानार्थ बड़ा बताता है। यह नीति दोनों की उत्कृष्टता की द्योतक है।

महाभारत वनपर्व १६०।७६ में भी कहा है।

शिवाय विष्णु रूपाय विष्णुवे शिव रूपिणे ।
दक्षः यज्ञ विनाशाय हरि रुद्राय वै नमः ॥

शिवप्रधान 'कूर्म पुराण' में भी तीनों देवताओं की एक रूपता का प्रतिपादन किया गया है। एक ही शिव के तीन रूप हैं। रजोगुण वह ब्रह्मा के रूप में संसार का सृजन करते हैं। सतोगुण से विष्णु के रूप में पालन करते हैं। और तमोगुण से रुद्ररूप में जगत का संहार करते हैं।" (पृ० ४।५०-२३)

शिव पुराण की रुद्र-महिमा में एक कथा आती है जिसमें शिव सृष्टि संचालन की शक्ति और सामर्थ्य रखने वाले एक दिव्य पुरुष की रचना करते हैं ताकि वह स्वयं उस भार से मुक्त हो सकें। उस पुरुष के अंग-अंग में श्री का समावेश था। भुजाओं में असीम बल, पौरुष और शौर्य की मूर्ति, सात्विकता से ओत-प्रोत वह लगता था। सागर जैसा गाम्भीर्य और सहिष्णुता का प्राधान्य लिए हुए था। शिव ने उसे अपना ही रूप बताया और कहा कि मेरे भक्त तुम्हें विभिन्न नामों से सम्बोधित करेंगे परन्तु व्यापक होने के कारण तुम्हारा प्रसिद्ध नाम विष्णु ही होगा। इसमें विष्णु को शिव का रूप बताया गया है।

स्कन्द पुराण के काशी खण्ड पूर्वार्ध (२३।४१) में कहा है 'जैसे शिव हैं, वैसे विष्णु हैं, जैसे विष्णु हैं, वैसे शिव हैं। शिव और विष्णु में कुछ भी अन्तर नहीं है।" माहेश्वर खन्ड कुमारिका खण्ड में शिव उमा से कहते हैं" देवि ! मैं भगवान विष्णु और ब्रह्मा की प्रसन्नता के लिए भगवान विष्णु के मन्दिर में एकादशी को जागरणपूर्वक नृत्य करता हूं तथा उन्हीं दोनों की प्रसन्नता के लिए सदा तपस्या किया करता हूं। एक अन्य स्थान पर विष्णु और ब्रह्मा शिव की स्तुति करते दिखाए गए हैं और वह उन्हें देवताओं में सर्व श्रेष्ठ मानते हैं।

सूर विद्यापति और रसखान आदि कवियों ने भी इस एक्य भावना की पुष्टि की है सूर का एक उदाहरण यहाँ देते हैं—

धूरि धूसर, जटा जटुली, हरि किए हर भेखु !
नील पाट पिरोई मनिगन, फनिग धोकैं जाय ॥
खुना खुना कर हंसति हरि, हर नचत डमरु वजाय ।

विष्णु और शिव का यह सुन्दर समन्वय हमारी संस्कृति की विशेषता है ।

विद्वानों का मत है कि विष्णु वैदिक देवता हैं और शिव अनार्यों 'द्रविड़ों' के उपास्य देव थे । भारतीय संस्कृति अनेकों संस्कृतियों का संगम है । जो भी यहाँ आता है वह इस महा सागर में समा जाता है । इसमें सभी को समा लेने की शक्ति और सामर्थ्य है । आर्यों और अनार्यों के लम्वे समय के मिलन के पश्चात् दोनों ने एक दूसरे की मान्यताओं, उपासना पद्धति, रस्म रिवाज आदि को अपनाया, दोनों मिल कर एक हो गए । द्रविड़ों के शिव को वेदा के रुद्र के साथ मिला दिया गया । इस मिलन का घोर विरोध हुआ जो दक्ष द्वारा शिव के तिरस्कार के रूप में हमें पुराणों में दिखाई देता है । परन्तु अन्त में यह विरोध शांत हो गया और दोनों को एक मानना ही पड़ा । तभी वैदिक देवता विष्णु और अवैदिक देवता शिव को एक स्तर पर लाया जा सका और उन्हें सृजन और संहार की भिन्न-भिन्न शक्तियों के रूप में ग्रहण किया गया । दोनों देवताओं को एक रूप मानने का भी अवश्य विरोध हुआ होगा तभी इस क्षुद्र भावना को दूर करने के लिए अन्य उपाय अपनाये गये । उनमें हरिहर की उपासना भी थी । विष्णु और शिव की उपासना का सम्मिलित कार्यक्रम वनाया गया और एक मूर्ति में ही दो देवताओं की कल्पना की गई ताकि विष्णु और शिव दोनों के भक्त इन्हें एक ही समझें ।

इतिहास पुराणों में इसकी पुष्टि के अनेकों प्रमाण मिलते हैं । स्कन्द पुराण (सा० चा० मा०१५।११-१३) में इस भावना को इस

प्रकार अभिव्यक्त किया है। "सारे जगत में एक ही प्रभु व्याप्त हैं। उनका आधा शरीर विष्णु का और आधा शिव का है। एक ओर विष्णु के वाहन गरुण है तो दूसरी ओर शिव के नन्दी। एक ओर का शरीर श्याम वर्ण हैं तो तो दूसरी ओर का गौरवर्ण। यह दोनों एक ही हैं।" एलोरा में प्राप्त एक प्रतिमा में भी यही भाव दिखाये गये हैं। बादामी के कला मण्डप की प्रथम गुफा में एक हरि मूर्ति है। कम्बोदिया में भी हरिहर की मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं। जब भारतीय संस्कृति का दक्षिण पूर्व एशिया में प्रसार हुआ तो इस भावना ने वहाँ भी जोर पकड़ा और वहां भी इस युगल रूप की उपासना होने लगी। इतिहास इस कल्पना की पुष्टि करता है। कुषाण काल की मुद्राओं में भी इस हरिहर मूर्ति को खुदा हुआ पाया गया है। हुविष्क के सिक्कों में शिव और विष्णु साथ-साथ हैं। एक विद्वान ने हरि का अर्थ हरियाली और हर का अर्थ हरण किया है। इस तरह से हरि को सृजन का प्रतीक-विष्णु और हर को संहारक शिव का प्रतीक माना है।

वस्तुतः दोनों एक ही हैं। उनको अलग-अलग मानना भूल है। विष्णु और शिव के अलग-अलग जहाँ-जहाँ सहस्रनाम आए हैं। उनमें भी एक दूसरे के नामों को सम्मिलित किया गया है। विष्णु सहस्रनाम में शिव के नाम और शिव सहस्रनाम में विष्णु के नाम गिनाए गये हैं। गीता में भगवान कृष्ण ने दोनों देवताओं को अपनी विभूति भी कहा है।

इन दोनों के नामों की व्युत्पत्ति का अध्ययन किया जाए तो भी दोनों एक ही लगते हैं। "वेवेष्टि इति विष्णु।" जो सबका वेष्टन करे अर्थात् सबके भीतर बाहर रहे वह विष्णु है। "शेरतेऽस्मिन लोकाः" जिसमें सब लोक शयन करते हैं, अथवा जो सबका कल्याणकारक है, वह शिव हैं। दोनों एक ही रूप हैं।

विष्णु और शिव में केवल नाम का भेद है। वस्तुतः एक ही परमात्म शक्ति के दो रूप हैं, दोनों एक हैं।

• • •

विष्णु और ब्रह्मा ४२

विष्णु के उपासकों के अनेकों सम्प्रदाय हैं परन्तु ब्रह्मा के उपासकों का कोई सम्प्रदाय नहीं है। इसलिए दोनों देवताओं में कोई मतभेद का प्रश्न ही नहीं उठता। देवता तो दिव्य रूप होते हैं। वह सब को अपना ही रूप देखते हैं। वह प्राणी मात्र से अभिन्नता का अनुभव करते हैं। सब में अव्यक्त ब्रह्म का निवास मानते हैं। अत: उन्हें ऊँच नीच का भेद भाव नहीं प्रतीत होता। अनेकता का अभ्यास उन्हें होता है जिन पर अज्ञान का आवरण चढ़ा हो। देवता तो ज्ञान के दीपक होते हैं। उनके चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश झलकता है। वह सर्वत्र अपने स्वरूप को ही बिखरा हुआ पाते हैं।

विष्णु और ब्रह्मा में कभी मतभेद की बात सुनी नहीं गई परन्तु फिर भी सावधानी के लिए पुराणवेत्ताओं ने इन में ऐसे विचारों का समावेश किया जिनसे दोनों देवताओं के सम्बन्धों में दृढ़ता दिखाई दे, जिनसे स्पष्ट हो कि कोई एक दूसरे को अपने से छोटा नहीं समझता। दोनों ने एक दूसरे को अपने से बड़ा ही माना हैं। दूसरे की प्रशंसा ही की है। यह नीति उनके सभ्य शिष्टाचार की द्योतक है। इस तथ्य की पुष्टि में कुछ उदाहरण देते हैं।

विष्णु पुराण में ब्रह्मा जी कहते हैं—

मद्रूपमास्थाय सृजत्यजो य: स्थितौ च योऽसौ पुरुषस्वरूपी।
रुद्र स्वरूपे च योऽति विश्व, घत्त तथा नन्तव पुरुषयस्तम ॥

४।१।८६

"जो अजन्मा मेरे रूप को ग्रहण कर विश्व की रचना करता है। स्थिति काल में जो पुरुष रूप में है। और जो रुद्र रूप में जगत का संहार करता है तथा व्यापक शरीर वाले विष्णु के रूप में सारे संसार को धारण करते हैं।

इसी पुराण १।२।६६-६७ में लिखा है "वह एक ही भगवान जनार्दन जगत की रचना स्थिति और संहार के लिए ब्रह्मा शिव और विष्णु इन तीन संज्ञाओं को धारण करते हैं। वे विष्णु ब्रह्मा होकर अपनी ही रचना करते हैं। पालक रूप में अपना ही पालन करते हैं। तथा संहारक रूप में विश्व का संहार करते हैं।" इसमें तीनों देवताओं की एक रूपता का प्रतिपादत है।

'स्कन्द पुराण' में ब्रह्मा ने कहा—

अनन्ताय नमस्तस्मै यस्यान्तो नोपलभ्यते।
महेशाय च द्वावेतौ मयि स्तां सुमुखौ सदा ॥

"उन भगवान को नमस्कार है जिनका कहीं अन्त नहीं है। जो सबके महान ईश्वर है, उन भगवान शंकर को भी नमस्कार है, यह दोनों देवता मुझ पर प्रसन्न रहें।"

इसका उत्तर विष्णु ने इस प्रकार दिया—

ब्रह्माणं सर्वभूतेषु परमं ब्रह्म रूपिणम्।
सदाशिवं च वन्दे तौ भवेतां मंगलाय मे ॥

"मैं सम्पूर्ण भूतों में व्यापक परब्रह्म रूप स्वरूप भगवान ब्रह्मा और सदाशिव को प्रणाम करता हूँ। वे दोनों मेरे लिए मंगलकारी हैं।"

पद्म पुराण विष्णु-प्रधान पुराण हैं। उसके सृष्टि खण्ड में भगवान विष्णु ब्रह्मा की स्तुति करते हैं। "जिनका कभी अन्त नहीं होता, जो विशुद्ध चित और आत्म स्वरूप हैं। जिनके हजारों भुजाएँ हैं,

जो सहस्रों किरणों वाले सूर्य की भी उत्पत्ति के कारण हैं, जिनका शरीर और कर्म दोनों अत्यन्त शुद्ध हैं, उन विश्व के रचयिता ब्रह्मा को मेरा नमस्कार है। जो समस्त विश्व की पीड़ा हरने वाले, कल्याणकारी, सहस्रों सूर्य और अग्नि के समान प्रचण्ड तेजस्वी, सम्पूर्ण विद्याओं के आश्रय, चक्रधारी तथा समस्त ज्ञानेन्द्रियों को व्याप्त करके स्थित हैं, उन परमेश्वर को सदा नमस्कार है। प्रभु ! आप अनादि देव हैं, अपनी महिमा से कभी च्युत नहीं होते इस लिए अच्युत हैं। आप तो जल के स्वामी वरुण, क्षीरशायी नारायण, विष्णु, शंकर, पृथ्वी के स्वामी, विश्व का शासन करने वाले, जगत को नेत्र देने वाले चन्द्रमा, सूर्य, वीर, विश्वरूप अमृत स्वरूप और अविनाशी हैं। आपने अपने तेजः स्वरूप प्रज्वलित अग्नि की ज्वाला से समस्त भूमण्डल को व्याप्त कर रखा है। आपके मुख सब ओर हैं। आप समस्त देवताओं की पीड़ा हरने वाले हैं। मैं आपके अनेकों मुख देख रहा हूँ। आप शुद्ध अन्तःकरण वाले पुरुषों की परमगति और पुराण पुरुष हैं। आप ही ब्रह्मा, शिव तथा जगत की रचना करने वाले हैं। आपको नमस्कार है।

भागवत १०।१४।२ में ब्रह्मा जी भगवान कृष्ण की स्तुति करते हैं। "स्वयं प्रकाश परमात्मन ! आपका यह श्री विग्रह भक्त जनों की लालसा-अभिलाषा की पूर्ति करने वाला है। यह आपकी चिन्मयी इच्छा का मूर्तिमान स्वरूप मुझ पर आपका साक्षात् कृपा प्रसाद है। मुझे अनुग्रहीत करने के लिए ही आपने इसे प्रकट किया है। इसे पञ्चभूतों की रचना कौन कहता है। यह तो अप्राकृत शुद्ध सत्वमय है। मैं या और कोई समाधि लगा कर भी आपके इस सच्चिदानन्द विग्रह की महिमा जान नहीं सकता। फिर आत्मानन्दानुभव स्वरूप साक्षात् आपकी ही महिमा को तो कोई एकाग्र मन से कैसे जान सकता है।"

भगवान कृष्ण विष्णु के अवतार माने जाते हैं। अतः यह विष्णु की ही स्तुति मानलें तो कोई आपत्ति न होगी।

ब्रह्मवैवर्त पुराण [ब्रह्म खण्ड ३।३५-३७] में भी ब्रह्माजी भगवान कृष्ण की स्तुति करते हैं "जो तीनों गुणों से अतीत और एक मात्र अविनाशी परमेश्वर हैं। जिनमें कभी कोई विकार नहीं होता, जो अव्यक्त और व्यक्त हैं तथा गोपवेष धारण करते हैं, इन गोविन्द श्री कृष्ण की मैं वन्दना करता हूँ। जिनकी नित्य किशोरावस्था है, जो सदा शान्त रहते हैं, जिनका सौन्दर्य करोड़ों कामदेवों से भी अधिक है तथा जो नूतन जलधर के समान श्याम वर्ण हैं, उन परम मनोहर गोपी वल्लभ को मैं प्रणाम करता हूँ।"

इस तरह से विष्णु और ब्रह्मा के नामों में ही भेद है। मूलतः वह एक हैं। शास्त्रों में उनमें कोई मतभेद नहीं दिखाया गया है। दोनों ईश्वर की शक्तियाँ हैं। एक पेड़ की दो शाखायें हैं, उनके कार्य अलग अलग हैं परन्तु उन पर से पञ्चभौतिक आवरण हटा दिया जाए तो शुद्ध रूप के दर्शन होते हैं जो दोनों की एकता स्थापित करता है। भागवत में इसी भाव को व्यक्त करने के लिए एक कथा आती है। महर्षि अत्रि ने ईश्वर साक्षात्कार के लिए तप किया। उनका तप सफल हुआ और ब्रह्मा विष्णु और महेश तीनों देवताओं ने उन्हें एक साथ दर्शन दिए। इस पर अत्रि ने आश्चर्य से कहा कि मैं तो केवल भगवान का दर्शन करना चाहता हूँ। आप तीनों ने प्रतिनिधि रूप में उत्तर दिया

"अहं ब्रह्मा च सर्वश्च जगतः कारणं परम्।

ब्रह्मा, शिव और मैं तीनों ही जगत के परम कारण हैं।"

महाकवि कालीदास ने 'कुमार सम्भव' में उसी एकता की अनुभूति की है—

"एकैव मूर्तिर्विभिदे त्रिधा सा, सामान्य मेषां प्रथमावरत्वम।"

"एक ही भगवान तीन रूपों में विभिन्न हो गये, किंतु उनमें छोटा बड़ा न समान है, वे सभी एक दूसरे से छोटे और सभी एक दूसरे से बड़े हैं।"

उपरोक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि विष्णु और ब्रह्मा एक ही शक्ति के दो रूप हैं। उनमें एक्य है, अभिन्नता है।

• • •

विष्णु और नाग-समन्वय ४३

नाग शब्द से साधारणतः सर्प ही समझे जाते हैं। परन्तु 'नाग' का अभिप्राय सर्प से ही है या यह कोई मनुष्य जाति थी, इसका निर्णय करना कठिन है। पुराणों व महाभारत आदि इतिहास ग्रंथों में जो कथायें उपलब्ध होती हैं। उनसे अनुमान लगाया जा सकता है कि नाग एक अनार्य जाति थी। नाग जाति का नाग नाम सम्भगतः इस लिए रखा गया था कि वह सर्पों की तरह क्रोधी और कुकर्मी थे। प्रजा में आतङ्क मचाना उनकी विशेषता थी। हर उचित अनुचित उपाय से वह अपनी आजीविका चलाने में विश्वास करते थे। चोरी व डाँके डालना भी उनके कार्यों में सम्मिलित था। वह पर्वतों की गुफाओं मे वावलियाँ बनाकर रहते थे और लूटमार करके उनमें छिप जाते थे। राजा इन्द्र की प्रजा को वह बहुत परेशान करने लगे। इन्द्र का राज्य सुदृढ़ था। उसने उनके दमन करने का निश्चय किया। इन पर आक्रमण किया। पर्वत की जिन गुफाओं में इनका निवास था, उन्हें तोड़ना-फोड़ना आरम्भ किया। जब नाग जाति के लोग काफी संख्या में मारे जाने लगे, उनके निवास स्थान भी सुरक्षित न रहे तो इन्द्र के समक्ष डटे रहने की क्षमता न जान कर वह वहाँ से भागे। शंवर और शुष्णु आदि नेताओं के नेतृत्व में वह पूर्व और उत्तर की ओर आगे चले गए और वहाँ जाकर अपनी वस्तियाँ स्थापित कीं। शुष्णु गढ़ (शम्भु गढ़) और शंवर गढ़ इन नाग नेताओं के नाम पर ही वसाए गए लगते हैं। असम

के नाग और खासी आदि के निवासियों के यह पूर्वज ही लगते हैं। नाग पुर तो आज भी उनके नाम की रक्षा कर रहा है।

अनार्य और निम्न जाति होते हुए भी नाग जाति ने अपना अच्छा प्रभाव जमा लिया था इतिहास पुराणों में उनके महत्वपूर्ण उल्लेख मिलते हैं। महाभारत में उन्हें सौदर्य कला विशारद और कला प्रिय कहा गया है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण में महर्षि मारकण्डेय राजा वज्र को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि शेष नाग के सर को देख सकना भी सम्भव नहीं हो रहा है क्योंकि वह अनेकों फणों और रत्नों से ढका हुआ है। असंख्य फण उनकी संगठन शक्ति का प्रतीक हैं और रत्नों से ढका होना उनके ऐश्वर्यशाली होने का द्योतक है। अजन्ता के चित्रों में भी कुछ चित्र हैं एक मूर्ति में राजकीय ढंग से नागराज विराजमान हैं। उनके पास आभूषणों से सजी राज-महिषी को भी देखा जा सकता है। यह मूर्ति भी नागजाति के अच्छे प्रभाव का प्रतिनिधित्व करती है।

नाग जाति के उत्थान का मूल्यांकन प्राचीन मूर्तियों और मंदिरों से भी लगाया जा सकता है। "आइनये अकबरी" में भी इनका उल्लेख है। अबुल फजल लिखते हैं कि उस समय सात सौ के लगभग मूर्तियों की प्रतिष्ठापना कश्मीर में हो चुकी थी। वहाँ के सभी झरनों का नामकरण नागों के नाम पर किया गया था जो आज तक स्थिर है। उदाहरण के लिए 'वीर नाग' और 'अनन्त नाग' के नाम लिए जा सकते हैं।

संगाशय जि० फर्रुखाबाद (उ.प्र) में एक प्राचीन नाग मंदिर बताया जाता है जिसका वर्णन चीनी यात्री फाहियान और हुएनत्सांग ने अपनी यात्राओं में किया है। उस समय की मान्यताओं के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि लोग नाग को कृषि के देवता के रूप में मानते थे। समय पर जल वर्षा करना उसी के अधिकार में माना जाता था। अन्य

देवताओं की तरह उनका अलग उपासना ग्रह बना हुआ था और उन्हें भोग भी लगाया जाता था। जब सर अलैक्जैंडर कनिघम वहां गये थे। तो उन्होंने देखा कि वर्षा न होने पर गांव के लोग मिलकर उनसे प्रार्थना करते हैं।

हिमाचल प्रदेशों में कामरों नागं से पूजन की प्रथा है। वहाँ इसे वर्षा का देवता माना जाता है। दक्षिण में भारत के कनाडा जिले के अन्तंगत एक नाग मूर्ति की प्रतिष्ठा मिलती है जो सम्भवत: ईशवी सन के पहले की लगती है। दक्षिण में तो नागपूजा का इतना विस्तार है कि वहाँ जगह-जगह नाग मंदिर देखे जा सकते हैं। पंजाब में 'गूगे पीर की पूजा' होती है। और वह नाग को ही अवतार माना जाता है। उड़ीसा और महाराष्ट्र में नाग दूजा को व्यापक रूप प्राप्त है। वहाँ समारोहों के रूप में नाग पूजा के आयोजन होते हैं। मालावार में नाग वन बनाए जाते हैं अर्थात् नागों की प्रसन्नता के लिए कुछ भूमि छोड़ दी जाती है। असम को नाग जाति में तो नाग पूजा विशेष रूप से प्रचलित हैं। हिंदुओं के अतिरिक्त जैनों और बौद्धौ ने भी इस प्रथा को अपनाया इन धर्मों के देवताओं पर सर्प फण छत्र की तरह बनाए जाते हैं। इससे नागों के प्रति उनकी श्रद्धा झलकती है।

महाभारत के शल्य पर्व में नागराज वासुकि के मंदिर का उल्लेख आता है। शेष नाग के अवतार बलराम को सरस्वती नदी के तट पर स्थित इस नाग धन्वातीर्थ की यात्रा करते बताया गया है।

आर्येतर जाति होते हुए भी नागों का प्रभाव तो निश्चित रूप से व्यापक होता गया था। ऐसा लगता है इस ख्याति और प्रभाव ने उनमें उद्दण्डता उत्पन्न कर दी और वह देश में अनावश्यक उत्पात करने लगे जिसे तत्काल शक्तियों ने सहन नहीं किया। उन्होंने यह अनुभव किया होगा कि यदि इन असामाजिक तत्वों को समय पर ही न कुचला गया

तो वह अधिक शक्तिशाली होकर देश में घोर अव्यवस्था फैला सकते हैं। इसलिए उनका दमन किया गया।

मथुरा में भी नागों का प्रभाव था। भागवत में कालिय की कथा से यह स्पष्ट है कि उनकी शक्ति का विस्तार चारों ओर फैला हुआ था और प्रजा उनके कार्यों से आतङ्कित प्रतीत होती थी। इसका समाधान आवश्यक था। नाग समस्या को सुलझाने का श्रेय कृष्ण को ही दिया जाता है। जब कृष्ण यमुना में कूदे तो चारों ओर नाग ने विष फैला दिया और कुछ क्षणों के लिए कृष्ण मूर्छित भी हो गए, जिससे गोप चिंतित हुए और नंदबाबा को सूचना दी। दो पक्षों में संघर्ष हो तो दोनों की हानि होती है। पहले नागों ने कृष्ण-शक्ति को दबा लिया परंतु कृष्ण संभले और स्थिति को नियंत्रण में कर लिया और कालिय के फन चूर-चूर कर दिए। उनके संगठन को नष्ट कर दिया। नागों को घुटने टेकने पड़े और अन्त में कृष्ण की विजय हुई।

राजा जनमेजय का सर्प यज्ञ भी इन्हीं परिस्थितियों की ओर सम्भवतः इंगित करता है। परीक्षित को सर्प ने मारा था। सम्भव है किसी नाग जाति के सदस्य ने मारा हो और जनमेजय ने इसका बदला लेने के लिए नाग जाति के नाश का ही संकल्प ले लिया हो।

नागों ने जब देखा कि उन्हें अपनी मनमानी करने नहीं दी जाएगी तो वह आर्यों में मिल गए। वैष्णव धर्म उदार धर्म था उसने नागों को अपने में समा लिया। श्री रामधारी सिंह दिनकर ने अपनी पुस्तक "संस्कृति के चार अध्याय" में लिखा है "पंडितों को यह शंका होती है कि गौर वर्ण के आर्यों ने नीले रंग के विष्णु की कल्पना क्यों की? यह ठीक है कि ऋग्वेद में विष्णु शब्द का उल्लेख मिलता है मगर वह 'सूर्य' के अर्थ में है। तो जो देवता सूर्य के समान उज्ज्वल और चमकीला था। वह काला कैसे बन गया? डा० सुनीति कुमार चटर्जी

का विचार है कि आर्यों के सूर्य वाचक देवता विष्णु भारत में आकर द्रविणों के एक आकाश-देव से मिल गए। जिनका रंग, द्रविणों के अनुसार आकाश के ही सदृश नीला अथवा श्याम था। तामिल भाषा में आकाश को "विनू" भी कहते हैं जिसका विष्णु शब्द से निकट का सम्बन्ध हो सकता है।"

नागों के नामकरण का एक कारण यह भी हो सकता है कि वे लोग नागों की पूजा करते थे। असभ्य और अर्धसभ्य जातियों में पशु पूजा की प्रथा अब भी अनेक स्थानों में पाई जाती है। मध्य प्रदेश की ऐसी कई जातियां सिंह की पूजा करती हैं। अन्य स्थानों में हाथी भालू घड़ियाल, मछली गरुण आदि की पूजा होने का उल्लेख मिलता है। इसका वास्तविक आशय यह है कि जिन प्रदेशों में जिन-जिन पशुओं की अधिकता और प्रवलता पाई गई वहाँ उनसे रक्षा पाने के ख्याल से उन्हीं की उपासना की जाने लगी। भारतवर्ष में सदा से सर्पों की अधिकता रही है। अब भी सैकड़ों स्थान ऐसे हैं जहाँ जहरीले साँप सैकड़ों की संख्या में पाए जाते हैं और सर्प दंशन की घटनायें प्रतिदिन होती रहती हैं। साँप काटे की कोई निश्चित औषधि न पहले थी न अभी तक जानी जा सकी है। इसलिए कुछ तांत्रिक प्रवृत्ति के लोगों ने उनकी उपासना और पूजा-पाठ का ढर्रा चलाकर लोगों को मानसिक चिकित्सा के सिद्धान्तानुसार चंगा करने का मार्ग निकाला। इससे नाग पूजा की प्रथा जारी हो गई जिसके अवशेष अब भी नाग पंचमी के दिन सर्पों को दूध पिला कर उसका दर्शन करने के रूप में मौजूद हैं।

नागों का भी वैष्णव धर्म के साथ समन्वय हुआ। कृष्ण ने गीता। (१०।२८,२६) में सर्पों में वासुकि और नागों में अनन्त को अपना ही रूप वताया है। तिलक ने गीता रहस्य लिखा है 'महाभारत के आस्तीक उपाख्यान में इन शब्दों का प्रयोग समानार्थक ही है। तथापि

जान पड़ता है कि यहां पर सर्प और नाग शब्दों से सर्प के साधारण वर्ग की भी दो भिन्न-भिन्न जातियां विवक्षित हैं।"

समुद्र मन्थन की कथा से भी यही विदित होता है कि विष्णु की आज्ञा से नाग उस कठिन कार्य में जूझ पड़े। मंद्राचल के चारों ओर लिपटा हुआ नाग को दिखाया गया है। जैसे मटकी में दही को मथनी के सहयोग से बिलोया जाता है और रस्सी को बार-बार खींचा जाता है, वही समुद्र मन्थन में भी हुआ। नाग की रिगड़ स्वभावतः पर्वत से लगती होगी और उस का शरीर छलनी-छलनी हो जाता होगा। इतना महान कष्ट सहन करते हुए भी वह अपने कार्य में संलग्न रहे। यह कथा विष्णु के प्रति उनकी आस्था की द्योतक है।

विष्णु को क्षीर सागर में शेष शैय्या पर लेटे दिखाने का अभिप्राय भी यही है। विष्णु की ऐसी भी मूर्तियां उपलब्ध होती हैं कि जिनमें सर्प की कुण्डली में विष्णु बैठे हैं और उसका फण उनके सर पर मण्डरा रहा है। ऐसा लगता है जैसे छत्र लगा हो। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जब आर्यों की अनार्यों पर राजनैतिक और सांस्कृतिक दोनों प्रकार की विजय हो गई तो अनार्य जातियों के देवता नाग का फण भी आर्यों के देवता विष्णु के समक्ष झुक गया।

• • •

विष्णु और वृन्दा ४४

विष्णु वृन्दा का आख्यान वाह्य दृष्टि से अश्लील दिखाई देता है। इसमें विष्णु पतित और कामी लगते हैं। वह पराई स्त्री का सतीत्व हरण करते हैं, जो उनके गौरव के अनुकूल नहीं है। परन्तु इसमें वास्तविकता का लेशमात्र भी नही है। यह अलङ्कारिक कथा है जो भौतिक घटनाओं की ओर संकेत करती है।

आख्यान साधारणतः इस प्रकार है—भगवान कृष्ण के अंश से उत्पन्न होने वाले सुदामा नाम के गोप ने राधा जी के शाप से दानव वंश में जन्म लिया। उसका नाम 'शंख चूड़' अथवा "जलन्धर" था। वह अद्वितीय वीर, योद्धा व पराक्रमी था। परन्तु उसके विचारों में असुरता व्याप्त थी। काम वासना की तृप्ति को वह श्रेष्ठ मनोरन्जन समझता था। पराई स्त्री को बलपूर्वक या छल से वश में करके उससे काम वासना की प्यास बुझाना उसके दैनिक क्रम में सम्मिलित था। देवाङ्गनाओं के सतीत्व को नष्ट करने का प्रयत्न करता था। अपने रूप को बदल लेना उसके बायें हाथ का खेल था। एक बार तो वह साक्षात् महादेव जी का रूप बनाकर पार्वती जी के पास भी गया था। परन्तु वह इस रहस्य को समझ गईं। उन्होंने भगवान विष्णु को सलाह दी कि जलंधर की पत्नी वृन्दा का पतिव्रत भंग करना चाहिए तभी इसकी मृत्यु सम्भव है। अपनी सती साध्वी पत्नी के कारण ही वह अभी तक अजय था। जलंधर के व्यभिचार जन्य कुकर्मों को देख कर पार्वती जी की

प्रेरणा से भगवान विष्णु जलंधर का रूप धारण करके वृन्दा के पास गए और उसका पतिव्रत भंग किया। इससे जलंधर का मारा जाना सम्भव हुआ। समस्त देवाङ्गनाओं व स्त्री-जाति की लाज बचाने के लिए भगवान विष्णु ने एक असुर पत्नी के सतीत्व को नष्ट करना ही उचित समझा।- जब वृन्दा पर इसका रहस्य खुला तो उसने विष्णु भगवान को पाषाणवत् होने का शाप दिया। यह कथा पद्म पुराण उत्तर खण्ड अध्याय २ और देवी भागवत ४।१६ वें से २५ वें अध्याय तक में वर्णित है।

यह कथानक वृष्टि-विज्ञान से सम्बन्ध रखता है। 'जलंधर' नाम का स्पष्ट तात्पर्य जल को धारण करने वाले बादल से है। उसमें सर्वतोभावेन रूप से व्याप्त 'विद्युत शक्ति' को वृन्दा कहते हैं। विद्युत मेघों पर ही आधारित रहती है। उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। बादल पर आश्रित रहने के कारण वृन्दा (विद्युत शक्ति) को जलंधर (बादल) की पत्नी कहा गया है। कहा जाता है कि देवता और देवाङ्गनायें आकाशीय लोकों में निवास करते हैं। बादल आकाश में नये-नये रूप धारण करता है और पार्वती रूपी प्रकृति व देवांगनाओं को लुभाता रहता है। सूर्य जब समुद्र के जल को अपनी आकर्षण शक्ति से खींचकर आकाश में पहुँचने की व्यवस्था करता है तो वह जल के कण मेघ का रूप धारण करते हैं। वर्षा के जल पर ही खेती का आधार है। वर्षा के अभाव में सूखा पड़ना स्वाभाविक है। अतः जन साधारण की प्राण शक्ति उसके अधिकार में रहती है। इसीलिए कहा है कि जलंधर ने अपनी शक्ति के बल पर जनता पर एकाधिकार जमा रखा था और मनमाने अत्याचार करता था।

बादल में व्याप्त विद्युत का प्रवाह जब तक बना रहता है। तब तक वर्षा की सम्भावना नहीं होती परन्तु जब प्रकृति रूपिणी पार्वती

की प्रेरणा से वायु रूपी विष्णु भगवान का संस्पर्श विद्युत शक्ति रूपी वृन्दा से होता है, उसका पतिव्रत धर्म भंग होता है और विद्युत में स्पन्दन क्रिया का संचार होता है तो जलंधर अपनी हार की घोषणा करता हुआ पृथ्वी पर जल कणों के रूप में गिरना आरम्भ कर देता है। इसी को विष्णु के संसर्ग से वृन्दा के पतिव्रत धर्म नष्ट होने पर जलंधर के वध का कारण बताया गया है।

साधारण वायु के झोंकों से वर्षा हो जाती हो ऐसी बात नहीं है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार मानसून हवायें ही वर्षा की क्षमता रखती हैं। विष्णु भगवान अपने स्वाभाविक रूप में वृन्दा के पास नहीं गए। उन्होंने उसके पति बनने के उपयुक्त रूप को धारण किया।

कथा में कहा गया है कि जब वृन्दा को पता चला कि विष्णु भगवान ने जलन्धर का रूप धारण करके उसके पतिव्रत धर्म को भंग किया है और जलन्धर (उसका पति) मारा गया है तो उसने विष्णु भगवान को शिलावत् होने का शाप दिया और स्वयं सती हो गई। वृन्दा ने अगले जन्म में तुलसी पौधे के रूप में जन्म लिया और विष्णु भगवान ने शालग्राम का रूप धारण किया। आधुनिक वैज्ञानिक खोजों ने भी सिद्ध कर दिया है कि तुलसी का पौधा अत्यन्त स्वास्थ्य हितकारी है। तुलसी पत्रों में व्याप्त तैल वायु के माध्यम से जहाँ तक भी जा पाता है, वहाँ तक की वायु शुद्ध हो जाती है और रोग कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। आयुर्वेद शास्त्रों में इसके काफी सफल प्रयोग लिखे हैं। लगभग हर रोग के निवारण के लिए इसका उपयोग किया जा सकता है। स्वास्थ्य को बनाए रखने में यह असाधारण शक्ति रखती है। परन्तु इसे दांतों से कुचल कर खाने का विधान नहीं है। इसलिए कि इस प्रकार से खाने पर दाँत शीघ्र गिर जाते हैं और नेत्र ज्योति के निर्बल होने की सम्भावना रहती है। इसलिए गण्डकी नदी के पाषाण (शालिग्राम) में व्याप्त स्वर्ण

कणों के साथ तुलसी का मिश्रण करके (जिसे धार्मिक भाषा में चरणामृत कहते हैं) सेवन करने का आदेश शास्त्रकारों ने दिया है जिससे तुलसी के गुण अनेकों गुणा बढ़ जाते हैं।

वृन्दा (तुलसी) का विष्णु (शालिग्राम) के साथ संसर्ग जनहित की दृष्टि से ही किया गया है। यही उपरोक्त रूपक का अभिप्राय है।

अत: विष्णु वृन्दा का आख्यान आलोचना का सूचक नही है। वरन् वह अलंकारिक रूप से वृष्टि विज्ञान व वनस्पति विज्ञान पर प्रकाश डालता है। और "अकाल मृत्यु हरणं सर्व व्याधि विनाशनम्" की उक्ति के अनुसार चरणामृत के सेवन से अपने स्वास्थ्य को सुदृढ़ करने की प्रेरणा देता है।

• • •

ध्रुव-विष्णु के प्रमुख पार्षद हैं। ध्रुव ने विष्णु को इष्ट देव मान कर घोर तपस्या की विष्णु ने प्रसन्न होकर उसे दर्शन दिए और उच्चतम पद प्रदान किया। वास्तव में ध्रुव नाम का कोई बालक प्राचीन काल में हुआ हो या न हुआ हो। इस व्यर्थ के विवाद में न पड़कर, केवल कथा में मानव जीवन की उपयोगिता पर ही विचार करना है। गम्भीरतापूर्वक देखा जाए तो जीवन में जो उतार-चढ़ाव ऊँच-नीच, चिंताएँ, परेशानियाँ, बाधायें आती हैं और साहसी व्यक्ति उनका डटकर कैसे मुकाविला करते हैं, यह उस धर्म उत्साह और साहस की प्रतीक गाथा है। ध्रुव मानव आदर्शों के प्रतीक ही बन गए।

कथा के तीन पक्ष हैं। एक राजा की दो पत्नियाँ हैं। सुरुचि और सुनीति। सुरुचि का अभिप्राय है भोगों में रुचि और सुनीति का अर्थ है सदाचरण की विचारधारा। मानव के सामने दो ही मार्ग होते हैं। इन दोनों में से कोई भी अपने लिए चुन लें। अज्ञानी व्यक्ति इस भोगों वाले मार्ग को ही पसन्द करते हैं क्योंकि स्थूल दृष्टि से देखने पर भोगों में ही सुख प्रतीत होता है। परन्तु बुद्धिमान व्यक्ति मानवता के विकास पर अधिक बल देते हैं! इस लिए इन दोनों के मार्ग भिन्न-भिन्न दिशाओं में चलते हैं। पुराणों का देवासुर संग्राम यही है, जो बाह्य क्षेत्रों में ही नहीं हमारे अन्तः प्रदेश में भी चलता रहता है। ध्रुव के पिता उत्तान-पाद ने भी भोग का मार्ग अपनाया और दिव्यता की उपेक्षा की। वह अपनी सुरुचि नाम की पत्नी की ओर अधिक आकर्षित थे और सुनीति

की अवहेलना करते थे। सुनीति के पुत्र ध्रुव को पिता की गोद में बैठकर अपने पिता के लाड़दुलार प्रेम और स्नेह से भी वंचित होना पड़ा। एक बार जब ध्रुव ने पिता की गोद में सुरुचि के पुत्र उत्तम की तरह जाने का प्रयत्न किया तो सुरुचि ने उसे डाँट कर कहा कि उत्तानपाद की गोद मे खेलने के लिए तुम्हें मेरी कोख से जन्म लेना चाहिए था। जिसने यह सौभाग्य प्राप्त नहीं किया है उसे राजा के प्यार का भागी बनने का अधिकार नहीं है। बालक ध्रुव के कोमल हृदय को ठेस लगी। उसके मूलभूत अधिकारों को छीना गया। परन्तु वह चुप होकर नहीं बैठा, निराश नहीं हुआ। निराश में भी उसे आशा की ज्योति दिखाई दी। वह जानता था कि बाधाओं को जो चूर-चूर करना जानता हो वही ईश्वर का राजकुमार मानव है। जो इन राक्षसी बाधाओं के सामने घुटने टेक देते हैं, उनके अधिकार छीन लिए जाते हैं।

ध्रुव अपनी माँ के पास गए और सारा वृतान्त कह सुनाया। माँ ने कहा यह तो अपने कर्मों के भोग हैं। सुरुचि और उत्तम ने पिछले जन्मों में अच्छे कर्म किए हैं। इस लिए वह राजा के प्रियपात्र हैं। मैं पुण्यहीना हूँ। इस लिए मेरे पुत्र को वह उच्च स्थान नहीं मिला। सुनीति ने ध्रुव को कहा कि तुम भी अच्छे कर्म करो ताकि वैसा ही पद प्राप्त हो सके। तुम अपने सत्कर्मों से अपनी भाग्य रेखा को बदल डालो, यह तुम्हारे हाथ में है। ध्रुव ने माता के उपदेश को अपना आदेश माना और जीवन भर उसकी साधना की। उसने अपने भाग्य को स्वयं लिखा। माँ की इस शिक्षा को उसने सदैव याद रखा "तुम सुशील, पुण्यात्मा, प्रेमी और समस्त प्राणियों के हितैषी बनो क्योंकि जैसे नीची भूमि की ओर ढलकता हुआ जल अपने आप ही मार्ग में आ जाता है। वैसे ही सत्पात्र मनुष्य के पास स्वतः ही समस्त सम्पत्तियाँ आ जाती हैं।"

ध्रुव ने ऋषियों के पथ प्रदर्शन में तप किया और वह सफल मनोरथ हुए। तप ही शक्ति, सिद्धि और सफलता का आधार है।

प्रचीन-काल में जिसने भी शक्तियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त की थीं महानतम कार्यों का सम्पादन किया, उन्होंने तप का ही आश्रय लिया। संसार के पाप-ताप हरने के लिऐ स्वर्गलोक से उतर कर गङ्गाजी पृथ्वी पर आईं। शिवजी ने उन्हें अपनी जटाओं में धारण किया, यह प्रत्यक्ष प्रक्रिया लोक विदित है। पर इस गङ्गावतरण के पीछे भागीरथ की तपस्या ही प्रधान है। यदि भागीरथजी तप करने खड़े न होते तो गङ्गावतरण का होना तथा उसके द्वारा भूतल के समस्त प्राणियों को सुख पहुंचना सम्भव न हुआ होता। दुर्गा के अवतार और असुरों के संहार की कथा में श्रेय देवताओं की थोड़ी थोड़ी तपस्या के एक स्थान पर एकीकरण को ही है। भगवान राम के द्वारा असुरों का शमन हुआ, यह ठीक है पर राम जन्म के पीछे स्वयंभू मनु और शतरूपा रानी का तप और दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ ही प्रधान है। सीता के जन्म के सम्बन्ध में कथा है कि ऋषियों ने अपना थोड़ा-थोड़ा रक्त एक घड़े में जमा करके भूमि में गाढ़ा और वह रक्त ही कालान्तर में परिपक्व होकर सीता के रूप में जनक को हल जोतते समय प्राप्त हुआ। ऋषियों का रक्त ही सीता बनकर असुरों के विध्वंस का कारण बना।

इन्द्र ने वज्र जैसा अचूक अस्त्र बनाया और उस वज्र से असुरों का संहार आसानी से कर लिया। पर वह वज्र था क्या ? तपस्वी दधीचि की हड्डियाँ ही रूपान्तर से वज्र बनी थीं। सिद्धि बुद्धि दाता गणेश मनुष्यों को सद् ज्ञान और शुभ लाभ का वरदान देते हैं। पर वह गणेश हैं क्या ? तपस्विनी पार्वती और योगेश्वर शंकरजी की तप साधनाओं का एकीकरण पिण्ड ही गणेश हैं। व्यासजी का तप उनके पुत्र शुकदेव के के रुप में प्रकट हुआ था। अंजनी पुत्र हनुमान की महाशक्ति उनकी माता ने देवाह्वान से ही अपने उदर में स्थापित की थी। पार्वती ने शिव को पति रूपमें पाने के लिए तप किया था। ध्रुव ने तप के द्वारा राज्य की प्राप्ति की। समुद्र मन्थन में तप द्वाराही देवताओं और असुरों ने मिलकर

समुद्र से १४ रत्न निकाले। विश्वामित्र ने तप द्वारा ही नई सृष्टि की रचना की थी। तपोबल से ही उन्होंने त्रिशंकु को सीधे स्वर्ग को भेजा था और तप के द्वारा ही वह क्षत्रिय से ब्राह्मण बने। तप के बल पर ही महर्षि वशिष्ठ ने राजा विश्वामित्र की विशाल सेना को पराजित कर दिया था। तप द्वारा ही सावित्री ने यमराज से टक्कर लेकर अपने पति को जीवित करवा लिया था। सार यह है कि जिसने भी असाधारण कार्य किए हैं, उसे तप का ही आश्रय लेना पड़ा है।

हमें निरन्तर तप में रत रहने के लिए शास्त्रकारों ने प्रेरित किया है। किसी भी क्षेत्र में सफलता के लिए सफलता की कुञ्जी तप ही है। तैत्तिरीयोपनिषद के ऋषि ने एक महान रहस्य का उद्घाटन किया है—"परमेश्वर ने प्रकट होने की इच्छा की उसने तप किया और तप से तेजस्वी होकर इस दृश्य जगत की रचना की और उसी मे प्रविष्ट होगया, इसका अभिप्राय यह है कि सृष्टि की रचना करने के लिए ईश्वर को तप भी करना पड़ा। इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं था। अतः वह प्रेरित करते हैं कि अपने जीवन के निर्माण के लिए तप करो। मुण्डकोपनिषद में तप के लाभों का वर्णन किया गया है। 'संकल्प रूप तप के द्वारा ब्रह्म प्रवृद्ध होता है। वही अन्न को उत्पन्न करता है, उसी से अमृतत्व की प्राप्ति होती है (१।८)।" "परमेश्वर को वही साधक देख पाते हैं जो सब दोषों से मुक्त हो चुके हों क्यों कि वह देह के भीतर प्रकाश रूप से विराजमान हैं और सत्य भाषण, तपस्या, ब्रह्मचर्य आदि श्रेष्ठ कर्मों से प्राप्त होता है (३।१।५)।" भागवतकार ने लिखा है—"देवताओं के सौ वर्ष तक ब्रह्मा ने तप किया। उसी के फल स्वरूप वह स्थावर जंगम सृष्टि की उत्पत्ति करने में समर्थ हुए।" एक और स्थान पर निर्देश है कि तप से ही साधक ईश्वर को प्राप्त करता है।" प्रश्नोपनिषद के ऋषि ने घोषणा की है—"तपस्वी ब्रह्मचारी और सत्यनिष्ठ व्यक्ति ही उत्तरायण गति को प्राप्त करके ब्रह्मलोक को जाते हैं।"

मनुस्मृति में तप पर काफी प्रकाश डाला गया है। [illegible] कहते हैं "समस्त लोकों में जो कुछ भी श्रेष्ठ दृष्टि-गोचर हो रहा है, उसके मूल, मध्य और अन्त में तपस्या विद्यमान है। त्रिकालदर्शी ऋषियों ने यह शक्ति तप के बल पर ही प्राप्त की है। दुस्तर दुष्प्राप्य, दुर्गम और दुष्कर सभी कार्यों का प्रतिकार तप ही है। स्वर्ग का साधन तप ही है। शरीर, मन और वाणी के पापों को तप द्वारा ही नष्ट किया जाता है। ब्रह्मा ने तप द्वारा ही शास्त्रों की रचना की थी। तप के फलस्वरूप ही पवित्र हृदय वाले ऋषियों के अन्तःकरण में वेद ज्ञान का अवतरण हुआ।"

महाभारत में तप की महिमा का वर्णन इस प्रकार से है— "आदित्य, वसु, रुद्र, अग्नि, अश्विनीकुमार वायु, विश्वेदेवा, साध्य, पितृ मरुदगण, यज्ञ, राक्षस, गन्धर्व, सिद्ध और दूसरे देवताओं ने तप द्वारा ही सिद्धियाँ प्राप्त की हैं। पृथ्वी लोक में राजा व अन्य गृहस्थ जिन्होंने बड़े कुलों में जन्म लिया है। वह उनके तप का ही फल है।"

भारतीय ऋषियों ने तप में कल्पवृक्ष की कल्पना की थी। पौराणिक कथाओं के अनुसार जिस तरह से कल्पवृक्ष के सामने अपनी कोई भी इच्छा रखने से वह पूरी ही हो जाती है, उसी तरह से तप भी हमारी प्रत्येक इच्छा की पूर्ति करने की सामर्थ्य रखता है। शारीरिक सुदृढ़ता के लिए व्यायाम आवश्यक है। विद्वता के लिए स्वाध्याय की अग्नि जलानी होगी। मनन, चिंतन और साधना से आत्मिक विकास सम्भव है। उन्नति के उच्च शिखर पर चढ़ने के लिए निरन्तर प्रयत्न, पुरुषार्थ और परिश्रम करना होगा। ज्ञान, धन, कीर्ति, नेतृत्व मनोबल, स्वर्ग, मुक्ति, सुख शांति सभी कुछ तप की अग्नि में तपने से मिलता है। तप का अर्थ है—कष्ट सहन करना परिश्रम एवं प्रयत्न करना। हर क्षेत्र में यही सफलता की कुन्जी है। सिद्धियाँ इसके दरबार में सर झुकाती हैं और तप की ही छत्रछाया में निवास करती हैं। तप तो शक्ति और

सिद्धि का जनक और पिता है। संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं। उन्होंने इसी तप की उपासना करके महानतम कार्यों का सम्पादन किया। वह महान तब ही बन पाए जब उन्होंने स्वयं तप का साक्षात रूप ग्रहण कर लिया और वह तपो-मूर्ति बन गए। जो इसकी उपासना से वंचित रहते हैं, वह निरन्तर अपने भाग्य का ही रोना रोते हैं और उसके लिए ईश्वर को कोसते रहते हैं। जो तपस्वी है, वह अपने भाग्य को स्वयं लिखता है। भाग्य निर्माण का अधिकार अपने हाथ में लेता है और स्वर्ण अक्षरों से अङ्कित करके जीवन की गतिविधियों को निर्देश देता है कि तुम इस तरह से चलो। दैव पर आश्रित व्यक्ति प्रार्थना करके, भगवान को फुसला कर अनधिकार चेष्टा करके छप्पर फाड़ करके धन वर्षा की व्यर्थ आशा करता है। तपस्वी अपनी भुजाओं के बल से अपने भाग्य का ढाँचा स्वयं निर्मित करता है। ईश्वर को सृष्टि की रचना करते समय जब तप करना पड़ा तो हमें अपने निर्माण के लिए भी तप ही करना होगा। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है।

खड़ा जल सड़ जाता है। परन्तु उछलता और कूदता हुआ नदी का जल विद्युत शक्ति का साधन बनता है। कारण स्पष्ट है खड़ा जल निष्क्रिय रहता है। उसकी शक्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं। बहता जल सक्रिय रहता है। उसकी शक्तियाँ विकसित होती रहती हैं। तप पुरुषार्थ और क्रिया शीलता से विद्युत की उत्पत्ति होती है। उस विद्युत का प्रयोग जिधर भी किया जाय उधर ही सफलता उसका स्वागत करती है।

जहाँ तप है, वहीं शक्ति, मुक्ति, स्वर्ग, सुख, शांति, आनन्द, धन, ज्ञान, कीर्ति और संसार का सब कुछ है। जो जीने योग्य जीवन जीना चाहता है, उसे तप को अपना जीवन साथी बना लेना चाहिए। जो इस विवेक पूर्ण निर्णय की उपेक्षा करता है, वह आज नहीं तो कल दीन, हीन दुःखी और विपत्तिग्रस्त बनकर रहेगा। ध्रुव ने इसी पथ को अपनाया और सफल हुआ।

जीवन संघर्ष में तप पुरुषार्थ तो सभी को करना पड़ता है। कुछ तो उत्साह से करते हैं और उसके भावी फल की आशा करते हैं। परन्तु कुछ वाध्य होकर करते हैं। शिथिल मन और अधूरे उत्साह से किसी तरह जीवन व्यतीत करने का प्रयत्न करते हैं। जब तप से आशाजनक सफलता प्राप्त नहीं होती तो तप पर ही अविश्वास हो जाता है और दुर्भाग्य का रोना रोकर तप को ही छोड़ देते हैं। वह अपनी असफलता के आधार मूलभूत दोषों का निरीक्षण नहीं करते। तप में प्रमुख वस्तु व्रत-धारण और संकल्प करने की है। ध्रुव भी एक संकल्प लेकर चले थे। संकल्प के साथ उन्होंने तप किया और सफल हुए। हमें भी सद्-परिणाम देखने के लिए ध्रुव का मार्ग अपनाना होगा। हमें व्रतधारी बनना होगा।

व्रतधारी का अर्थ है—व्रत धारण करने वाला प्रतिज्ञाबद्ध जीवनयापन करने वाला, कुछ आदर्शों के लिए पूरी शक्ति के साथ तत्पर रहने वाला, व्रतशीलता एवं प्रतिज्ञा लेने से अन्तःचेतना में शक्ति आती है। इस लिए हिंदू संस्कृति के अनुयायी अपने वालकों को थोड़ा-सा समझदार होते ही व्रतबन्ध(यज्ञोपवीत) संस्कार कराते हैं। जिस के सामने कोई लक्ष्य व्रत आदर्श कर्तव्य नहीं ऐसा व्यक्ति जीवन में कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकता। मनुष्य की सारी अन्तःशक्ति व्रत शीलता में ही सन्निहित है। यदि वह किसी लक्ष्य की पूर्ति की प्रतिज्ञा करले तो उसकी पूर्णता बहुत अंशों में निश्चित हो जाती है।

व्रत एक विशेष उद्देश्य से किया गया संकल्प ही है। संकल्प में महान शक्ति है। संकल्प अपनी सुप्त शक्तियों को जाग्रत करने का विधान है। किसी कठिन कार्य को पूरा करने में लिए जैसे मनुष्य अपनी सारी शक्ति लगा देता है, उसी तरह अपने संकल्प को पूरा करने के लिए वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति को एकत्रित करके उसका प्रयोग करता है। जिस तरह सूर्य की विखरी हुई किरणों से कपड़े पर कोई विशेष

प्रभाव नहीं पड़ता परन्तु जब उन्हें आतिश शीशे द्वारा एकत्रित कर लिया जाता है तो वह कपड़े को जला देती है। इसी प्रकार से मनुष्य जब अपने मन को सब ओर से हटाकर एक ही कार्य की पूर्ति में लग जाता है तो वह सफल मनोरथ होता है। संकल्प करना मानो अपनी शक्तियों को एकाग्र कर लेना है।

जीवन के हर क्षेत्र में प्रगति पथ पर अग्रसर होने के लिए व्रत-शीलता आवश्यक है! महात्मा गाँधी का कहना है "प्रतिज्ञाहीन जीवन बिना नींव का घर है। प्रतिज्ञा के बल पर ही यह संसार टिका हुआ है। प्रतिज्ञा न लेने का अर्थ है अनिश्चित या डाँवाँडोल रहना। संकल्प करने का साहस न करना कमजोरी की निशानी है। ऐसे व्यक्तियों से कोई भी कार्य सरलतापूर्वक सम्पन्न होना सम्भव नहीं है।" श्री जेम्स एलन के अनुसार 'वास्तव में मनुष्य की सबसे बड़ी दुर्बलता उसमें दृढ़ निश्चय की कमी है।" इस कमजोरी को दूर करने के लिए ही हिंदू धर्म में व्रतों के विधान की योजना बनाई गई है ताकि ऐसा दृढ़ निश्चय करने का अभ्यास हो जाए। प्रत्यक्ष में व्रतों को आहार सम्बन्धी नियमों के साथ सलग्न किया गया है परन्तु जब आहार सम्बन्धी नियमों को दृढ़तापूर्वक पालन करने का स्वभाव बन जाता है तो वह व्यक्ति किसी भी जीवन के क्षेत्र में चला जाए, उसका सदैव दृढ़ निश्चय ही अग्रणी रहता है। अतः भौतिक व आत्मिक जीवन के विकास के लिए व्रत का स्वभाव होना अत्यन्त आवश्यक है।

ध्रुव ने ऋषियों के आदेश पर ध्यान साधना की। धारणा की परिपक्व अवस्था को ही ध्यान कहते हैं। जहाँ धारणा परिपक्व की जाती है, तैल धारा की तरह उसी स्थान पर एक गति से प्रवाह का चलना ही ध्यान कहलाता है। ध्यान का उद्देश्य मन को आज्ञा-चक्र, ब्रह्मरन्ध्र, हृदय में जमाना होता है, ताकि उसकी उछल-कूद धीरे-धीरे

संयमित होती जाय और विषय वासनाओं पर मँडराने की उसकी स्वा-भाविक वृत्ति पर नियन्त्रण रहे।

संसार के सभी महत्वपूर्ण कार्यों की सफलता के लिए मनोयोग अथवा ध्यान की एकाग्रता की आवश्यकता होती है। इसमें भी आध्या-त्मिक ज्ञान तो बिना ध्यान के निश्चल हुए हो ही नहीं सकता। ध्यान पूर्वक विचार करने से ही हम किसी वस्तु के मूल स्वरूप और उसकी वास्तविकता को जान सकते हैं। यदि हमारा ध्यान इधर-उधर वँटा रहता है तो हम किसी विषय का गहराई में वैठकर यथातथ्य ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। जिस तरह से आतशी शीशे से सूर्य की बिखरी किरणों को एकत्रित करके किसी कपड़े या कागज पर फेंका जाता है तो वह जलने लगता है। पर विना एकत्रित हुए साधारणत: वह उसे जलाने की सामर्थ्य नहीं रखती थीं। इसी तरह किसी समस्या पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने पर एकाग्रता पूर्वक मनन करने पर उलझी हुई। गुत्थियों का भी सरल समाधान प्राप्त हो जाता है। कारण स्पष्ट है कि मन की बिखरी हुई शक्तियाँ एकत्रित हो जाती हैं। एकता शक्ति का दूसरा नाम है। मन की अपार सामथ्य को एक निश्चित मार्ग में लगा देने से शक्ति के द्वार खुल जाते हैं। इसी को सिद्धि कहा जाता है। इसी लिए ध्यान योग का साधक सिद्धि के मार्ग की ओर पग बढ़ाता है। उसे हर क्षेत्र में सिद्धि ही सिद्धि दिखाई देती है। असफलता या असम्भव का एक कण भी उसे सारी सृष्टि में दृष्टिगोचर नहीं होता। वह सफलता के झन्डे गाढ़ता हुआ निरन्तर आगे वढ़ता ही रहता है।

पाश्चात्य विचारक श्री आर्टी मे ब्लैकवर्न ने लिखा है कि "मन की वृत्तियों के विश्रृङ्खल होने से ही सब प्रकार की हानि होती है। मन की वृत्तियों को एक स्थान पर एकत्रित करने से समस्त प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं। इस विधि व्यवस्था से व्यक्ति युद्धों में विजय प्राप्त करता

है, शक्ति का विकास करता है, आर्थिक रूप में प्रगति करता है और अपनी भौतिक इच्छाओं को मूर्त रूप देने में सफल होता है। जो लोग अपनी आत्मा के विकास के इच्छुक हैं, वह इस उपाय से सुविधापूर्वक ईश्वर से एकता स्थापित करते हैं।"

जब बाह्य वृत्तियां एकाग्र करके ध्यान द्वारा स्थिर करली जाती है तो साधक आत्म दर्शन और ब्रह्मतत्व की अनुभूति की ओर बढ़ता है। शास्त्र में इसकी पुष्टि करते हुए लिखा गया है कि "ध्यान योगे न सम्पश्येदगति भस्मान्तरात्मनः" अर्थात् ध्यान योग के द्वाराही अन्तरात्मा का स्पष्ट रूप से साक्षात्कार होता है। इसके कारण पर प्रकाश डालते हुए भगवान मनु ने (६।७२) में लिखा है। कि "ध्यान से मोहादि गुण जल जाते हैं। "ध्यान विन्दूपनिषत् (१) के ऋषि ने भी सशक्त शब्दों में कहा है। "यदि पर्वत के समान अनेक योजन विस्तार वाले पाप भी हों तो भी वे नष्ट हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त और किसी तरह उनका नाश नहीं होता।" पापों को जलाकर भस्म करने का उत्तम साधन ध्यान है। पापों से ही मनुष्य दुर्बल होता जाता है। ध्यान द्वारा जितने-जितने पाप दग्ध होते जाते हैं, उतना ही साधक शक्तिशाली होता जाता है। ध्यान योग का सफल साधक स्पष्ट रूप से यह अनुभव करता है कि शक्ति के द्वार उसके लिए खोल दिए गए हैं। वह अपनी अन्तर्निहित शक्तियों को जाग्रत करने की स्थित्ति में हो जाता है, आत्मिक शक्तियों के जागरण से वह महान से महानतम बनने की ओर अग्रसर होता है। शक्ति के मूल स्रोत के द्वार खुल जाने पर उसके लिए ईश्वरीय साम्राज्य में प्रवेश पाने की आज्ञा मिल जाती है। इस स्थूल शरीर के रहते भी वह जीवनमुक्त हो जाता है। वह आनन्द के समुद्र में ही समाधिस्थ रहता है। अशान्ति और दुःख की हलकी किरणों का भी उसके अन्तःकरण में प्रवेश नही हो पाता। ऐसा साधक धन्य हो जाता है।

ध्यान योग के अनुभवी साधकों का कहना है कि ध्यान के निरन्तर अभ्यास से योगी में एक अद्‌भुत तेज की उत्पत्ति होती है। वह तेज इतना तीव्र और शक्तिशाली होता है कि काम देव रूपी कैसी भी शक्तिशाली पाप वृत्तियाँ उसकी साधना में बाधा डालने के लिए आ जायें वह क्षण भर में अपने त्रिनेत्र रूपी तेज से अपने शत्रु को जला कर राख कर देता है। इस प्रचन्ड तेज के सामने पापों का अस्तित्व वैसे ही असम्भव है। जैसे प्रकाश के सामने अन्धकार का। पश्चिमी वैज्ञानिकों ने भी इसका परीक्षण किया है और वैज्ञानिक ढंग से इसकी व्याख्या की है। श्री विक्टर० ई० क्रोमर ने अपने अनुभव से लिखा है कि "ध्यान करने पर ओज शक्ति उत्पन्न होती है। जब साधक किसी वस्तु पर ध्यान एकाग्र करता है तो ऐसा लगता है कि और शक्ति उसकी ओर दौड़ी आ रही है। यदि ईश्वर पर ध्यान जमाया जाय तो मस्तिष्क के मार्ग से यह शक्ति अवतरित होती है। इससे एक प्रकार क चुम्बकीय शक्ति की एकतानता का धारावत अनुभव होता है। सूक्ष्मदृष्टा योगी अपनी सूक्ष्म दृष्टि से इन रंगों को भी देख सकते हैं। ऊपर से शक्ति के अवतरण के सौन्दर्य का वर्णन असम्भव है।"

ध्रुव जब एकाग्र चित्त से तप साधना में लीन हो गया तो लिखा है "योगी ध्रुव के चित्त में भगवान विष्णु के स्थित हो जाने पर सर्व-भूतों को धारण करने वाली पृथ्वी उसका भार न सम्भाल सकी। उसके बाँये चरण पर खड़े होने से पृथ्वी का बायाँ आधा भाग झुक गया और फिर दायें चरण खड़े होने से दाँया भाग झुक गया और जिस समय वह पैर के अंगूठे से पृथ्वी को दबाकर खड़ा हुआ तो पर्वतों के सहित समस्त भूमन्डल विचलित हो गया। उस समय नदी, नद और समुद्र आदि सभी अत्यन्त क्षुब्ध हो गए और उनके क्षोभ से देवताओं में भी बड़ी हलचल मची "(विष्णु पुराण १।१२।८-११)। तब माया से रची हुई सुनीति उपस्थिति हुई और कहने लगी कि तेरे इस सुकुमार से शरीर को यह

घोर तप शोभा नहीं देता, तुम्हारे तो यह खेलने कूदने के दिन हैं। इस तप को छोड़ दो और मुझे आश्रय दो। उसने डराया धमकाया भी और कहा कि देखो राक्षस अस्त्र-शस्त्र लेकर आ रहे हैं। जिनके मुख से अग्नि की लपटें निकल रही थीं। ऐसे राक्षस भी उपस्थित हो गए और बहुत कोलाहल मचाया और मारो, काटो, खाओ, की धमकियाँ देने लगे परन्तु ध्रुव पर कोई प्रभाव न हुआ और वह अपनी साधना में लगे रहे। जीवन साधना में भी राक्षसी बाधायें चारों ओर से घेरे रहती हैं। शिथिल साधक तो उनके प्रवाह में बह जाता है परन्तु बाधाओं पर वही विजय प्राप्त करता है, जो दृढ़ता को अपनाता है। अपने व्रत में दृढ़ रहना आवश्यक है। तभी इष्ट देव के दर्शन होते हैं—इच्छित उद्देश्य की पूर्ति होती है।

ध्रुव की तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान विष्णु ने उन्हें साक्षात् दर्शन दिए। जो घोर तप करने के लिए कष्ट सहन करने के लिए पुरुषार्थ के लिए तैयार रहता है, जिसका जीवन प्रतिज्ञा व संकल्प बद्ध रहता है, एकाग्र चित्त से अपनी समस्त शक्तियों को अपने एक उद्देश्य की पूर्ति में लगा देता है। भोग वासनाओं में लिप्त होकर अपनी शक्ति का ह्रास नहीं करता, श्रेष्ठ कर्मों का आचरण करता है, वही विष्णु के दर्शन प्राप्त करने को उच्चतम पद प्राप्त करने का अधिकारी है।

विष्णु पुराण और भागवत में ध्रुव की कथा से ध्रुव का एक तारा होने का भी अभिप्राय निकलता है। विष्णु पुराण (१।१२।९९-९३) में भगवान ध्रुव को सम्बोधित करते हुए कहते हैं। "मेरी कृपा से तू निःसन्देह उस स्थान में जो त्रिलोकी में सबसे उत्कृष्ट हैं, सम्पूर्ण ग्रह और तारा मन्डल का आश्रय बनेगा। मैं तुझे वह ध्रुव (निश्चित) स्थान देता हूँ जो सूर्य, चन्द्र, मङ्गल, बुध बृहस्पति शुक्र और शनि आदि ग्रहों नक्षत्रों समस्त सप्तर्षियों और सम्पूर्ण विमानचारी देव गणों से

ऊपर है। देवताओं में से कोई तो केवल चार युग तक और कोई एक मन्वन्तर तक ही रहते हैं। किन्तु तुझे मैं एक कल्प तक की स्थिति देता हूँ।"

विष्णु पुराण २।६।१-३ में भी इसी आशय का वर्णन है। "आकाश में भगवान विष्णु का जो शिशुमार के समान आकार वाला तारामय स्वरूप देखा जाता है, उसके पुच्छभाग में ध्रुव अवस्थित हैं। यह ध्रुव स्वयं घूमता हुआ चन्द्रमा और सूर्य आदि ग्रहों को घुमाता है उस भ्रमणशील ध्रुव के साथ नक्षत्रगण भी चक्र के समान घूमते रहते हैं। सूर्य, चन्द्रमा, तारे, नक्षत्र और अन्यान्य समस्त ग्रहगण वायुमण्डल मयी डोरी से ध्रुव से बंधे हुए हैं।"

भागवत ४।१०।१-२ में वर्णन है "ध्रुव ने प्रजापति शिशुमार की पुत्री भूमि के साथ विवाह किया। उससे उनके कल्प और वत्सर नाम के दो पुत्र हुए। महाव्रती ध्रुव की दूसरी स्त्री वायु पुत्री इला थी उस दिव्य विमान पर बैठकर ध्रुव जी सप्तऋषि मण्डल से भी ऊपर भगवान विष्णु के नित्यधाम में पहुँचे। इस प्रकार उन्होंने अविचल गति प्राप्त की। यह दिव्य धाम अपने ही प्रकाश से प्रकाशित है। इसी के प्रकाश से तीनों लोक प्रकाशित हैं।" ३५।३६। "इस प्रकार उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव तीनों लोकों के ऊपर उसकी निर्मल चूड़ामणि के समान विराजमान हुए। जिस प्रकार दाँय चलाने के समय खंभे के चारों ओर बैल घूमते हैं, उसी प्रकार यह गम्भीर वेग वाला ज्योतिश्चक्र उस अविनाशी लोक के आश्रय ही निरन्तर घूमता रहता है।" ३८।३६ यह सारा ध्रुव नाम के तारे का ही वर्णन है।

एक विद्वान ने इस तथ्य का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है "चतुर्भुज विष्णु ध्रुव दिशा के रक्षक हैं तथा क्षीर सागर में शयन करते हैं। सागर का अर्थ प्राचीन काल में आकाश भी था। क्षीर का अर्थ

दूध भी है। रजत पथ 'मिल्की वे' अथवा आकाश गंगा रूपी दूध के समान श्वेत वर्ण पथ खगोल के उत्तर ध्रुव के समीप से आरम्भ करके सम्पूर्ण खगोल के चतुर्दिक मंडलाकार बना हुआ है। यही विष्णु का क्षीर सागर है।"

यजुर्वेद १।६ में ध्रुव को यज्ञ और विष्णु को यज्ञ का रक्षक कहा गया है। "हे ध्रुव ! तुम सदा घृत द्वारा सिंचित हो इस समय देवताओं के प्रिय इस घृत से पूर्ण होकर तुम प्रस्तर रूप इस आसन पर प्रतिष्ठित होओ। हे हव्य ! तुम घृत के सहित प्रीति युक्त होते हुए इस पर स्थिति होओ। हे विष्णु ! फल की अवश्य प्राप्ति के निमित्त सत्य रूप यज्ञ के स्थान में जो हव्य स्थित हैं, उनकी रक्षा करो। हव्य की ही नहीं समस्त यज्ञ की और यज्ञ कर्ता यज्ञ मान की भी रक्षा करो। हे प्रभु ! हे परब्रह्म ! मुझ यज्ञ प्रवर्त्तक अध्वर्यु की भी रक्षा करो।"

यज्ञ-तप, त्याग, बलिदान, निःस्वार्थता और परमार्थ का प्रतीक है। जिसे भोगों में रुचि होती है वह यज्ञ की ओर प्रवृत्त नहीं होता है। भोगों का प्रभाव उसे यज्ञ से दूर रखता है। वह यज्ञ की अवहेलना करता है। भोगों से शक्ति का ह्रास होता है, निःस्वार्थता से उसका विकास होता है। भोगी व्यक्ति को पराजय और निःस्वार्थी की अन्त में विजय होती है। यज्ञ अर्थात श्रेष्ठ कार्यों के रक्षक स्वयं विष्णु भगवान हैं। उनकी प्रेरणा से अनेकों सहायक उत्पन्न हो जाते हैं। जब उत्तान पाद ने ध्रुव (यज्ञ) की उपेक्षा की तो सप्त ऋषियों ने उसे साधन मार्ग का निर्देशन दिया और उसकी साधना सफल हुई। उनकी कृपा से यज्ञ की रक्षा हुई। ध्रुव अनश्वर और अचल यज्ञ के प्रतीक हैं।

इस तरह से आँधी तूफान और झंझावातों से ओत प्रोत जीवन में ध्रुव धर्म दृढ़ता कष्ट सहिष्णुता तप, त्याग पुरुषार्थ एकाग्रता, श्रेष्ठता आशा, विश्वास और परमार्थ का प्रतीक है।

• • •

विष्णु और प्रह्लाद

विष्णु के साथ प्रह्लाद के व्यक्तित्व का घनिष्ट सम्बन्ध है क्यों कि वह उनके परम भक्तों में से हुए हैं। उनकी भक्ति निःस्वार्थ और निष्काम थी वह विष्णु से केवल उनकी अविचल भक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहते थे। भगवान ने उनकी कड़ी से कड़ी परीक्षा ली हिरण्य कशपि के माध्यम से अनेकों प्रकार की भीषण बाधाएँ डालीं गईं उसे विष्णु भक्ति से दूर रहने के लाखों प्रयत्न किए गये, समझाया बुझाया गया दन्ड दिए गए, भयभीत किया गया, परन्तु वह हिमालय की की तरह अपने लक्ष्य पर डटे रहे। भगवान उनकी भक्ति पर प्रसन्न हुए और बार-बार वर माँगने का आग्रह किया तो प्रह्लाद ने उत्तर दिया कि आप वर देना ही चाहते हैं तो यह दें कि "सहस्रों योनियों में से मैं जिस जिसमें भी जाऊँ, उसी उसी में आप में मेरी सर्वदा अक्षुण्ण भक्ति बनी रहे। अविवेकी पुरुषों को विषयों में जैसी अविचल प्रीति होती है, वैसी ही आपका स्मरण करते हुए मेरे हृदय से कभी दूर न हो।" विष्णु पुराण १।२०।१८-१९।

ऐसी निःस्वार्थ व दृढ़ भक्ति से ही साधक भगवान के निकट तक पहुँचने की सामर्थ्य रखता है। स्वार्थपरता से भगवान का वैर है। जितना स्वार्थ बना रहेगा उतनी ही भगवान से दूरी बनी रहेगी। निःस्वार्थता के आते ही भगवान से सर्म्पक स्थापित हो जाता है। प्रायः सांसारिक बाधाओं के आने पर साधक भगवान पर अविश्वास प्रकट करने लगते हैं। ऐसे व्यक्ति भगवान को भौतिक सुविधाओं की वर्षा

करने वाली एक मशीन मानते हैं जो उनसे प्रार्थना करने पर चलना आरम्भ कर देती है और कामदेनु की तरह जोभी वह माँगें, उनके उद्देश्यों और इच्छाओं की पूर्ति करती रहेगी। भक्ति का यह गलत दृष्टिकोण है। भक्ति का आदर्श प्रह्लाद ने ही उपस्थित किया है। ऐसा भक्त ही परम पद को प्राप्त करता है। ऐसी निःस्वार्थ भक्ति का ही शास्त्रो में अनुमोदन किया गया है।

दैवी मीमांसा दर्शन, शाण्डिल्य शिव और नारदीय दर्शनों में उल्लेख है कि "साधारण भक्तिके जाग्रत होनेसे ही महापाप नष्ट होते है। भक्ति सर्वश्रेष्ठ साधन है क्योंकि विभिन्न साधनाओं में इसके विना गति नहीं है। "भक्ति सब प्रकार के फल प्रदान करने वाली है।" "भक्ति से अमृतत्वकी प्राप्ति होती है और पतनकी सम्भावना नही रहती।" "भक्ति ज्ञानी व अज्ञानी सभी का कल्याण करती है।' "भक्ति कर्म, उपासना ज्ञान, यज्ञ आदि समस्त साधनाओं की सहायक है।"

उपनिषदों में लिखा है कि "जब उपनिषद रूपी धनुष पर उपासना रूपी तीक्ष्ण बाण चढ़ाकर भक्ति युक्त चित्त होकर प्रयुक्त किया जाता है तो निश्चय रूप से ब्रह्म रूप लक्ष्य सिद्ध हो सकता है।" जिस तरह समुद्र की ओर जाने वाली नदी अपने नाम और रूप को भूलकर समुद्र में मिल जाती है उसकी कोई प्रथक सत्ता शेष नही रहती, उसी तरह ज्ञानी भक्त प्रकृति दत्त नाम और रूप को छोड़ कर अपनी प्रथक सत्ता को त्याग कर परब्रह्म में लीनकर देते हैं और विदेह मुक्ति प्राप्त करते हैं।"

गीता मे विभिन्न स्थानों पर भक्ति की चर्चा है। यथा—

"अनन्यभाव से मेरी भक्ति करने वाले की विशेष योग्यता है" (७।१७)। "हे पार्थ ! जिसके भीतर (सब) भूत हैं और जिसने

इस सबको फैलाया अथवा व्याप्त कर रखा है, वहाँ पर श्रेष्ठ पुरुष अनन्य भक्ति से ही प्राप्त होता है" ८।२८।

अर्जुन को सच्चा भक्त बनने की प्रेरणा देते हुए भगवान कहते हैं "तू जो कुछ करता है, खाता है, हवन, दान और तप करता है, वह मुझे अर्पण किया करो" ९।२७।

भक्ति से क्षुद्र से क्षुद्र परिस्थितियों व हीन से हीन दशा में पड़ा व्यक्ति भी उच्च गति को प्राप्त हो सकता है। इसका दृढ़ आश्वासन भगवान सशक्त शब्दों में देते हैं। "मेरे लिए सब एक हैं। न मैं किसी से द्वेष करता हूं न किसी से प्रेम और न कोई मेरा प्यारा है। भक्ति से जो मेरी आराधना करते हैं, वे मुझ में हैं और मैं उनमें हूँ" ९।२९। "दुराचारी से दुराचारी व्यक्ति भी यदि मुझे अनन्य भाव से भजता है तो मैं उसे बड़ा साधु समझता हूं क्योंकि बुद्धि का निश्चय पवित्र रहता है" (९ । ३०)। "वह शीघ्र ही—धर्मात्मा की स्थिति तक पहुँच जाता है और नित्य शान्ति प्राप्त करता है। इसको निश्चय जान कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता" (९ । ३१)। 'पुण्यवान ब्राह्मणों, राजर्षियों, क्षत्रियों और मेरे भक्तों की कौन कहे, मेरे आश्रय से स्त्रियाँ, वैश्य शूद्र और अन्त्यज भी परम गति को पाते हैं" (९। ३२, ३३।)

भक्ति द्वारा ईश्वर प्राप्ति का विश्वास दिलाते हुए भगवान ने कहा है "हे अर्जुन ! केवल अनन्य भक्ति से ही मेरा ज्ञान प्राप्त करना, मेरा साक्षात्कार करना और मुझ में तत्व से प्रवेश करना सम्भव है।" (११ । ५४)। "जो भक्त सब कुछ मुझे अर्पण करके एकनिष्ठ भक्ति योग से मेरा भजन करता है, वह ब्रह्मभूत स्थिति प्राप्त करने की क्षमता वाला हो जाता है।" (१४ । २६)।

प्रिय भक्तों की पहिचान के लक्षणों का वर्णन करते हुए भगवान कहते हैं 'जिस भक्त का किसी से द्वेष नहीं है, जो सब भूतों के साथ

मित्रता का वर्ताव करता है और कृपा दृष्टि से देखता है, जो ममत्व और अंहकार बुद्धि से शून्य है, जो दुःख सुख में सम रहता है और क्षमाशीलता जिसका गुण है (१२ । १३)। जो सदैव सन्तुष्ट, संयमी और दृढ़ निश्चय वाला होता है, जिसने मन और बुद्धि को मुझे अर्पित कर दिया है, वह भक्त मुझे प्रिय हैं (१२ । १४) जो न दूसरों को क्लेश देता है और न ही उनसे पाता है, ऐसा हर्ष, क्रोध, भय और विषाद से अलिप्त भक्त ही मुझे प्यारा है (१२ । १५)। जो पवित्र और क्रियाशील है, फलासक्ति में मौन है, जिसे विकार पथ-भ्रष्ट नहीं कर सकते और जिसने काम्यफल की आशा छोड़ दी हो (१४ । १६)। जो न हर्ष करता है, न इच्छा। जो शुभाशुभ के फल का त्यागी है, वही भक्त मुझे प्रिय है (१४ । १७)। जिसे शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत और उष्णता, सुख और दुःख समान लगते हैं और जो आसक्ति रहित है। (१४ । १८) जो निन्दा स्तुति को एक सा मानता है, जिसकी इच्छाएँ संयमित हैं और जो सन्तोषी है, जिसकी मति स्थिर है, जो कर्मफलाशा के रूप में उदासीन है, वही भक्त मुझे प्रिय है (१४।१९)। उपरोक्त तथ्यों का जो श्रद्धापूर्वक आचरण करते हैं। वही मेरे प्यारे हैं" (१४ । २०)।

"ब्रह्मभूत हुआ भक्त निरन्तर प्रसन्न चित्त रहता है, उसकी न कोई इच्छा ही रहती है और न किसी के प्रति वह द्वेषभाव रखता है, वह प्राणी मात्र में समानता का अनुभव करता हुआ मेरी परम भक्ति को पाता है" (१८ । ५४)। भक्ति की इस स्थिति तक पहुँचने पर वह मुझे तत्व रूप में जान जाता है। यह तात्विक ज्ञान हो जाने पर वह अन्त में मुझ में ही प्रवेश कर जाता है" (१८ । ५५)।

कर्मयोग में भक्ति की आवश्यकता पर वल देते हुए भगवान ने कहा है "सब कर्मयोगियों में भी मैं उसे उत्तम सिद्ध कर्मयोगी समझता

हूँ कि जो मुझ में अन्तःकरण रखकर श्रद्धा से मुझ को भजता है" (६ । ४७) ।

भावना की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए भगवान ने कहा है "जो मुझे जिस प्रकार से भजते हैं, उन्हें मैं उसी प्रकार से फल देता हूँ। हे पार्थ ! किसी भी ओर से हो, मनुष्य मेरे ही मार्ग में आ मिलते हैं।" (८ । ११) । "देवताओं का व्रत करने वाले देवताओं के पास, पितरों का व्रत करने वाले पितरों के पास, भिन्न-भिन्न भूतों के भजने वाले उन भूतों के पास जाते हैं और मेरा भजन करने वाले मेरे पास आते हैं" (९ । २५) ।

श्रीमद्भागवत भक्ति का अपूर्व ग्रन्थ है। उसमें भक्ति की महत्ता और उससे होने वाले परिणामों के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है। तथा "मैं भक्तों के आधीन हूँ। मेरे हृदय पर साधु भक्तों का राज्य है। भक्तों के बिना मुझे आत्मा और परम श्री भी अच्छी नहीं लगती। मैं साधुओं की ही परमगति हूँ। जिन भक्तों ने स्त्री, पुत्र, परिवार, धन ऐश्वर्य और परलोक प्राप्ति की कामना को भी त्याग दिया और मेरा आश्रय लिया है, उन्हें मैं कैसे छोड़ सकता हूँ ? पतिव्रता स्त्री जैसे अपने निःस्वार्थ प्रेम से अपने पति को वश में करती है, वैसे ही मेरा भक्त मुझे बाँध लेता है। साधु मेरा हृदय है और मैं साधुओं का हृदय हूँ। वे मेरे अतिरिक्त और किसी को नहीं पहिचानते और मैं भी उनके अतिरिक्त और किसी को नहीं पहिचानता।

एक अन्य स्थान पर भक्ति से उत्तम गति की चर्चा करते हुए कहा गया है "भगवान की परम भक्ति से मोहादि अविद्या की ग्रन्थियाँ टूटने लगती हैं, संसार चक्र शिथिल होने लगता है, ब्रह्मपद की प्राप्ति होती है जिसका परिणाम परम सुख होता है। जैसे अग्नि में तपने से सोने का सुन्दर रूप निखर आता है, उसी तरह भक्ति से कर्म की

मलिनता नष्ट होती है । भक्त को कुछ और प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता । अग्नि से जैसे लकड़ी जलकर भस्म हो जाती है वैसे ही भक्ति से पाप भस्म हो जाते हैं ।" (११ । १४ । ११—२०) । भक्ति से सद्गुणों की प्राप्ति की बात प्रह्लाद के मुख से कहलवाई गई है कि "भगवान के निष्काम भक्त के हृदय में समस्त देवता, धर्म ज्ञान आदि सद्गुणों सहित निवास करते हैं । जो अभक्त हैं वह महापुरुषों के गुणों का आह्वान कैसे कर सकते हैं ? उनकी तो बाहरी विषयों की ओर दौड़ने की ही प्रवृत्ति रहती है" (५ । १८ । १२ ।

भक्त संयम के मार्ग पर चलता है, इस सम्बन्ध में भगवान उद्धव जी से कहते हैं ' मेरे जिस भक्त ने सभी इन्द्रियों को पूर्ण रूप में वश में नहीं किया है और जिसे सांसारिक विषय बार-बार अपनी ओर खींचते रहते हैं, उसकी भी क्षण-क्षण बढ़ने वाली मेरी भक्ति विषयों से पराजित नहीं होती" (११ । १४ । १८ ।

भक्त के परम कर्तव्य और परम धर्म की घोषणा करते हुए कहा है "भगवान के चरणों में भक्तिभाव की प्राप्ति ही सबसे बड़ा कर्तव्य--परम धर्म है" (६ । २ १२) । "भगवान की भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है । निष्काम और स्थिर भक्ति से आनन्द स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति होती है ।"

भक्ति से ऋषित्व प्राप्ति की सम्भावना पर बल देते हुए कहा गया है "भक्ति से निष्पाप और निर्दोष वातावरण का निर्माण होता है, जिसमें प्रवेश करके पतन की ओर जाता व्यक्ति भी ऊँचा उठने लगता है और भक्त पुरुष तो विरक्त महात्मा और ऋषि महर्षि तक बना सकता है ।" ६।४।६३

उत्तम भक्तों में कामनायें सर्वथा शांत हो जाती है । श्री कपिल देव अपनी माता देवहूति को उपदेश देते हुए कहते हैं । "मेरे भक्त मेरे

अतिरिक्त किसी की कामना नहीं करते। सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्य, सामीप्य या एकत्व किसी भी प्रकार की मुक्ति वह नहीं चाहते। मेरा प्रेम और सेवा ही उनका लक्ष्य होता है। यह "आत्यंतिक भक्ति योग" है। इससे वे त्रिगुणात्मिका माया को पार करके मेरे विमल प्रेम को प्राप्त करते हैं।"

'नारद भक्ति सूत्र" नारद रचित भक्ति का श्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है। उसमें भक्ति तत्व की व्याख्या, उसके फल और प्राप्ति के उपायों का विस्तृत विश्लेषण किया गया है। कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं—

"भक्ति प्रेम रूप और अमृत स्वरूप है। उसे प्राप्त करके साधक सिद्ध, अमर और तृप्त हो जाता है। उसकी कामनायें शांत हो जाती हैं, वह शोक द्वेष व आसक्ति रहित हो जाता है। उसे परम शांति प्राप्त होती है और वह आत्मा में रमण करने लगता है" सूत्र १–६।

भगवान के प्रति भक्ति जितनी दृढ़ होती जाती है, उतना ही भक्त अपने व्यक्तित्व को भूलता जाता है। अपने मन को समाप्त करके वह भगवान में मिला देता है। अन्तिम सीढ़ी पर उसे केवल भगवान ही दृष्टिगोचर होते हैं। उसके अहं का लोप हो जाता है। प्रह्लाद की भी ऐसी ही स्थिति हो गयी थी। विष्णु पुराण १।२०।१-३ में कहा है "भगवान विष्णु को अपने से अभिन्न चिंतन करते-करते पूर्ण तन्मयता प्राप्त हो जाने से उन्होंने अपने को अच्युत रूप ही अनुभव किया। वे अपने आप को भूल गये। उस समय उन्हें श्री विष्णु भगवान के अतिरिक्त और कुछ भी प्रतीत न होता था। उनके केवल यही भावना चित्त में थी कि मैं ही अव्यय और अनन्त परमात्मा हूँ। उस भावना के योग से वे क्षीण पाप हो गए और उनके शुद्ध अन्तःकरण में ज्ञान स्वरूप अच्युत भगवान विराजमान हुए।" अनन्य भक्ति का यही परिणाम होता है।

परम भागवतों के लक्षणों का वर्णन करते हुए भागवत ११।२ ४५ व ३।२४।४६ में कहा गया है "जिसके मन में यह भेद भाव नहीं रहता कि मैं अलग हूँ और सब लोग भिन्न हैं परन्तु जो प्राणी मात्र के सम्बन्ध में यह भावना रखता है कि भगवान और मैं दोनों एक हैं और जो यह समझता है कि सब प्राणी भगवान और मुझ में भी हैं, वही सब भागवतों में श्रेष्ठ हैं।" इससे स्पष्ट है कि भक्ति से उच्चतम विकास और अद्वैत भाव की सिद्धि भी सम्भव है।

परम भक्त जड़ और चेतन समस्त वस्तुओं में अपने इष्ट देव को अनुभव करता है। इस लिए उसके लिए किसी से द्वेष का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रह्लाद की भी ऐसी ही स्थिति थी प्रह्लाद ने स्वयं कहा है "भगवान विष्णु तो शास्त्रों में, दैत्यों में और मुझमें सर्वत्र ही स्थित हैं।" विष्णु पुराण १।१७।३३

जब पुरोहितों ने प्रह्लाद पर कृत्या का प्रयोग करके उसे नष्ट करने का प्रयत्न किया तो कृत्या ने उन्हीं पर वार किया और वे स्वयं नष्ट हो गये। इस पर प्रह्लाद ने उन पुरोहितों को बचाया और कहा "यदि मैं सर्वव्यापी और अक्षय विष्णु को अपने विपक्षियों में भी देखता हूँ तो यह पुरोहित गण जीवित हो जाय।" विष्णु पुराण १।१८।४१। वह अपने पिता से स्वयं कहते हैं "मुझे तो कोई शत्रु मित्रादि दिखाई ही नहीं देते।" विष्णु पुराण १।१९।३६।

जो व्यक्ति ईश्वर को सर्वत्र व्यापक मानता और समझता है। उसे किसी से भय नहीं होता। वह तो संसार की महानतम को निरंतर अपने चारों ओर बिखरा देखता है और अपने साथ अनुभव करता है। उस पर भौतिक शक्तियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। विष्णु पुराण में कहा गया है कि "हिरण्यकशिपु ने उसे विष उगलने वाले सर्पो से कटवाया १।१७।३७ पर्वत शिखर के समान विशालकाय दिग्गजों ने उस

बालक को पृथ्वी पर पटक-पटक कर अपने दाँतों से खूब रोंदा १।१७।४२ खाद्य पदार्थों में हलाहल विष मिलाया गया १।१८।२ पुरोहितों ने अग्नि शिखा के समान प्रज्वलित शरीर वाली कृत्या का प्रयोग किया जिसने प्रह्लाद की छाती में त्रिशूल का प्रहार किया १।१८।३२,३३ सौ योजन ऊँचे महल से गिराया गया १।१९।११ हजारों मायायें दिखलाने वाले परम मायवी शम्बरासुर से मरवाने का प्रयत्न किया गया १।१९।१५,१६ वायु को आज्ञा दी गई कि वह नष्ट कर दे १।१९।११,१२ परन्तु भगवत्कृपा से सर्पों की दाढें टूट गयीं मणियाँ चटकने लगीं, फणों में पीड़ा होने लगीं। हाथियों के हजारों दाँत उनके वक्षःस्थल से खटाखट टूट गये। वह हलाहल विष को भगवन्नाम के उच्चारण से अभिमंत्रित करके अन्न के साथ खा गए कृत्या के त्रिशूल के टुकड़े-टुकड़े हो गए। महल से गिरने पर भी उसे कोई चोट नहीं आई। मायावी शम्बरासुर का उस पर कोई प्रभाव न पड़ा। वायु भी उसे प्रभावित न कर सकी। जो ईश्वरीय शक्ति को सदैव अपने साथ अनुभव करता है, उसे किसी का भी भय नहीं रहता। प्रह्लाद ने स्वयं कहा है "यह जो हाथियों के वज्र के समान कड़े दांत टूट गए हैं। इसमें मेरा कोई बल नहीं है यह तो भगवान के महाविपत्ति और कलेषों के नष्ट करने वाले स्मरण का ही प्रभाव है" १।१७।४४।

इतिहास ने ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्ति की है। मीरा को भी विष दिया गया था परन्तु वह अमृत हो गया। उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। बौद्धों से वाद-विवाद में आचार्य कुमारिल भट्ट को पहाड़ की चोटी से गिराया गया परन्तु उन्हें कोई चोट नहीं आई। स्वामी राम तीर्थ घोर वनों में घूमते रहे। उन्हें अनेकों बार विषैले सर्पों का सामना करना पड़ा। परन्तु उन्हें कोई भय न लगा और सर्पोंने मार्ग छोड़ दिया। स्वामी विवेकानन्द को एक बार शेर वन में मिला जो स्वयं मार्ग बदल कर चला गया। यह तो अभी की ही घटनायें हैं। यदि यह सम्भव है

तो प्रह्लाद की घटनायें भी सत्य हो सकती हैं। इन्हें कल्पना मानने वालों तो यह तो मानना ही पड़ेगा कि ईश्वर को अपने में, सब में और सर्वत्र मानने वाले पर भीषण से भीषण विपत्तियाँ आती हैं तो वह उन्हें प्रसन्नता पूर्वक सहन करता है। वह इन्हें ईश्वरीय सौभाग्य मानता है कि कर्म भोगों का नाश होता जा रहा है। वह इन्हें अपने विकास का माध्यम स्वीकार करता है। और यह समझता है कि भगवान उसकी परीक्षा ले रहे हैं। इसमें उन्हें सफल होना ही चाहिए। यह विपत्तियाँ तो स्थूल शरीर को ही प्रभावित करती हैं। आत्मा इनसे अलिप्त है। वास्तव में आत्मभाव में स्थित साधक पर प्रह्लाद से भी घोर विपत्तियाँ आयें तो उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

प्रह्लाद ने विष्णु का आश्रय लिया उसने विष्णु पद को प्राप्त किया। भौतिक संताप हिरण्यकशिपु के रूप में सामने आए। वह पराजित हुए और प्रह्लाद की विजय हुई। प्रह्लाद की-सी मनो भूमि बना लेने वाला साधक भी उसी उच्च पद को प्राप्त कर सकता है, यह निश्चित है।

• • •

हिंदुओं के वर्तमान देवी देवताओं में भगवान विष्णु का स्थान सर्वोपरि है। ऋग्वेद में विष्णु शब्द आया है। किंतु वहाँ उसका अर्थ सूर्य है। विष्णु से तात्पर्य उस शक्ति से है जो संसार का पालन पोषण और रक्षण करती है। पुराणों में विष्णु को पालनकर्ता बताया गया है। अलंकारपूर्ण भाषा में विष्णु के रूप गुण वर्णन सहित उनकी स्तुति निम्न-लिखित श्लोक में की गई है—

"शान्ताकारं, भुजग-शयनम्, पद्मनाभं सुरेशम्,
विश्वाधारं, गगन-सदृशं, मेघवर्ण शुभांगम्।
लक्ष्मी कान्तं कमल-नयनम्, योगिभिर्ध्यानगम्यम्।
वन्दे विष्णुं भव-भय-हरं सर्व-लोकैक नाथम्॥"

इस श्लोक में सृष्टि के प्रशासक—पालन कर्ता—विष्णु की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। 'शान्ताकारं भुजग-शयनम्' उसकी पहली विशेषता है। जो व्यक्ति किसी गाँव जिला प्रदेश या देश के नागरिकों के पालन-पोषण और प्रशासन का भार अपने ऊपर लेता है, उसे इतना धीर-गम्भीर और उदार होना चाहिए कि वह सहस्र फनों वाले शेष नाग की शैय्या पर भी शांत मुद्रा में बैठा रह सके। जब किसी व्यक्ति को अधिकार दिए जाते हैं तो सारा समाज उसके लिए शेष नाग बन जाता है। सहस्र जिह्वाओं से उसकी आलोचना और निन्दा की जाती है। साँप की दो जीभें बतायीं जाती हैं। किंतु मनुष्य तो एक ही

जीभ से दो जीभ का काम लेता है। जब चाहता है अमृत बरसाता है, जब चाहता है जहर उगलने लगता है। ऐसा मनुष्य समाज प्रशासक के लिए तो जीती जागती शेष-शैया ही है। सब का जहर पचाकर सब की खरी-खोटी उचित अनुचित आलोचना सह कर भी शांतचित्त बना रहता है, वही विष्णु का पद पा सकता है। समाज के दलदल में रहकर भी गुणी शासक इस प्रकार अपने आप को निर्दोष बनाये रहता है जैसे कीचड़ में कमल। वह निर्लेप निर्विकार और निर्मल रहकर अपने सहज सौन्दर्य, सुवास और सरसता से सब का मन लुभाए रहता है। कमल के सारे गुण एक अच्छे शासक में समाये रहते हैं। इसी लिए उसे 'पद्मनाभ' कहा गया है। ऐसा शासक 'सुरेश' होता है। देवताओं के समान सद्गुणों के भण्डार और दैवी सम्पदा से युक्त नागरिक उसका अनुशासन मानते हैं। वह जड़-चेतन, अपने-पराए सभीमें है। समत्व भाव रखकर सबके योग क्षेम की चिन्ता करता है, इसी लिए उसे विश्वाधार कहा गया है। उसकी महानता का पार नहीं उसकी निःसंगता और निर्विकारता की कोई सीमा नहीं। निंदा स्तुति, हानि-लाभ और मानापमान में वह विचलित नहीं होता। उसकी इस एकरसता और व्यापकता के कारण उसे 'गगन-सदृश' कहा गया है। शासक को 'मेघवर्ण' और 'शुभांग' भी होना चाहिए। उसके वर्ण पर परिश्रम की श्यामलता और अंग-प्रत्यंग में सुडौलता होना आवश्यक है। फूलों में पला हुआ विष्णु लोकोद्धार का कार्य नहीं कर सकेगा, उसे लक्ष्मी कांत—श्री सम्पन्न होना चाहिए। धन सम्पदा और भूमि के स्वामित्व के बिना प्रशासन संचालन सम्भव नहीं है। उसकी आंखें कमल के समान सुन्दर, निर्वैर और निर्विकार होनी चाहिए। साधारणजन ऐसे शासक की पहचान नहीं कर सकते किन्तु जो योगी—अनुभवी व्यक्ति हैं वे उसे समझ सकते है, उनके लिए वह ध्यानगम्य है। गीता के अनुसार कर्म की कुशलता ही योग है। जो लोग कर्म कुशल हैं, अपने कार्यों में दक्ष हैं। वे ऐसे शासक के

गुणों को समझकर उसका अनुकरण करने का प्रयत्न करेंगे। ऐसा शासक भव-भय हारी और सर्व लोकों का अधिनायक तो होगा ही।

जिसका जीवन पोषक तत्त्वों से परिपूर्ण है, जो जन-समाज की आलोचना और अपकार का विष पान करके उनके लिए अमृत की वर्षा करता है। जिसके सद्गुणों का पार नहीं है जो चरित्र की दृष्टि से बहुत ऊँचा उठ जाता है, जिसकी निष्ठा कभी नहीं डिगती, विश्व-मानव की भूमिका धारण करके सारे विश्व के साथ अपने परिवार का-सा व्यवहार करता है, वही महामानव आज के संसार में और आने वाले संसार में भी सब का सेवक सहायक शिरोमणि और साथी बनकर, सब के दिलों में सदा के लिए बस सकता है। अमरता इसी का नाम है ऐसा व्यक्ति ही विष्णु के पद पर प्रतिष्ठित होकर हमारी पूजा का अधिकारी है। ऐसा विष्णु समाज के अभावों की पूर्ति के लिए अवतार लेता है किन्तु उसका अवतार अनायास ही नहीं हो जाता। हमें उसके लिए वातावरण को अनुकूल बनाना होता है। पृष्ठ भूमि तैयार करनी होती है। आइये युग-निर्माण-योजना की पूर्ति के माध्यम से ही हम तपस्या और साधना करें, वातावरण को शुद्ध करें ताकि हमारे बीच में से ऐसा नागरिक उत्पन्न हो सके जिसे हम विष्णु का पद दे सकें।

• • •

भागवत २।१।८, २।६।१५, १०।३।६ व ३।२।२३ में भगवान विष्णु को चतुर्भुज कहा गया है।

सामान्यतः पुरुष की दो भुजायें होती हैं परन्तु चित्रों और मूर्तियों में विष्णु भगवान की चार भुजाएँ दिखाई गई हैं। देवी देवताओं की अधिक भुजायें प्रदर्शित करने का विशेष उद्देश्य होता है जिनमें शिक्षायें प्रेरणायें और जीवन निर्माण सम्बन्धी महत्वपूर्ण तथ्य छिपे रहते हैं। विष्णु भगवान की चार भुजाएँ निम्न आधार भूत तथ्य की ओर संकेत करती हैं—

(१) चार दिशायें—

विष्णु सर्वव्यापक हैं, चारों दिशाओं में व्याप्त हैं, कण-कण में समाए हुए है, प्राणी मात्र में उनका निवास हैं। जल में थल में पुष्प और लताओं में पहाड़ों कन्दराओं और वनों में, पशु और पक्षी में पुरुष और स्त्री में सारी सृष्टि में वही दिखायी देते हैं।

वेदों में विष्णु को सूर्य कहा गया है। सूर्य की किरणें चारों ओर फैलती हैं। किरण को हाथ, भुजा और कर आदि भी कहा जाता है। सूर्य को भी चतुर्भुज कहा जाता है क्यों कि उसकी किरणें चारों दिशाओं में फैली रहती हैं। इसी आधार पर विष्णु को देवता के रूप में चार भुजाओं वाला बनाया गया है।

(२) यज्ञ कुण्ड—

यज्ञ को भारतीय संस्कृति का पिता और जनक माना जाता है। वह स्थूल सामग्री को स्थूल से सूक्ष्म बनाकर उसके गुणों में अभिवृद्धि करता है। वातावरण को शुद्ध पवित्र और स्वस्थ बनाता है, स्वास्थ्य को विध्वन्स करने वाले कीटाणुओं का नाश करता है, मन, बुद्धि में जमे हुए मल विक्षेपों को दूर करता है, वह त्याग, बलिदान परमार्थ निःस्वार्थता समता का प्रतीक है। यज्ञ भगवान के समक्ष ही वर-वधू अपने भावी गृहस्थ जीवन के सुसञ्चालन की प्रतिज्ञायें लेते हैं।

(३) चार देवता—

चार देवता हैं—जल, वायु, अग्नि और पृथ्वी। जल को वेदों में अमृत कहा है। वह वास्तव में हमारे शरीर का प्राण है इसके अभाव में जीव छटपटाता है। वर्षा न होने और सूखा पड़ने पर चारों ओर हाहाकार होता है। मछली आदि अनेकों प्राणियों का तो यह जीवन आधार ही है। अतः इसे देव कहा गया।

वायु के विना तो हम एक क्षण भी नहीं रह सकते। वह हमारे प्राणों का पोषक है। वह हमें प्राण-तत्व प्रदान करता है। अग्नि व्यापक तत्व है। हमारे शरीर में अग्नि का सन्तुलन रहने से ही स्वास्थ्य की स्थिरता सम्भव है। अग्नि मन्दता से शरीर क्षीण होने लगता है और अन्य अनेकों रोगों की उत्पत्ति होती है पेड़ों में अग्नि रहती है तभी उनमें जलने की क्षमता रहती है और फल-फूल उगते हैं। पृथ्वी में अग्नि की विद्यमानता से ही मट्टी का तेल पेट्रोल, कोयला, चाँदी सोना आदि अनेकों खनिज पदार्थ निकलते हैं। लम्बे समय से पर्याप्त संख्या में इन पदार्थों के निकलने के कारण पृथ्वी की अग्नि कम होती जा रही है।

पृथ्वी को भी देवता माना जाता है क्योंकि उसके विशाल शरीर पर बड़ी-बड़ी पर्वत मालायें स्थिर हैं। समुद्र और नदियाँ अपने अपार जल

राशि के साथ प्रवाहित होते हैं। लाखों और करोड़ों पेड़ कीलों की तरह जड़े हैं। उसकी छाती को हल और ट्रैक्टर चीरकर छलनी कर देते हैं परन्तु इसके उपलक्ष्य में वह अन्न और फल प्रदान करती है। उसके शरीर की माँस पेशियों से ईंटें और गारा बनाकर बड़े-बड़े महल और प्रासाद खड़े करते हैं। पीड़ा के होते हुए भी वह मुस्कराती रहती है, असंख्य प्राणियों का पोषण उसके शरीर से होता है। वह यदि असहयोग और सत्याग्रह की धमकी देदे तो एक क्षण में प्रलय आ जाय। अतः वह सच्चे अर्थों में देवता है।

(४) ब्रह्मा—

ईश्वर की सृष्टि करने वाली शक्ति का नाम ब्रह्मा है। अलंकारिक रूप से इसके चार मुख आठ नेत्र और चार हाथ बनाए जाते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि वह चारों ओर देखते हैं चारों ओर से सुनते हैं और चारों ओर निर्माण का कार्य कर रहे हैं। वेदों में ईश्वर के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह अपने हजारों नेत्रों से देखते हैं, हजारों कानों से सुनते हैं और हजारों हाथों से कार्य करते हैं। ईश्वर की इस परिभाषा को प्रतीक रूप में ब्रह्मा की आकृति बनाकर स्पष्ट किया गया है। ब्रह्मा की प्रतिमा से प्रेरणा मिलती है कि ईश्वर को सर्व व्यापक मानकर पापों से बचना चाहिए।

(५) चारों वेद—

वेद कहते हैं ज्ञान को। वेद ज्ञान के अपार भण्डार हैं। इनमें उन समस्त विचारों और सिद्धान्तों का प्रति पादनकिया गया है, जिनसे मनुष्य प्रगति पथ पर अग्रसर हो सकता है। वह अपनी पशुता को छोड़ कर मनुष्यता को अपना सकता है। आसुरी वृत्तियों का त्याग करके देव पथ की ओर मुड़ सकता है। यह विश्व की प्राचीनतम और श्रेष्ठतम

पुस्तकें हैं। संमार के समस्त सम्प्रदायों की धर्म पुस्तकों की शिक्षाओं और नियमों का आधार यही हैं। विश्व विख्यात दार्शनिकों और विचारकों ने इसी अमर स्रोत से अपनी ज्ञान पिपासा को तृप्त किया है। हिंदू धर्म के भी अन्य ग्रन्थों—आरण्यक, ब्राह्मण, उपनिषद, स्मृतियाँ गीता आदि का निर्माण इन्हीं से हुआ है यह भारतीय संस्कृति के मूल उद्गम केन्द्र हैं। यह संख्या में चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, और सामवेद। ज्ञान-विज्ञान पारिवारिक सामाजिक और राष्ट्रीय सभी विषयों का इनमें ज्ञान और समाधान है।

(६) विकास की चार अवस्थायें—

जनन, जीवन मृत्यु और अमरत्व ही विकास की चार अवस्थायें हैं। मनुष्य अपने पिछले जन्म के कर्मों के अनुसार यहाँ जन्म लेता है, उसी के अनुसार उसे आगे बढ़ने के अवसर मिलते हैं। कठिन परिस्थितियों से जूझने वाले को कड़ा संघर्ष करना पड़ता है। जीवन को अमृत बनाना मनुष्य के अपने हाथ में है। वह कर्म करने में स्वतन्त्र है। अपने भाग्य की रेखाओं को अपने हाथ से लिखता है। जो निरन्तर विषय भोगों में लिप्त रहते हैं अन्याय और अत्याचार से अपने वैभव को बढ़ाते रहते हैं, अपनी झूठी शान और प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए अनुचित उपायों को अपनाते हैं, पाप और व्यभिचार आदि के दुर्गन्धपूर्ण वातावरण में जो सदैव उलझे रहते हैं ? वह इसी शरीर में मृत कहलाते हैं। इसके विपरीत जो व्यक्ति ईश्वर को सर्व व्यापक मानकर दुष्कर्मों से बचता है जिसके शरीर का पोषण पवित्र कमाई से होता है जो जीव मात्र में भेद भाव न मानकर सब में ईश्वर का रूप मानता है जो अपनी समस्त प्राप्त शक्तियों को समाज राष्ट्र और विश्व के कल्याण के लिए लगा देता है और संसार की कामनाओं इच्छाओं तृष्णाओं से अनासक्त और अलिप्त रहता है, वह अमरत्व की ओर बढ़ता है और इसी शरीर में इस पद को प्राप्त कर लेता है।

(७) चार आधार भूत मानसिक प्रक्रियायें—

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक 'युग' ने धर्म क्षेत्र के प्रतीकों का गहन अध्ययन किया है। वे इन्हें अज्ञात मन के चतुष्देव प्रतीक पर आधारित मानते हैं। उन्होंने यह सिद्ध किया है कि मानव स्वभाव का वैज्ञानिक अध्ययन वस्तुतः इन प्रतीकों के अध्ययन पर निर्भर करता है। मानव के उत्थान के लिए इनका उचित उपयोग अभीष्ट है।

(८) चार आश्रम—

एक विद्वान का कहना है कि—"आश्रम तथा वर्ण की दोनों व्यवस्थाएँ जो सारांश रूप में मानव के श्रम तथा गुण की समस्याओं का उल्लेख करती हैं, वास्तविक रूप में सामाजिक संगठन के हिन्दू सिद्धान्त की आधार शिलाएँ हैं।" पहला ब्रह्मचर्याश्रम है जिसमें विद्यार्थी अपनी आजीविका कमाने के साधनों व वेद शास्त्रों का अध्ययन करता था और भौतिक व चारित्रिक शिक्षा ग्रहण करता था। यह कठोर श्रम और तप का जीवन होता था ताकि वह आगामी महान जिम्मेदारियों से ओत-प्रोत गृहस्थाश्रम के लिए अपने को पूर्णतः तैयार कर ले। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके वह अपनी आत्मीयता का विस्तार करता है और समाज को उत्तम नागरिक देने का व्रत लेता है और अपनी शुद्ध कमाई से अन्य तीन आश्रमों की यथाशक्ति सहायता करता है। इस आश्रम में रहकर वह मनुष्यता की सीढ़ियाँ धीरे-धीरे पार करता है। वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करके मनुसंहिता के अनुसार वह आत्म संयम, मित्रता, दान और समस्त-प्राणियों के प्रति दया के भाव को बढ़ाता है। मनन, चिन्तन, स्वाध्याय और घोर तपश्चर्या द्वारा वह अपना आत्म-विकास करता है। महर्षि व्यास ने चार आश्रमों को ब्रह्मलोक तक पहुँचने के लिए एक सीढ़ी बताया है। संन्यास उसका अन्तिम चरण है। इसमें वह अपनी समस्त उपार्जित शक्तियों को

राष्ट्र के निर्माण में लगा देता है और राष्ट्र को ईश्वर का साकार रूप समझ कर अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है। इस व्यवस्था से ही यह राष्ट्र विकास की उच्चतम सीमाओं तक पहुँच गया था।

(९) चार वर्ण—

एक विद्वान के अनुसार "हिन्दू द्वारा सोची और नियोजित की गई वर्णाश्रम की व्यवस्था विश्व के सामाजिक विचारों के समस्त इतिहास में एक अपूर्व देन है, जिसके सदृश्य किसी अन्य विचार पद्धति में कुछ भी नहीं है।" चार वर्ण हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। गीता के अनुसार गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार इनकी रचना की गई थी। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में अलङ्कारिक रूप में इस प्रकार से प्रतिपादन है कि "ब्राह्मण ईश्वर के मुख से, क्षत्रिय भुजाओं से, वैश्य जंघाओं से और शूद्र पैरों से उत्पन्न हुए थे।" इससे एक प्रकार से उनके कार्यों का विभाजन हो गया। यह वर्ण व्यवस्था जन्मना नहीं थी। इसलिए इसमें परिवर्तन हो सकता था। इतिहास में क्षत्रियों के ब्राह्मणत्व की प्राप्ति के उदाहरण मिलते हैं। प्रगित का मार्ग सबके लिए खुला था।

(१०) चारों ओर से सुरक्षा—

इस सम्बन्ध में रामायण में वर्णित सीता का उदाहरण प्रस्तुत है। राम, लक्ष्मण और सीता जब बन में निवास कर रहे थे तो एक दिन सीता को एक सोने का मृग दिखाई दिया जो उन्हें बहुत अच्छा लगा और राम से उसे पकड़ लाने का आग्रह किया। राम उसके पीछे गए। थोड़ी देर में 'हा लक्ष्मण' की आवाज आई। सीता ने लक्ष्मण को राम की सहायता के लिए भेजा। लक्ष्मण ने सीता के चारों ओर रेखा खींच दी और उन्हें कहा कि वह इसके बाहर न आएँ। इसी बीच में रावण भिक्षुक के वेश में आया और सीता से भिक्षा

माँगी। सीता रेखा के अन्दर ही भिक्षा देना चाहती थी, परन्तु रावण ने यह स्वीकार न किया। रेखा में सीता सुरक्षित थी और उसे कुछ भी भय न था। रेखा से बाहर आने पर ही रावण सीता को उठा ले जाने में समर्थ हो सका।

(११) चार दैवी गुण--

विष्णु की चार भुजाएँ, चार दैवी गुणों की ओर संकेत करती हैं—निस्वार्थता, सहिष्णुता, निरहंकरिता और प्रेम। यह गुण आत्मिक उत्थान के आधार स्तम्भ हैं। इनका विकास ही ब्रह्म ज्ञान और ईश्वर साक्षात्कार की ओर ले जाता है। इनका इतना महत्व है कि उन्हें आत्मिक शक्ति का प्रतीक ही माना जाता है। साधक यदि अपना निरीक्षण करना चाहे कि उसका आत्म-विकास कहाँ तक हुआ है तो उसे यह अनुभव करना पर्याप्त है कि उसने व्यवहार में इन गुणों को कहाँ तक विकसित किया है। एक अच्छा नागरिक बनने के लिए भी इनकी अपेक्षा है। पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्र व विश्व की शान्ति की स्थापना के लिए यह गुण अत्यन्त आवश्यक हैं। इनके अभाव में ही आज सर्वत्र अशान्ति के काले बादल मंडरा रहे हैं। व्यक्तिगत व सामूहिक सभी समस्याओं का उचित समाधान विष्णु की चार भुजाओं द्वारा निर्देशित इस बहुमुखी सम्पदा के प्रतिष्ठित करने में ही है।

(१२) अन्तःकरण की चार वृत्तियों को परिष्कृत करने का निर्देश--

अन्तःकरण की चार वृत्तियाँ हैं–मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। मन—सत्य-असत्य, सुख-दुःख के कारणों का अन्वेषण करता हुआ संकल्प, विकल्प करता है। बाह्य संसार की जानकारी बुद्धि देती है और ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों व मन पर नियन्त्रण रखती है। चित्त से

चिन्तन किया जाता है। यह विचारों, संकल्पों, कर्मों और वासनाओं के संस्कारों को ग्रहण करता है। यही मिलकर उसके चरित्र का निर्माण करते हैं। अहंकार से अपनी सत्ता और अन्य सम्बन्धों से अपने मन का अनुभव होता है। यह वृत्तियाँ संग व वातावरण से प्रभावित होती हैं। इनमें जैसा रंग डाला जाए यह वैसी ही प्रतीत होती व बन जाती हैं। इन चार वृत्तियों पर मनुष्य जीवन की सफलता, असफलता, दुःख-सुख, नरक-स्वर्ग, बन्ध-मोक्ष, पतन-उत्थान, सब कुछ निर्भर है इसीलिए विष्णु की चार भुजाएँ इन चार वृत्तियों को परिष्कृत करने का संकेत करती हैं।

(१३) ईश्वर और सत्य से सम्बन्ध--

आदिकाल से ही गोलाकार का अभिप्राय देवता ही लिया जाता रहा है। ग्रीक दार्शनिक प्लेटो के काल से ही गोलाकार सम्पूर्ण के अर्थों में प्रयुक्त होता था। एम्पेडोकिल्स ने केवल चार तत्वों को ही माना है। प्राचीनकाल में पहले यह विश्वास था कि ईश्वर ने सर्व प्रथम चार तत्वों का ही निर्माण किया और उन्हीं के द्वारा वह प्रकट हुए। गोलाकार को चार भागों में बाँटा जाता है। एक विद्वान का कहना है कि "संख्या चार सत्य के अंश को प्रकट करती है। यह प्राचीन ऐतिहासिक प्रतीक है और इस प्रकार इसका सम्बन्ध सदैव विश्व के रचयिता ईश्वर से है।"

विष्णु की चार भुजाऐं चारों कोनों वाले यज्ञ कुण्ड, चार देवता, चार मुख वाले ब्रह्मा, चारों वेद, विकास की चार अवस्थाओं, चार आधार भूत मानसिक प्रक्रियाओं चार आश्रम, चार वर्ण, चार दैवी गुण, चारों ओर से सुरक्षा आदि की प्रतीक मानी जाती हैं। इन्हें देखने पर उपरोक्त तथ्यो की सहसा ही स्मृति हो आती है जो कल्याण और विकाश के द्योतक हैं।

(१४) जीवन का चहुँमुखी उद्देश्य—

चार भुजाएं जीवन के चहुँमुखी विकास की ओर प्रेरित करती हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का वह प्रतिनिधित्व करते हैं। चक्र से धर्म का, गदा से अर्थ का, पद्म से काम का और शंख से मोक्ष का भाव लेना चाहिये। विष्णु अपने साधक को चारों ओर पूरा ध्यान देने की शिक्षा देते हैं। सभी का अपनी-अपनी जगह महत्वपूर्ण स्थान है। गृहस्थ परलोक की अवहेलना करते हैं और भौतिकवाद की। यह ठीक नहीं है। सब ओर समान रूप से विकसित होने का प्रयत्न करना चाहिये।

• • •

भाववत ६।४।२६ में गरुड पर आरूढ़ और लम्बी-लम्बी आठ भुजाओं में शंख चक्रादि ग्रहरण किए विष्णु का वर्णन है। भागवत १०।८६।५६ में किरीट कुण्डलादि से विभूषित लम्वी-लम्बी आठ भुजाओं वाले विष्णु का उल्लेख आया है। पहले विष्णु के चतुर्भुज रूप का विवेचन किया जा चुका है। उसमें भी बताया गया है कि यह चार भुजायें किन्हीं गुणों की प्रतीक है। किसी शरीर धारी पुरुष की आठ भुजायें नहीं हो सकतीं निश्चित रूप से कलाकार का संकेत किन्हीं जीवन निर्माण महत्वपूर्ण तथ्यों की ओर ही है।

यदि विष्णु को सूर्य का प्रतीक माना जाए तो चतुर्भुज रूप से यह अभिप्राय लिया जाता है कि यह मूर्ति सूर्य को चारों दिशाओं में फैलने वाली किरणों की प्रतीक है। दिशायें चार होती हैं—पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण। इन दिशाओं के कोणों—आग्नेय, नैऋत्य वायव्य और ईशान को भी दिशाओं में गिन लिया जाए तो आठ दिशायें बन जाती हैं। सूर्य की किरणें इन आठों दिशाओ में व्याप्त रहती हैं। इस लिए विष्णु को भी अष्टभुजी प्रदर्शित किया गया है। वह सूर्य के प्रतिरूप ही हैं।

अष्टभुजी रूप में विष्णु को केवल सूर्य का प्रतीक दिखाना ही अभिप्रेत नहीं था। विष्णु पालन, पोषण और ऐश्वर्य के प्रतिनिधि देव हैं। उन्हें जीवन की प्रत्येक दिशा में प्रगति प्रिय है। वह

केवल भौतिकवाद में ही लीन रहना पसंद नहीं करते और न ही उन्हें संसार से भाग कर वन में तप के लिए चले जाना अच्छा लगता है। वह तो चाहते हैं कि जीवन में हर प्रकार से समृद्धिशाली बनना चाहिए और साथ-साथ अपने दैवी गुणों का भी विकास करना चाहिए। लोक परलोक का सुधार दोनों साथ-साथ चलना चाहिए। एक की उपेक्षा कर के दूसरे की ओर ध्यान देना उन्हें अभीष्ट है। वह जीवन का सर्वांग पूर्ण विकास चाहते हैं। उनमें शक्ति की अपेक्षा रहती है, जीवन को सुख शान्तिमय बनाने के लिए आठ प्रकार के बलों की आवश्यकता रहती है। उन्हीं के विकास की ओर विष्णु का संकेत है। वह आठ शक्तियाँ इस प्रकार हैं:—

(१) स्वास्थ्य—

हर क्षेत्र में प्रगति का यही आधार है। इसको प्राप्त किये बिना उन्नति असम्भव है। स्वस्थ मनुष्य में ही स्वस्थ मस्तिष्क होता है। अच्छे मस्तिष्क से ही कल्याणकारी योजनाओं का जन्म होता है, विचार व विवेक शक्ति का उदय होता है। सुख व शाँति का उद्गम यही है। अस्वस्थ व्यक्ति तो परिवार व समाज पर एक बोझ होता है। स्वस्थ व्यक्ति हजारों के दुखों को दूर करने की क्षमता रखता है। परिवार का पालन पोषण धनोपार्जन, सामाजिक कार्यों में योगदान तभी दिया जा सकता है। जब मनुष्य शारीरिक व मानसिक दोनों दृष्टियों से स्वस्थ हो। स्वस्थता प्राप्त करने के लिए उसके मूल सिद्धांतों पर ध्यान देकर उन्हें क्रियात्मक रूप से अपने जीवन व्यवहार में लाना होगा। उनकी जानकारी तो हर व्यक्ति को है परन्तु कम लोग उन्हें अपना पाते हैं। रात्रि को जल्दी सोना और प्रात: काल जल्दी उठना शरीर को रगड़-रगड़ कर स्नान करना तेल की मालिश करना, सूर्य स्नान, सूर्य नमस्कार, आसन, प्राणायाम डण्ड-बैठक, घूमना, दौड़ना आदि व्यायाम जल्दी पचने वाले

सात्विक आहार को ही ग्रहण करना, उसे इतना चबाना कि उसकी सारी लार ही बन जाये, विटामिन-युक्त फलों का सेवन, बीड़ी, सिगरेट, शराब, माँस आदि व्यसनों का त्याग, अश्लील फिल्मों और साहित्य से बचना, वीर्य-रक्षा, ईमानदारी से धनोपार्जन करना, मानसिक सन्तुलन बनाए रखना, चटोरेपन, कृत्रिमता और आडम्बर से दूर रहना ही कुछ ऐसे सूत्र हैं, जिन्हें व्यवहार में लाने से ही एक स्वस्थ मनुष्य का ढाँचा बनता है। तभी विष्णु की एक भुजा का अनुग्रह प्राप्त होता है।

(२) विद्याः—

इसके दो पक्ष हैं। एक शिक्षा, दूसरी विद्या। शिक्षा में सभी प्रकार की साँसारिक जानकारी जैसे—भूगोल, खगोल, चिकित्सा, गणित इतिहास, कला, सङ्गीत, शिल्प, विज्ञान, राजनीति, न्याय, भाषा आदि आते हैं। विद्या का अर्थ जीवन निर्माण है। सत्य, प्रेम, दया, न्याय, सेवा, परमार्थ, कर्तव्य परायणता, ईमानदारी, संयम, पुण्य, त्याग आदि शुभ-वृत्तियाँ विद्या के अन्तर्गत आती हैं। शिक्षा सांसारिक जीवन के उत्कर्ष में सहायक होती है। विद्या आत्मिक उत्थान का सम्बल है। ज्ञान वर्द्धन, जीवकोपार्जन के लिए उत्तम शिक्षा आवश्यक है। साथ ही विद्या की प्राप्ति के बिना मनुष्य में मनुष्यता के अनुरूप गुणों को ग्रहण करना असम्भव है। विद्या साधक के जीवन निर्माण की आधार शिला है। इस पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए तभी विष्णु अपना दूसरा हाथ उठाकर प्रसन्न-मुख से आशीर्वाद देते हैं।

(३) धनः—

परिवार के संचालन, शिक्षा-प्राप्ति, सामाजिक कार्यों में योगदान देने के लिए धन आवश्यक है। इसके बिना संसार का कोई भी कार्य भली प्रकार सम्पादन नहीं होता। परन्तु परिश्रम और ईमानदारी से

धन कमाना ही समाज में व्यवस्था बनाए रखने का आदर्श साधन है। इस लिए लोभवश होकर बेईमानी, ठगी, जेब कतरी, धोखे, फरेब, चालाकी मिलावट आदि के माध्यम से धन कमाना कुछ ऐसे साधन हैं जिनसे समाज में खिन्नता उत्पन्न होना स्वाभाविक है। जिस समाज में ऐसी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, वहाँ धन की वर्षा होते हुए भी दुःख, कलह क्लेश, लड़ाई, झगड़े, ईर्ष्या द्वेष, चोरी, लूट, हत्या आदि के काण्ड सर्वत्र देखे जाते हैं। जो समाज धन को अपने शरीर की रक्षा का साधन न मानकर सर्वस्व मानकर चलता है और उसके उपार्जन में विचार विवेक और सद्‌बुद्धि का उपयोग नहीं करता वह समाज दिन-दिन गिरता ही जाएगा। इस लिए विष्णु का आदेश है कि धन को ईमानदारी से कमाओ बेईमानी के एक अन्न के दाने को भी अपने घर में प्रवेश मत होने दो जो व्यक्ति ऐसे साधन अपनाते हैं उनके घर का अन्न खाना छोड़ दो सात्विक साधनों से धन कमाओ और उसका उत्तम कार्यों में प्रयोग करना सीखो।

(४) व्यवस्था·—

प्रत्येक कार्य की सफलता में व्यवस्था का होना आवश्यक है। बड़े-बड़े कार्य अव्यवस्था के कारण असफल होते देखे गए हैं। सीमित साधनों से छोटे कार्य भी बड़े हो जाते हैं। एक उत्तम व्यवस्थापक में पाँच गुणों का समावेश होना चाहिए। (अ) उसमें दूसरों पर प्रभाव डालने की क्षमता होनी चाहिए। (ब) उपयोगी व्यक्तियों को थप-थपाते रहना और निरंतर उनका सहयोग प्राप्त करते रहना। (स) समस्त कार्यों को योजनाबद्ध करना। (य) कार्य प्रणाली में नियमितता को उच्च स्थान देना। (ह) मार्ग की रुकावटों को दूर करते रहना। मीठा बोलना और अच्छा व्यवहार करना दूसरों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इस लिए लौकिक व पारलौकिक सभी कार्यों में व्यवस्था की शक्ति का विकास व उपभोग करना चाहिए।

(५) संगठनः—

शास्त्रों से "सङ्घ शक्ति कलौयुगे" के सूत्र का उद्घोष किया है। सृष्टि की रचना शक्ति पर आधारित है। शरीर का संचालन इसी के सहारे चल रहा है। परिवार की सुख, शांति इसी पर अवलम्बित रहती है। समाज का विकास इसी पर निर्भर करता है। राष्ट्र की एकता का सम्बल यही है। यह समस्त प्रकार की शक्तियों के विकास का मूलाधार है। इसी लिए धार्मिक सामाजिक और राष्ट्रीय संगठन बनाने चाहिए तभी विष्णु की प्रसन्नता प्राप्त होगी।

(६) यशः—

त्याग, सेवा, परमार्थ निःस्वार्थता से समाज कल्याण की योजनाओं में योग देना ही यश प्राप्त करने का उपाय है। यह शरीर तो अस्थाई है, परन्तु आदर्श कार्यों की स्मृति समाज के हृदय पर युगों तक बनी रहती है। इसलिए विष्णु अपने उपासक को सावधान करते हैं कि उसे कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जिससे अपयश के कलङ्क का टीका उसके माथे पर लग जाए जो धोये न घुले।

(७) शौर्यः—

शौर्य का अर्थ है साहस, बहादुरी, निर्भीकता। कायर व डरपोक होना निर्बलता के चिह्न हैं। ऐसे व्यक्ति हर समय भाग्य का रोना रोते रहते हैं। थोड़ी सी कठिनाई व विपत्ति आने पर उनका दम निकलने लगता है। साहसी व्यक्ति निरन्तर आगे बढ़ते रहते हैं। विपत्तियों के पहाड़ उनके कन्धों पर रख दिए जाते हैं परन्तु वह हँसते-हँसते उन्हें इधर-उधर फैंकते हुए, इठलाते हुए आगे बढ़ते जाते हैं। साहस पहाड़ों को चीरता है, समुद्रों को पार करता है। आकाश की गहराइयों को नापता है। साहस के बिना सफलता असम्भव है।

(८) सत्य :—

सत्य ही ईश्वर है, ईश्वर ही सत्य है सत्य को अपनाना ईश्वर की समस्त शक्तियों का आह्वान है। सत्य से विचलित होना ईश्वर का खुला विरोध है। सत्य का पक्ष लेना ईश्वर का सहयोग प्राप्त करना है। सत्य विचार व सत्य व्यवहार शक्ति के खजानों के खुले द्वार हैं। जिनके शरीर पर यह आवरण चढ़े हैं, वह निश्चय रूप से शक्तिवान हैं। लौकिक व पारलौकिक सिद्धियाँ विना बुलाए उनके पास आती हैं। यह संसार की सभी क्तियों का शसिरमौर है। विष्णु की प्रेरणा है कि मेरे उपासक की नस-नस में इस शक्ति की ध्वनि सुनाई देती हो। उसके रक्त के प्रवाह में इसी का जाप होता हो। उसकी माँस पेशियों में यही शब्द खुदा हो, उसके मस्तिष्क के ज्ञान तन्तु इसी से निर्मित हों, उसके पग-पग में इसी की छाप पृथ्वी पर पड़ती हो,।

जो साधक उपरोक्त आठ शक्तियों को विकसित करने का प्रयत्न करता है, विष्णु की आठ भुजायें एक साथ उठकर प्रसन्न मुद्रा में उसे सफलता का आशीर्वाद देती हैं।

• • •

विष्णु का सुदर्शन चक्र ५०

विष्णु पुराण प्रथम अंश २२ अध्याय श्लोक ७१ के अनुसार "अपने वेग से पवन को भी पराजित करने वाला अत्यन्त चंचल मन श्री विष्णु भगवान के करकमलों में स्थित चक्र का रूप धारण करता है।" विष्णु भगवान का सुदर्शन चक्र तीव्र गति से शत्रुओं, असुरों और राक्षसों के सर काटता हुआ अपने मूल स्थान पर लौट आता है। मन की गति भी इतनी तीव्र है। वह हजारों मील की यात्रा क्षण भर में तय करता है। क्षण भर में बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, न्यूयार्क आदि में घूमने कीं क्षमता रखता है। चक्र एक शक्तिशाली अस्त्र है। मन की शक्ति का प्रतीक है। वह अपनी इच्छानुसार शरीर को नचाता है, जहां चाहे घुमाता है। इन्द्रियाँ और विषयों को अपने नियंत्रण में रखता है, मनुष्य का सुख दुःख उन्नति अवनति और बन्धन मोक्ष इसी पर निर्भर हैं क्यों कि जैसा मन होता है वैसे ही कार्यों में मनुष्य प्रवृत होता है। उपनिषद का कथन है "मनुष्य के (कर्म से) बन्धन या मोक्ष का मन ही कारण है। मन के विषयासक्त होने से बन्धन और निष्काम या निर्विषय अर्थात् निसंग होने से मोक्ष होता है।" मैत्रयु ६।३४, अमृत बिंदु ब्रह्म बिंदु २।३, वेद शास्त्र भी मन की असाधारण शक्ति का समर्थन करते हैं। यथा

यजुर्वेद १७।२५ में मनन शक्ति से संसार की उत्पत्ति बताई गयी है। कहा है "सूर्य उत्पादक सर्वधारक ईश्वर ने मनन शक्ति से निश्चय ही जब जल को तथा इन दोनों बने हुए द्युलोक तथा पृथ्वी

लोक को उत्पन्न किया तब ही इन दोनों के अन्तः प्रदेश को भी दृढ़ किया। अनन्तर उत्कृष्ट द्यावा पृथ्वी विस्तार को प्राप्त हुई।" यजुर्वेद के तृतीय अध्याय के ५४ मन्त्र में प्रार्थना है कि "पुनः वह मनन शक्ति हम को सत्कर्म के लिए, बल के लिए एवं संजीवन के लिए और चिरकाल पर्यन्त परमात्मा के दर्शन के लिए भली भाँति प्राप्त हो।" आगे ५५ वें मन्त्र में प्रार्थना है कि "हे विद्या दान से पालन करने वाले महानुभावो आप जो देवत्व गुणयुक्त श्रेष्ठ विद्वान हैं, हमें पुनः मनन शक्ति प्रदान करें जिससे हम सत्य भाषण आदि व्रतों से युक्त जीवन बना सकें।" यदि हम अपनी मनन शक्ति को जीवन में सत्य व्रतों को धारण करने में लगा दें तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, चिंता, कलह, क्लेश दुःख, ईर्ष्या, द्वेष, राग आदि हमारे शत्रु हमें दिन रात जलाते रहते हैं, अपने प्रतिकूल वातावरण देखकर अनुकूल वातावरण में जाने के लिए उत्सुक रहेंगे और उनके छोड़ने पर हमारे ऊपर निरंतर सुख शाँति एवं आनन्द की वर्षा होती रहेगी। यह सुनिश्चित है और वह दिन दूर नहीं जब यह मैला धुलने पर ज्योतिमय प्रभु के दर्शन हों।

उपनिषद भी इस सम्बन्ध में मौन नहीं हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद में कहा है कि "वह मन से ही देखता है और मन से ही सुनता है।" (इसलिए कह देते हैं—मेरा मन अन्यत्र था इस लिए मैंने नहीं देखा मेरा मन अन्यत्र था इस लिए मैंने नहीं सुना) मन अन्तरिक्ष लोक है मन यजुर्वेद है, मन पितृगण है, मन ही पिता है, जो कुछ जिज्ञासा के योग्य है वह मन का रूप है। मन ही विजिज्ञाय है तथा इस मन का द्युलोक शरीर है ज्योतिर्मय वह आदित्य है इनमें जितना मन है उतना ही द्युलोक और उतना ही वह आदित्य है....जनक के यज्ञ में याज्ञवल्क्य और अश्वल के संवाद में याज्ञवल्क्य ने कहा "ब्रह्मा यज्ञ का मन ही है और जो मन है वही यह चन्द्रमा, वह ब्रह्मा है

और वह मुक्ति है और वह अति मुक्ति है।" इसी संवाद में आगे कहा है "मन ही देवता है। मन अनन्त है और विश्वेदेव भी अनन्त है, अतः उस मन से यजमान अनन्त लोक भी जीत लेता है।" मन ज्योति (संकल्प विकल्प का साधन) है।

गीता १०।२२ में भगवान ने कहा है "इन्द्रियों में मन मैं हूँ। प्रश्नोपनिषद २।२ में भी मन को देवता कहा है। छान्दोग्योपनिषद् में सनत्कुमार जी ने नारद जी को उपदेश देते हुए कहा "मन ही आत्मा है, मन ही लोक है और मन ही ब्रह्म है। तुम मन की उपासना करो। वह जो कि मन की 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है, उसकी जहाँ तक मन की गति है वहाँ तक स्वेच्छागति हो जाती है।' मुक्तिकोपनिषद् में कहा है "सहस्रों अंकुर त्वचा पत्ते शाखा एवं फल फूल से युक्त इस संसार वृक्ष का यह मन ही मूल है। यह निश्चित हुआ और वह मन संकल्प रूप है। संकल्प को निवृत करके उस मनस्तत्व को सुखा डालो जिससे यह संसार वृक्ष भी निराश होकर सूख जाए।" तैत्तिरीयोपनिषद् में भी मन को ब्रह्म कहा है और कहा है कि "सचमुच मन से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं उत्पन्न होकर मन से ही जीते हैं। तथा इस लोक से प्रयाण करते हुए (अन्त में) मन में ही सब प्रकार से प्रविष्ट हो जाते हैं।"

स्वामी विवेकानन्द का वचन है "मन की दुर्बलता सब प्रकार के बन्धनों की जड़ है। जब तक हमारा मन अशक्त नहीं हुआ है तब तक दुःखों की क्या मजाल है जो वह हमारी ओर आँख उठाकर भी देखें शक्ति ही हमारा जीवन और दुर्बलता ही मरना है। मनोबल ही सुख सर्वस्व चिरन्तन जीवन और अमृतत्व तथा दुर्बलता ही रोग समूह दुःख और मृत्यु है।"

"मन इन्द्रियां स्वाधीन कर, तज द्वेष दे, तज राग दे ।
सुख शांति का यह मार्ग है, श्रुति संत कहते हैं सभी ।।"

मैत्रेयी उपनिषद ५।७ में कहा है "परशांत मन वाला पुरुष जब आत्मा में स्थित लाभ करता है, तब उसे अक्षय आनन्द की प्राप्ति होती है।" महोपनिषद "अमृत के पान करने से तथा लक्ष्मी के आलिंगन से वैसा सुख प्राप्त नहीं होता जैसा सुख मनुष्य मन की शांति से प्राप्त करता है।" कबीर "जग में बैरी कोई नहीं जो मन शीतल होय" मनु० ४।१६०" जब दूसरों की (बाह्य वस्तुओं की) अधीनता में है वह सब दुःख हैं और जो अपने (मन के) अधिकार में है वह सुख है। यही सुख दुःख का संक्षिप्त लक्षण है।" महाभारत शान्ति २०५।२ "मन से दुःखों का चिंतन न करना ही दुःख निवारण की अचूक औषधि है।" भृर्तहरि "मन के प्रसन्न होने पर क्या पवित्रता और क्या अमीरी दोनों समान हैं।" प्रसिद्ध यूनानी तत्ववेत्ता प्लेटो का कहना है कि "शारीरिक अर्थात् बाह्य आधिभौतिक सुख की अपेक्षा मन का सुख श्रेष्ठ है।"

इस लिए शास्त्रों ने मन के सम्बन्ध में अत्यन्त सावधान रहने की प्रेरणा दी है। उसे अपने नियन्त्रण में रखने का आदेश दिया है। चक्र को अपने हाथ में रखकर उसे अपनी इच्छानुसार चलाने का यही अभिप्राय है। हमारे ऋषि भली प्रकार जानते थे कि मनकी शक्तियों को नष्ट करना अपने जीवन का नाश करना है और उसे एक निश्चित दिशा में व्यवस्थापूर्वक लगाना सफलता की कुन्जी है। आध्यात्मिक भाषा में इसे मन का निग्रह कहते हैं। प्रत्येक कार्य की सफलता के लिए मनोनिग्रह आवश्यक है क्यों कि अनुभव बताता है कि मन के निग्रह के द्वारा इद्रियों का निग्रह करना सब साधनों का मूल है। यह सुख शान्ति और आनंद के भन्डार खोल देता है। यही ब्रह्म दर्शन की कुन्जी है। ऋग्वेद "हे मनुष्य यदि तू मन को स्थिर करने में समर्थ हो जाए तो तू स्वयं

ही समस्त बाधाओं और विपत्तियों पर विजय पा सकता है।" श्री विजय कृष्ण गोस्वामी "मनोनिग्रह सबसे बड़ी विद्या है। यही सब सुखों का मूल हैं।" महोपनिषद "निग्रह किया हुआ मन अनायास प्राप्त हुए थोड़े से भी भोग को जो विस्तार को नहीं प्राप्त हुआ है, क्लेश दायक होने के कारण बहुत अधिक समझता है।" मनु० ११ "स्मृतिकार ऋषि अपने मन को एकाग्र करके ही धर्म अधर्म बतलाया करते थे।" गीता ३।६-७ "जो मूढ़ (हाथ पैर आदि) कर्म इंद्रियों को रोक कर मन से इंद्रियों के विषयों का चिंतन किया करता है उसे मिथ्याचारी तथा दम्भी कहते हैं परन्तु से अर्जुन ! उसकी योग्यता विशेष अर्थात् श्रेष्ठ है कि जो मन से इन्द्रियों का आकलन करके केवल कर्म इन्द्रियों के द्वारा अनासक्त बुद्धि से कर्मयोग का आरम्भ करता है।"

संत तुकाराम "ईश्वर के पास कुछ मोक्ष की गठड़ी नहीं धरी है कि वह किसी-के हाथ में दे दे। यहाँ तो इन्द्रियों को जीतना और मन को निर्विषय करना ही मुख्य उपाय है।" भागवत में जड़ भरत ने राजा रहुगण को उपदेश देते हुए कहा "विषय आसक्त मन जीव को संसार संकट में डालने वाला है और विषय हीन होने पर वही उसे शांतिमय मोक्ष पद को प्राप्त करा देता हैं।" योगवशिष्ठ "सबसे उत्तम परम सम्पदा का अर्थ अपने मन के निग्रह से सिद्ध होता है। अपने मन का निग्रह करना ही बीज है जो चेतन रूपी क्षेत्र से प्रफुल्लित होकर फलदायक होता है। सम्पूर्ण पृथ्वी की शिला मात्र बड़ी-बड़ी मणि की होवें तो भी मन के निग्रह के समान नहीं।"

यजुर्वेद ११।१ "योगैश्वर्य का सम्पादक प्रथम मन को एकाग्र करता हुआ बुद्धिन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को तत्वज्ञान के लिए आत्म ज्योति का साक्षात्कार करके पार्थिव पदार्थों से ऊपर उठाता है। "११।२ (पूर्वोक्त) योगी विद्वान की अध्यक्षता में हम भी एकाग्र मन से विशेष

सुख लाभ के लिए अपनी सामर्थ्य से (आत्म ज्योति को) धारण करें" इसके विपरीत कठोपनिषद में यम नचिकेता से कहते हैं "जिसके मन इन्द्रियाँ संयमित नहीं है जिसका मन चंचल है, वह परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता ।" १।२।२४

मनुष्य केवल सांसारिक की सफलता पर ही सन्तुष्ट नहीं रहता, वह शाश्वत सुख शान्ति और आनंद की भी आकांक्षा करता है और उसके लिए छटपटाता है । उसके लिए केवल मनोनिग्रह करना ही पर्याप्त नही है । निग्रह तो शक्ति का साधन है । भगवत्प्राप्ति के लिए मन की निर्मलता और पवित्रता भी अभीष्ट है क्योंकि मलिन मन से प्रभु ढके रहते हैं । शुद्ध मन में उनका प्रतिबिम्ब दीखता है । शुद्ध मन शक्तियों का भण्डार है । मलिन मन निर्बलता का चिह्न । शुद्ध मन ही मोक्ष का दूसरा नाम है । यही ब्रह्मज्ञान है । यही अमृत है । यही आनंद का स्रोत है । जिसका मन निर्मल हो गया है । उसे दुःखों और चिताओं के दर्शन कभी नहीं होते । अतएव जिन्हें इनसे छुटकारा पाना हो वह मन को शुद्ध करें । योग वशिष्ठ में कहा है । जिसका मन परम पावन और निर्मल पद में दृढ़ विश्रांत और स्थित हुआ है उसका नाश मृत्यु भी नहीं करती । जिसका मन शुद्ध होता है उसका सत्य संकल्प होता है और वह जैसा संकल्प करता है वैसा ही होता है....शुद्ध अन्तःकरण में जैसा निश्चय होता है वैसा ही तत्काल आगे सिद्ध होता है और मलिन अन्तःकरण का निश्चय सिद्ध नहीं होता ।"

मौलाना रूमी "हे मनुष्य तू जानता है कि तेरा दर्पण रूपी मन क्यों साफ नही है ? देख इसलिए साफ नहीं कि उसके मुख पर जंग सा मैल लगा हुआ है । मन को शुद्ध करो और आत्मा का साक्षात्कार करो" श्री रामकृष्ण परमहंस "मैले शीशे में सूर्य की किरणों का प्रतिविम्ब नहीं पड़ता । उसी प्रकार जिनका अन्तःकरण मलिन और अपवित्र है,

तथा जो माया के वश में हैं। उनके हृदय में ईश्वर के प्रकाश का प्रतिविम्ब नहीं पड़ सकता। जिस प्रकार साफ शीशे में सूर्य का प्रतिविम्ब पड़ता है उसी प्रकार स्वच्छ हृदय में ईश्वर का प्रतिविम्ब पड़ता है इस लिए पवित्र वनो.. जहाँ मन की शुद्धि हुई तो फिर उस पवित्र आसन पर भगवान अवश्य ही आ वैठेगा। परन्तु यदि उसमें गन्दगी वनी रही तो माधव वहाँ कदापि न आएगा।"

"जे शुद्ध मन नर होय रे, वे ईश दर्शन पाए हैं।
मन के मलिन नहि स्वप्न में भी, ईश सम्मुख जाए हैं।।"
(स्वामी श्री भोलेवावा जी)

कठोपनिषद में यम नचिकेता से कहते हैं "शुद्ध मन से ही परमात्म तत्व प्राप्त किए जाने योग्य हैं २।१।११....जैसे दर्पण में सामने आई हुई वस्तु दीखती है वैसे ही शुद्ध अन्तःकरण में ब्रह्म के दर्शन होते हैं २।३ ५।" मुण्डकोपनिषद् ३।७।८ "वह परमात्मा न तो नेत्रों से न वाणी से और न दूसरी इन्द्रियों से ही ग्रहण करने में आता है तथा तप से अथवा कर्मों से भी वह ग्रहण नहीं किया जा सकता। उस अवयव रहित परमात्मा को तो विशुद्ध अन्तःकरण वाला साधक उस विशुद्ध अन्तःकरण से निरन्तर उसका ध्यान करता हुआ ही ज्ञान की निर्मलता से देख पाता है।....३।२।५ सर्वथा आसक्ति रहित और विशुद्ध अन्तःकरण वाले ऋषि लोग इस परमात्मा को पूर्णतया प्राप्त होकर ज्ञान से तृप्त एवं परम शांत हो जाते हैं।....३।२।७ जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, वह समस्त प्रयत्नशील साधकगण मरण काल में (शरीर त्यागकर) ब्रह्म लोक में जाते हैं और वहाँ परम अमृत स्वरूप होकर सर्वथा मुक्त हो जाते हैं।"

श्वेताश्वतरोपनिषद् ३।१३ "निर्मल हृदय और विशुद्ध मनसे ध्यान में लाया हुआ प्रत्यक्ष होता है....४।२० इस परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप

दृष्टि के सामने नहीं ठहरता इस परमात्मा को कोई भी आँखों से नहीं देख सकता जो साधक जन इस हृदय में स्थित अन्तर्यामी परमेश्वर को भक्ति युक्त हृदय से तथा निर्मल मन के द्वारा इस प्रकार जान लेते हैं वह अमृत स्वरूप हो जाते हैं।"

जगद्गुरु शंकराचार्य "अपना विशुद्ध मन ही परम तीर्थ है।.... जिसका मन पवित्र है वही पवित्र है।" महात्मा ईसा मसीह "जिनका अन्तःकरण शुद्ध है, वह धन्य है क्योंकि ईश्वर का साक्षात्कार उन्हीं को होगा।" स्कन्द पुराण (१०।४८) "केवल जल से शरीर का पवित्र कर लेना ही स्नान नहीं कहलाता। जिसका मन भली भाति शुद्ध है उसने वास्तव में तीर्थ स्नान किया।....(६।३४) तीर्थों में भी सबसे बड़ा तीर्थ है अन्तःकरण की आत्यन्तिक शुद्धि।"

"नहाये धोये क्या हुआ, जा मन में मैल समाय।
मीन सदा जल में रहे, धोये वास न जाय॥"

—कबीर।

पद्म पुराण भूमि खंड (६६) "जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है वह स्वर्ग तथा मोक्ष को प्राप्त करता है···तुम यत्नपूर्वक अपने मन को शुद्ध करो, दूसरी बाह्य शुद्धियों से क्या लेना है। जो भाव से पवित्र है, जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, वही स्वर्ग तथा मोक्ष को प्राप्त करता है।"

अतः भगवान विष्णु का आदेश है कि चक्ररूप मन जैसे शक्तिशाली यंत्र को निरंतर अपने हाथ में, अपने नियंत्रण में रखना चाहिए ताकि उसे जिधर घुमाना चाहें, घुमाया जा सके। जब आवश्यकता पड़े, उसकी शक्ति को आसुरी शक्तियों के नाश के लिए भी प्रयत्न किया जा सके। उसकी आज्ञा पालन में तत्पर न होकर उसके स्वामी के रूप में रहना चाहिए। चक्र का निशाना अचूक होता है, वह अपने शत्रु का

सर काट कर अपने मूल स्थान पर लौट आता है। अतः मनकी शक्तियों को विभिन्न दिशाओं में व्यय न करके एक निश्चित मार्ग की ओर ही लगाना चाहिए ताकि वह अपनी समस्त शक्तियों को समेट कर लक्षित कार्य के सम्पादन में ही लगा सके। शक्ति की सिद्धि के लिए मनो-निग्रह आवश्यक है। विश्व शान्ति की स्थापना के लिए चक्र आसुरी शक्तियों का नाश करता है। मन की शान्ति के लिए असुर रूपी दोष, दुर्गुण और मल विक्षेपों का दूर होना भी जरूरी है तभी भगवत्दर्शन होते हैं।

अतः विष्णु भगवान के हाथ में चक्र, मनकी लगामों को अपने हाथ में लेकर उसे निर्देशित मार्ग पर चलाने की प्रेरणा का प्रतीक है।

भगवान की संकल्प शक्ति का नाम है "सुदर्शन" उन्होंने— सृष्टि रचना जैसा महानतम, कल्पनातीत कार्य इसी शक्ति द्वारा सम्पन्न किया है। उपनिषदों में इसका वर्णन इस प्रकार आता है। "उस परमेश्वर ने विचार किया कि मैं प्रगट होऊँ और अनेक नाम रूप धारण करके बहुत हो जाऊँ। इसके बाद उसने तप किया अर्थात् संकल्प का विस्तार किया (एतरेयोपनिषद)।" परमात्मा ने पाँचों सूक्ष्म महाभूतों को तपाया, संकल्प द्वारा मन में क्रिया उत्पन्न की। "(एतरेयोपनिषद १।२)" यह जगत प्रकट होने से पहले एक मात्र परमात्मा ही था। इसके सिवा दूसरा कोई भी चेष्टा करने वाला नहीं था। उस परम पुरुष परमात्मा ने 'मैं निश्चय ही लोकों की रचना करूँ' इस प्रकार विचार किया (एतरेयो-पनिषद) इनमें ऋषि का यह आदेश सन्निहित है कि परमात्मा ने सृष्टि रचना जैसा विशालतम कार्य संकल्प द्वारा पूर्ण किया है। इस लिए महान कार्यों को सम्पन्न करने के लिए संकल्प करने की आवश्यकता है।

संकल्प द्वारा मनुष्य की सभी शक्तियाँ जागृत हो जाती हैं। किसी कठिन कार्य को पूरा करने के लिए जैसे मनुष्य अपनी सारी शक्ति

लगा देता है उसी तरह अपने संकल्प को पूरा करने के लिए वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति को एकत्रित करके एक स्थान पर लगा सकता है। जिस प्रकार सूर्य की बिखरी हुई किरणों से कपड़े पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता परंतु जब उन्हें आतशी शीशे द्वारा एकत्रित कर लिया जाता है तो वह कपड़े को जला देती हैं। उसी प्रकार से जब मनुष्य अपने मन को सब तरफ से हटाकर एक ही कार्य की पूर्ति में लग जाता है तो वह सफल मनोरथ होता है। संकल्प करना मानो अपनी शक्तियों को एकाग्र कर लेना है। इस से संकल्पित कार्य की पूर्ति होती ही है साथ-साथ अपनी साधना में भी उन्नति होती चलती है। यहाँ "एक पंथ दो काज" वाली कहावत चरितार्थ हो जाती है।

संकल्प में महान शक्ति है। इसके द्वारा लक्षित कार्य को सम्पन्न करने की प्रेरणा मिलती रहती है। विचारों से एक तूफान-सा खड़ा हो जाता है। रगड़ से बिजली पैदा होती है। निरन्तर विचारों की रगड़ से चिंतन व मनन से विचारों में बल की वृद्धि होती है। विचारों में बल आने से वह ऐसा मार्ग ढूँढ़ निकालते हैं जिस पर आचरण करके वह कार्य सम्पन्न हो सकता हो।

मनुष्य के जैसे विचार होते हैं वैसे ही कार्य होते हैं। उसे ऊँचा उठाना या पतन की ओर ले जाना विचार शक्ति पर निर्भर है। संकल्प से विचारों में दृढ़ता आती है और असम्भव व पहाड़ जैसे बड़े दीखने वाले कार्य भी सरल हो जाते हैं।

संकल्प करने से अपने ऊपर एक जिम्मेदारी-सी आ जाती है जिसे पूरा करने के लिए चिंता बनी रहती है। उसे वह एक बोझ-सा अनुभव होता है जिसे हल्का करने के लिए वह दिन रात एक कर देता है। यह आम तौर पर देखा गया है कि जिन व्यक्तियों पर किसी

कार्य की जिम्मेदारी होती है वह उस काम को करने के लिए जुटे रहते हैं। और जिन पर कोई जिम्मेदारी नहीं होती, वह उसकी कोई परवाह नहीं करते।

महात्मा गांधी का कहना है कि "प्रतिज्ञाहीन जीवन बिना नींव का घर है। प्रतिज्ञा के बल पर ही यह संसार टिकाऊ हुआ है। प्रतिज्ञा न लेने का अर्थ अनिश्चित या डाँवाडोल रहना है।" संकल्प करने का साहस न करना कमजोरी की निशानी है। ऐसे व्यक्तियों से कोई भी काम सफलतापूर्वक सम्पन्न होना सम्भव नहीं है। श्री जेम्स एलन इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए कहते हैं। "वास्तव में मनुष्य की सबसे ज्यादा कमजोरी उसमें दृढ़ निश्चय व संकल्प की कमी है।" अर्थात संकल्प न करना अपनी कमजोरी प्रदर्शित करना है।

भगवान विष्णु का संकल्प रूपी "सुदर्शन चक्र" अन्यायी, अतताई और आसुरी शक्तियों के विनाश का संकल्प करके जाता है और अपने लक्ष्य की पूर्ति करके ही लौटता है। 'सुदर्शन चक्र' का यह दृढ़ संकल्प हमें प्रेरित करता है कि जीवन संघर्षमय है, पग-पग पर बाधाएँ आती हैं, उन्हें पार करने के लिए और जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए संकल्प करना चाहिए कि मैं अमुक कार्य करके ही रहूँगा, तभी उस क्रिया में जीवन आता है।

सुदर्शन चक्र क्रिया शक्ति का भी प्रतीक है। संकल्प से ही क्रिया का जन्म होता है। संकल्प से मनुष्य की क्रिया शक्ति बढ़ती है। संकल्प का अर्थ शक्तियों का विकास है। क्रिया से बल की वृद्धि होती है। क्रिया हीन व्यक्ति की शक्तियाँ कुण्ठित हो जाती है। सरिता का जल क्रिया शील रहता है तो उसमें जीवन तत्वों की मात्रा अधिक पाई जाती है। खड़ा पानी उस पक्षी की तरह है, जिसके पंख काट लिए जाएँ ताकि वह उड़ने में असमर्थ हो जाए। तभी प्रवाहहीन जल सड़ने लगता

है और चलते पानी में शक्ति का इतना विकास हो जाता है कि उसके सहयोग से विद्युत उत्पन्न की जाती है, मशीनें चलाई जाती हैं अन्य अनेकों कार्य किए जा सकते हैं। शक्ति का प्रयोग जहाँ भी किया जाएगा वहीं सफलता उनका हार्दिक रूप से स्वागत करेगी।

जो व्यक्ति परिश्रम नहीं करते उनका स्वास्थ्य गिरने लगता है, खाना हजम नहीं होता, दस्त साफ नहीं होता, जीवन रसहीन हो जाता है। क्रियाशील जीवन व्यतीत करने वालों के स्वास्थ्य की सुरक्षा रहती है। उनके मुख मण्डल पर एक अपूर्व तेज चमकता है जो क्रियाशीलता का ही द्योतक है। निरन्तर गद्दी पर बैठने वाले व्यापारी का पेट बढ़ जाता है, शरीर ढ़ीला पड़ जाता है। रोग पनपते हैं बढ़ते हैं और उन्हें प्रोत्साहन मिलता है। मजदूर सूखी रोटी खाकर भी अत्यन्त परिश्रम का कार्य करने की क्षमता रखता है। दण्ड, बैठक, दौड़, कुश्ती, मुग्दर आदि व्यायाम से स्वास्थ्य के निखरने का भी यही अभिप्राय है।

केवल चैतन्य जीवों में ही नहीं वरन जड़ पदार्थों में भी यह नियम लागू होता है। लोहा एक स्थान पर पड़ा रहे तो उसे जंग लग जाता है। परन्तु जो सान पर घिसा जाता है, उसकी धार तेज होती है। हीरा को जब खराद पर चढ़ाया जाता है तभी उसका रूप रंग निखरता है अन्यथा वह मिट्टी से सना हुआ एक पत्थर ही लगता है। पत्थर से हीरा बनाने का श्रेय क्रियाशीलता को ही है। स्पष्ट है कि हम भी यदि अपने पत्थर रूपी जीवन को हीरा बनाना चाहते हैं तो हमें इसी अटल सिद्धान्त का अनुकरण करना होगा, तभी जीवन में जीवन आएगा सुदर्शन चक्र हमें इस नियम को दृढ़ता पूर्वक अपनाने की प्ररणा देता है।

• • •

भगवान विष्णु के एक हाथ में कमल रहता है। यह भारतीय संस्कृति का महाप्रतीक माना जाता है। इसका जन्म पंक में होता है। परन्तु फिर भी यह निर्मल और पवित्र रहता है। यह जल में रहते हुए भी उससे अलग रहता है जल से अलिप्त रहता है। कमल के प्रतीक से यह प्रेरणा मिलती है कि हमें संसार में रहते हुए भी उसमें आसक्त नहीं होना चाहिए उससे अलिप्त रहना चाहिए। संसार के भोग बुरे नहीं हैं परन्तु उन्हें त्यागपूर्वक ग्रहण करना चाहिए। परिवार के पालन-पोषण को एक परम पवित्र कर्तव्य मानना चाहिए। हर सदस्य के बौद्धिक व आत्मिक विकास के लिए जी तोड़ प्रयत्न करना चाहिए परन्तु उनमें मोह और ममता नहीं होनी चाहिए। इस जगत की हर वस्तु नश्वर है। उत्पत्ति, स्थिति और विनाश उसकी तीन स्वाभाविक अवस्थाएँ हैं। इनमें से निश्चित रूप से उसे गुजरना है। जिसने जन्म लिया है। उसे अवश्य मरना है उसे असीमितकाल के लिए कोई भी शक्ति नहीं बचा सकती। इस लिए यदि वह शरीर का त्याग करता है तो उसके लिए रोना, धोना व्यर्थ है उसके लिए चिंता करना अज्ञानता है। गीता में भगवान ने स्पष्ट कहा है कि निष्काम भाव से कर्तव्य का पालन करते चले जाओ, परिणाम पर ध्यान न दो। कमल की प्रेरणा है कि सांसारिक कर्तव्यों को करते चले जाओ उनसे घनिष्ठता अनुभव करते हुए भी मोह, ममता, आसक्ति और लिप्तता न हो, यही दुःख से निवृत्ति का मार्ग है।

यह शरीर नश्वर अवश्य है परन्तु यह अत्यन्त दुर्लभ है। विचारों का सृजन और बौद्धिक विकास इसी योनि की विशेषता है।

इस शरीर को भगवान के मन्दिर की संज्ञा दी गई है। जिस तरह मन्दिर को पवित्र, स्वच्छ व हर तरह से आकर्षक रखना पुजारी का कर्तव्य होता है, उस तरह से शरीर को निरोग, स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट रखने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करना चाहिए। शरीर को सुखाना या उसकी उपेक्षा करना वैराग्य नहीं है। वैराग्य तो हमारी भावना और व्यवहार के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। भगवान की इस अत्यन्त सुन्दर रचना की उपेक्षा करना एक घोर अपराध है। स्वास्थ्य की सुरक्षा व स्थिरता के लिए आहार भोग के क्षेत्र में नहीं आता है। इन्द्रियों की आवश्यकताओं की पूर्ति तो होनी ही चाहिये परन्तु उनके विकृत रूप से बचना चाहिये। जैसे स्वास्थ्य के लिए फल, फूल, दूध, घी, मक्खन आदि पौष्टिक पदार्थ तो ग्रहणीय ही हैं परन्तु उनसे बनी हुई अप्राकृतिक वस्तुएँ चाय, पकोड़ी और मिठाई आदि जो केवल जिह्वा के स्वाद के लिए खाई जाती हैं, वह केवल शारीरिक स्वास्थ्य के लिए ही हानिकारक नहीं है वरन यह तामसिक व राजसिक आहार विचारों को भी उसी रंग में रंग देते हैं और उसका जीवन उसी ओर मुड़ जाता है। तामसिक व राजसिक आहार करने वाले व्यक्ति में सात्विक विचार पनप नहीं सकते। परिणामस्वरूप उसका जीवन उसी ढांचे में ढलता जाता है।

भगवान ने स्वयं सृष्टि की रचना की है। उसमें सहयोग देना इस सृष्टि के चक्र को चलाने के लिए एक माध्यम बनना कर्तव्य है। इसके लिए भगवान ने दो विपरीत धाराओं का सृजन किया है। जिस तरह से नेगेटिव और पाजेटिव दो विरोधी धाराओं के मिलने से विद्युत का प्रकाश होता है उसी तरह स्त्री और पुरुष के मिलन से एक नई सृष्टि की रचना होती है। ऋतुमती होने पर स्त्री का मिलन बुरा नहीं है, आवश्यक है परंतु आए दिन का अनावश्यक मिलन भोग है, काम-वासना की पूर्ति करना असंयम है। भोग की इस सीमा का ही शास्त्रों ने विरोध

किया है इसी की घोर निंदा करके इससे दूर रहने की प्रेरणा दी है। इन्हीं को नरक का द्वार दु:ख व बंधन का कारण बताया है।

बृहदारण्यकोपनिषद २।४।२ में स्पष्ट घोषणा है कि "सासारिक सुख सम्पत्ति यथेष्ट मिल जाने पर भी आत्म सुख और शांति नहीं मिल सकती।" इसी उपनिषद में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवाद में मैत्रेयी पूछती है "भगवन! यदि यह धन से सम्पन्न सारी पृथ्वी मेरी हो जाए तो क्या मैं उससे अमर हो सकती हूँ अथवा नहीं?" याज्ञवल्क्यने कहा "नहीं भोग सामग्रियों से सम्पन्न मनुष्यों का जैसा जीवन होता है वैसा भी तेरा भी जीवन हो जाएगा। धन से अमृतत्व की तो आशा है ही नहीं।" कठोपनिषद के अनुसार "जो मूर्ख वाह्य भोगों का अनुसरण करते हैं वह सर्वत्र फैले हुए मृत्यु के बन्धन में पड़ते हैं किंतु बुद्धिमान मनुष्य नित्य अमर पद को विवेक द्वारा जानकर इस जगत में अनित्य भोगों में से किसी को नहीं चाहते अर्थात् उनमें आसक्त नहीं होते।"

धम्मपद १८६।१८७ में भगवान बुद्ध की शिक्षा है जिसमें राजा मान्धाता ने अपने निचोड़ बताते हुए कहा है "कर्षापर्ण नामक महा मूल्यवान सिक्के की यदि वर्षा होने लगे तो भी कामवासना की तृप्ति नही होती और स्वर्ग का सुख मिलने पर भी कामी पुरुष की कामेच्छा पूरी नहीं होती।" विटेलियस नामक रोमन राजा जिह्वा के स्वाद की तृप्ति के लिए दिन में कई वार स्वादिष्ट व्यञ्जन ग्रहण करता था, किसी औषधि के द्वारा कै कर डालता था और पुन: पुन: खाता था परन्तु उसकी कभी तृप्ति नहीं हुई और न ही सुख शान्ति मिली।

महाभारत की कथा के अनुसार राजा ययाति ने अपने एक युवा पुत्र की जवानी ले ली और लगातार एक हजार वर्षों तक भोगों में लिप्त रहा। इन भोगों के अनुभव के रूप में उसके यह उद्गार थे "सुखों के उपभोग से विषय वासना की तृप्ति तो होती नहीं, किंतु विषय

वासना दिनों दिन उसी प्रकार बढ़ती जाती है। जैसे अग्नि की ज्वाला हवन पदार्थों से बढ़ती जाती है।"

भोगों से सर्वनाश का वैज्ञानिक कारण गीताकार ने बताया है कि "विषयों का चिंतन करने वाले पुरुषों का विषयों में संग बढ़ता जाता है। फिर इस संग से यह वासना उत्पन्न होती है कि हमें काम अर्थात् वह विषय चाहिए और इस काम की तृप्ति होने में विघ्न उपस्थित होने पर उस काम से ही क्रोध की उत्पत्ति होती है। क्रोध से अविवेक होता है अविवेक से स्मृतिभ्रंश स्मृति भ्रंश से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से पुरुष का सर्वस्व नाश हो जाता है।" गीता २।६२।६३

भोगों के हानिकारक प्रभाव से बचने के लिए भारतीय मनीषियों ने एक सुगम मार्ग निकाला है। उन्होंने यह सिद्धान्त निर्धारित किया कि भोगों के साथ अपना कुछ लगाव, मोह व आसक्ति मत रखो तो वह बन्धनकारक न होंगे। भगवान लाखों प्रकार के प्राणियों व पदार्थों की सृष्टि करते हैं, परन्तु वह उनसे अलग हैं, अलिप्त रहते हैं। गीता में भगवान ने स्वयं कहा है कि "कर्मो में मेरी कुछ भी आसक्ति नहीं है। इसलिए मुझे कर्म का बन्धन नहीं होता और जो इस तत्व को समझ जाता है वह कर्म–पाश से मुक्त हो जाता है।" गीता (४।१४ व १३।२३)। अन्यत्र कहा है "आसक्ति छोड़ कर कर्म करने वालों को कर्मों का लेप नहीं होता (गीता ५।१०, छांदोग्य ४।१४) ईशावास्योपनिषद् में एक और उपाय बताया गया है कि संसार में जो कुछ है, उसे परमात्मा से अधिष्ठित करे अर्थात् ऐसा समझे कि मेरा कुछ नहीं, उसी का है और इस निष्काम बुद्धि से कर्म करते रह कर ही सौ वर्ष तक जीवित रहने की आकांक्षा करे। इस ईशावास्य बुद्धि से यदि वह कर्म करेगा, तो उन कर्मो का उसे लेप, बन्धन नहीं होगा। इसके अतिरिक्त लेप अथवा बन्धन से छूटने का कोई मार्ग नहीं है (ईश १३)।

महाभारत में जनक और ही ढंग से इसका प्रतिपादन करते हैं "जिस (वैराग्य) बुद्धि को मन में धारण करके मैं सब विषयों का सेवन करता हूँ, उसका हाल सुनो। नाक से मैं अपने लिए वास नहीं लेता, आँखों से मैं अपने लिए नहीं देखता। मन को भी उपयोग में अपने लिए नहीं करता अर्थात् आत्मा के लिए करता हूँ। (अश्व० ३२।१६–२३)।

भोगों में लिप्त व्यक्ति के लिए उपरोक्त सिद्धान्त उत्तम मार्ग दर्शक का काम देते हैं। जब वह आसक्ति छोड़ कर सब कर्मों को ब्रह्मार्पण कर देगा तो उसे दुःख काहे का ? उसे तो प्रभु की प्रसन्नता के लिए अपने कर्तव्य का पालन करना है। रामचन्द्र जी ने अध्यात्म रामायण (२।४।४२) में लक्ष्मण से कहा है "कर्म मय संसार के प्रवाह में पड़ा हुआ मनुष्य बाहरी सब प्रकार के कर्तव्य कर्म करके भी अलिप्त रहता है।"

जिस तरह पानी में रहता हुआ भी कमल का पत्ता उससे अलग रहता है, उसी तरह यदि हम भी संसार के सभी प्रकार के कर्म करते हुए उससे अलग रहने का अभ्यास करलें तो यह जीवन की एक महान विजय होगी। कमल के पानी में रहते हुए उससे अलग रहने की यही प्रेरणा है।

कमल कीचड़ में उत्पन्न होता है, उसके चारों ओर कीचड़ और गंदा पानी होता है परन्तु वह फिर भी निर्मल और पवित्र रहता है। संसार में हमारे चारों ओर भी ऐसा वातावरण है जिसमें स्वार्थ, लोभ, अन्याय, अत्याचार, हिंसा, झूठ, छल, कपट, बेईमानी आदि की प्रत्यक्ष मूर्तियाँ इधर से उधर उछल कूद करती दिखाई देती हैं। सिगरेट, शराब जैसे नशेबाज, माँस भक्षण करने वाले, जुआ खेलने वाले, पराई बहिन बेटियों पर कुदृष्टि डालने वाले, बात-बात पर गंदी

गालियां देने वाले, वेश्या गमन करने वाले, काम वासना की मानसिक तृप्ति के लिए अश्लील फिल्मों को देखने और कामोत्तेजना उत्पन्न करने वाली पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ने वाले बालों की कमी नहीं है। अपने घर और पास पड़ौस, स्कूल कालेज में ऐसे विकृत व्यक्तित्वों का मिलना अब तो एक स्वाभाविक सी बात हो गई है। चारों ओर से यह पाशविक वृत्तियाँ खाने को दौड़ रही हैं। वह अपने अस्त्र शस्त्रों से लैस सदैव आक्रमण के लिए तैयार रहती हैं। अतः उनसे बच कर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ना ही जीवन की सफलता है। चारों ओर के गंदले वातावरण में रह कर भी हम गंदले न हों, हम पर उसकी धूल तक न गिरने पाए, यही विष्णु के हाथ में कमल की प्रेरणा है।

कमल को प्रकाश प्रिय है, वह सदैव प्रकाश के सम्मुख रहता है। जब सूर्य निकलता है, कमल अपनी पंखुड़ियाँ खोल देता है मानो अपनी अपार प्रसन्नता का प्रदर्शन कर रहा हो। जब तक सूर्य रहता है, उसका मुख प्रकाश की ओर ही रहता है। उसे अन्धकार प्रिय नहीं है, वह प्रकाश पर मरता है। वह "तमसो मा ज्योतिर्गमय" का पुजारी है। मानो वह यही प्रार्थना करता रहता है "मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो।" भगवान उसकी पवित्र भावना से ओत-प्रोत प्रार्थना स्वीकार भी कर लेते हैं। कमल की प्रेरणा है कि हमें भी अज्ञानान्धकार और अविवेक से सदैव दूर रहना चाहिए और ज्ञान, प्रकाश, ज्योति और विवेक को आदर्श बनाना चाहिए।

विष्णु के हाथ में रखे भारतीय संस्कृति के महाप्रतीक कमल की यही शिक्षा और प्रेरणा है।

• • •

भगवान विष्णु के एक हाथ में शंख का विशेष महत्व है। हमारे धर्मशास्त्रों में इसे उच्चस्थान प्राप्त है। अथर्व वेद ४।१०।२ में इस सम्बन्ध मे एक मन्त्र इस प्रकार है—

यो अग्रतो रोचनानां समुद्रादधि जज्ञिषे ।
शङ्खेन हत्वा रक्षाँस्यत्त्रिणो विषहामेह ॥

"हे शंख ! तू प्रकाशित नक्षत्र आदि के सन्मुख समुद्र में उत्पन्न होने वाला है, तुझ दमकते हुए शङ्ख से हम राक्षसों और पिशाचों को वशीभूत करते हैं।"

आगे भी इस सूक्त में शङ्ख के महत्व पर प्रकाश डाला गया है।

शङ्खे नामीवाममतिं शङ्खेनोत सदान्वाः ।
शङ्खो नो विश्व भेषजः कृशनः पात्वंहसः ॥
(४।१०।३)

अर्थ—मणि के रूप में प्राप्त होने वाले शङ्ख से रोग और अज्ञान को भी वश में करते और अलक्ष्मी का तिरस्कार करते हैं, यह स्वर्ग से उत्पन्न हुआ संतापनाशक शंख हम को पापों से बचावे।

इस सूक्त के शेष मंत्र भी शङ्ख की महत्ता पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। उनको भी नीचे उद्धृत किया जाता है—

दिवि जातः समुद्रजः सिंधुतसपर्याभृतः ।
स नो हिरण्यजः शंख आयुष्प्रतरणो मणिः ॥ ४ ॥

समुन्द्राज्जातो मणिर्वृत्राज्जातो दिवाकरः ।
सो अस्मान्त्सर्वतः पातु हेत्यादेवासुरेभ्याः ॥ ५ ॥
हिरण्यानामेकोऽसि सोमात् त्वमधि जज्ञिषे ।
रथेत्वमसि दर्शत इपुधौ रोचनस्त्वप्रण आयूषितारिपत् ॥६॥
देवानामस्थि कृशनं बभूव: तदात्म न्वच्चरत्यपस्वन्तः ।
तत् ते वध्नाम्यायुपे वर्च से बलाय दीर्घायुत्वाय-
शतशारदाय कार्श नस्त्वाभि रक्षतु ॥

(अथर्व ४।१०।४-७)

अर्थ—शंख पहले वायु में फिर समुद्र में उत्पन्न हुआ । नदी के उद्गम स्थान से लाया हुआ या स्वर्ण से उत्पन्न शङ्ख की विकार रूप-मणि हमारी आयु को बढ़ावे ॥४॥ अन्तरिक्ष से या समुद्र से उत्पन्न हुआ शङ्ख मणि का उपादान रूप है यह मेघ से उत्पन्न हुआ सूर्य के समान चमकता है । इस शङ्ख का विकार रूप मणि देवता और दैत्यों के उपद्रवों से हमें बचावे ॥५॥ हे शंख ! तू स्वर्ण चाँदी आदि में भी प्रमुख है क्योंकि तेरी उत्पत्ति अमृतमय चन्द्रमण्डल से हुई है । तू युद्ध के समय रथों पर दिखाई देता है । ऐसे शङ्ख की मणि हमारी आयु की वृद्धि करे ॥६॥ शङ्ख का कारण रूप सुवर्ण शङ्ख रूप देह से युक्त हो जल में रहता है । हे यज्ञोपवीत वाले ! ऐसे शङ्ख को तेरी आयु, देहकान्ति और बल के लिए तेरे बाँधता हूँ । यह मणि तुझे शतायुष्य करती हुई रक्षक हो ॥७॥

बृहदारण्यक उपनिषद और अन्य श्रौतग्रन्थों में भी शङ्ख की महत्ता पर पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है । "कौशिक सूत्र" में बच्चों के शरीर पर अभिमन्त्रित शङ्ख बाँधने का विधान रखा गया है जिसे आयु बढ़ाने का सूचक माना जाता है । नक्षत्र कल्प (६ १०।२) में इसे लम्बी आयु प्राप्त कराने वाला, एक महान औषधि और पापों का नाश करने वाला बताया गया है । "सांख्य दर्शन" में इसके लाभों का संकेत मिलता

है। गीता १।१५-१६ में भी आया है, कि भगवान कृष्ण ने पाञ्चजन्य, युधिष्ठिर ने अनन्त विजय, भीमसेन ने पौण्ड्र, अर्जुन ने देवदत्त, नकुल ने सुघोष, सहदेव ने मणिपुष्पक नाम के शंख बजाए थे।

हिन्दू धर्म शास्त्रों में शङ्ख की उपरोक्त महत्ता अर्थपूर्ण है जिसे आधुनिक विज्ञान ने भी सिद्ध कर दिया है। प्रायः लोग कहा करते हैं "शङ्ख बाजे-भूत भागे"। यह भी मान्यता है कि कीटाणु, सूक्ष्म भूतों में होते हैं। शङ्खध्वनि जहाँ-जहाँ जाती है, वहाँ-वहाँ के रोग कीटाणु नष्ट हो जाते हैं और वायु शुद्ध हो जाती है। इस तथ्य की पुष्टि भारत के जगत प्रसिद्ध वैज्ञानिक श्री जगदीश चन्द्र वसु ने अपने अनुभवों द्वारा की है। उनका कहना है कि शङ्खध्वनि से संक्रामक रोगों के विषयुक्त परमाणु नष्ट हो जाते हैं और वहाँ की वायु शुद्ध हो जाती है। इस प्रकार से विज्ञान भी शङ्खध्वनि को रोग नाशक व आरोग्यवर्द्धक सिद्ध करता है।

शङ्ख के गुण यहीं एक सीमित नहीं है। उसके अन्य अनेकों अद्भुत गुण हैं। यह गूँगों को बोलने की शक्ति प्रदान करता है। इसके लिए अनेकों प्रकार के प्रयोग किये जाते हैं। गूंगे व्यक्ति यदि स्वयं रोज तीन चार बार शङ्खध्वनि करें, शङ्ख का जल पियें, शङ्ख की भस्म खाएं और छोटे-छोटे शङ्खों की माला पहनें तो उन्हें भाषण-शक्ति प्राप्त होते देखा गया है।

आयुर्वेदाचार्यों ने भी शङ्ख के सम्बन्ध में अनुसंधान किया था। उनके प्रयोगों ने सिद्ध किया है कि शङ्ख भस्म व द्रव से अनेकों कष्ट-साध्य रोगों का निवारण होता है। इसके योग से अनेकों दिव्य औषधियों का निर्माण हुआ है। इसकी भस्म के सेवन से पीलिया रोग व पथरी दूर होती है। द्रव से तिल्ली व मूत्र सम्बन्धी रोग दूर होते हैं। इसे घिसकर लगाने से गण्डमाला में लाभ होता है। नेत्र रोगों क्षय,

कमजोरी आदि रोगों पर इसका प्रयोग होता है। दांत के रोगों और संग्रहणी पर यह लाभप्रद देखा गया है।

इन्हीं गुणों को देखते हुए प्राचीनकाल में बालकों के गले में छोटे-छोटे शखों की माला पहिना दी जाती थी। उससे दो लाभ होते थे। एक तो उनके शीघ्र बोलने मे सहायता मिलती थी। दूसरे इससे स्वस्थ बच्चों के दृष्टिदोष का भी निवारण होता है। प्राचीन काल में कुमारी कन्यायें शख की चूड़ियाँ पहिनती थीं।

शङ्ख के रोग नाशक व आरोग्यवर्द्धक गुणों के कारण इसे भारतीय धार्मिक साहित्य और विधि विधान में महत्त्व पूर्ण स्थान प्राप्त है। हमारे दूरदर्शी ऋषियो की यही नीति रही है कि अपने दीर्घकालीन अनुभव व अनुसंधान के आधार पर लाभप्रद वस्तुओं को उन्होंने धर्म विधान के साथ जोड़ दिया है ताकि इसका लाभ प्राप्त होता रहे।

पौराणिक कथा के अनुसार समुद्र-मंथन के समय समुद्र से निकलने वाले १४ रत्नों में से शङ्ख को भी एक रत्न दिखाया गया है। भगवान विष्णु इसे नित्य धारण करते है। यह हिंदू संस्कृति का श्रेष्ठ चिह्न माना जाता है इसकी महत्ता भारतीय संस्कृति में पूर्ण बौद्धिक व वैज्ञानिक आधार पर है।

स्थूल रूप मे यह वायु शोधक व रोग कीटाणु नाशक है। अनेकों रोगों से सुरक्षित रखता है और अनेकों के निवारण में लाभ-दायक सिद्ध हुआ है। यह कीटाणु रूपी राक्षसों को नष्ट करने वाला है। राक्षस और असुर बुरे विचारों के प्रतीक होते हैं जो सर्वत्र आकाश में चारों ओर घूमते रहते हैं। जिस तरह से रोग कीटाणु शरीर के निर्बल भाग पर आक्रमण करके उसे रोगग्रस्त कर देते हैं, उसी तरह यह असुर रूपी बुरे विचार निरन्तर अपना आहार और शिकार देखते रहते हैं और उचित अवसर देखकर बरस पड़ते हैं। इनके आक्रमण की भूमि व्यक्ति

का कमजोर मन होता है। ऐसे व्यक्ति को प्रभवित करके यह उसे कुमार्ग पर प्रवृत करते हैं। वह इस मार्ग को बुरा मानते और समझते हुए भी इसकी ओर चलता है, किसी अज्ञात शक्ति की आज्ञा से। देव पुरुष इन अत्याचारों को सहन नहीं कर सकते और उनसे युद्ध और संघर्ष करते हैं। इन असुरों का नाश ही उनके जीवन का ध्येय होता है क्योंकि इसी से विश्व में शांति की स्थापना हो सकती है। पौराणिक कथाओं में देवताओं और असुरों में युद्ध होने का अभिप्राय यही है। विष्णु के शंख में सात्विक शक्तियाँ ओत-प्रोत हैं। शङ्ख से ध्वनि होती है। ध्वनि की गति अत्यन्त तीव्र और असाधारण है। क्षण भर में हजारों मील की यात्रा करती है। विष्णु का शङ्ख जब बजता है तो वह एक व्यापक क्षेत्र को प्रभावित करता है। उस मार्ग में जो भी आसुरी शक्तियाँ आती हैं, वह उन्हें नष्ट करता जाता है। चक्र से सर कटता जाता है आसुरी राज्यों को समाप्त करके दैवी राज्यों की स्थापना करता जाता है। दैवी शक्तियाँ सदविचारों का ही प्रसार करती हैं। माध्यम उसका भाषण, पुस्तक, लेख, वार्ता या कुछ भी हो, अच्छे विचारों का प्रसार होना चाहिए, अधर्म का नाश करके धर्म का चक्र चलना चाहिए। दिव्य पुरुषों का यही कर्तव्य है। विष्णु भगवान भी यही चाहते हैं कि सद्विचारों की सम्पत्ति अपने पास हो उसे तिजोरी में बंद रखना अपराध है, उसे खुले रूप से वितरण करना चाहिए, जो शक्तियाँ धर्म के विरुद्ध कार्य कर रही हों, उन्हें नष्ट करने में ही यह सम्पत्ति लगा दें। जहाँ तक सम्भव हो लोगों को दुर्गुणों से छुड़ाएँ और उन्हें अच्छे मार्ग पर चलने की प्रेरणा दें। शंख ध्वनि की तरह अपनी गतिविधियों को तीव्र रखें और पूरी शक्ति से कार्य करें, मुर्दों की तरह केवल लकीर पीटने से कोई लाभ नहीं है विष्णु का शंख यह महत्वपूर्ण लक्ष्य निर्धारित करने की प्रेरणा देता में। सच्चा विष्णुभक्त वही है जो अपनी समस्त शक्तियों को दिव्य विचारों के प्रसार में लगा देता है।

• • •

विष्णु पुराण प्रथम अंश अध्याय २२ श्लोक ६६ में विष्णु के हाथ में गदा को बुद्धि का प्रतीक माना गया है। गदा शक्ति का रूप है। बुद्धि तो महानतम शक्ति है। बुद्धिमान व्यक्ति बुद्धिबल के सहारे हजारों लाखों व्यक्तियों का नेतृत्व करता है, उनका निर्देशन करता है। उनको अपने पीछे लगाता है। अन्य सभी शक्तियाँ इसी के चारों ओर घूमती हैं। बुद्धि के सहयोग से ही धन, विद्या, यश, संगठन आदि शक्तियों का सृजन और विकास होता है। विष्णु की गदा अन्याय का समर्थन करने वाली आसुरी शक्तियों का दलन करती है। सात्विक बुद्धि सम्पन्न व्यक्ति ही निःस्वार्थ भाव से समाज और राष्ट्र की सेवा करता है अपनी समस्त शक्तियों का बलिदान करता है, अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करता है, संगठन बना करके समाज में देवत्व का विकास करता है, आसुरी तत्वों का विरोध करता है, उनके नाश का प्रयत्न करता है।

मनुष्य को मन जैसा शक्तिशाली यंत्र प्रयोग के लिए मिला है। इसका वेग अत्यन्त तीव्र है। इसी लिए इसे चंचल की संज्ञा दी गई है। यह चंचलता इस का स्वभाव है। एक स्थान से दूसरे स्थान तक घूमते रहना उसे अच्छा लगता है। इससे उसकी मूल शक्ति का व्यय होता रहता है। उसकी इस चंचल वृत्ति को रोकना शक्ति को सुरक्षित रखना है। उसे एक निश्चित दिशा में लगाने के लिए उससे अधिक बलवान शक्ति की आवश्यकता है। परमात्मा ने इस कार्य के लिए बुद्धि की नियुक्ति की है। वह ही मन को उचित मार्ग में चलने का निर्देशन देने

की क्षमता रखती है क्यों कि वह मन से भी अधिक शक्तिशाली है और उसे अपने नियंत्रण में रख सकती है। शास्त्र भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं।

मन से भी बलवती बुद्धि है। (कठोपनिषद् १।३।१०) "क्योंकि बुद्धि मन से भी सूक्ष्म है।" कठोपनिषद २।३।७ "मन से बुद्धि उत्तम है।" योग वशिष्ठ "मन को प्रेरने वाली बुद्धि है, जो निश्चय बुद्धि करती है मन भी वहीं जाता है।" गीता ३।४२ " मन की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ एवं परे हैं।" जिस बात का बुद्धि निश्चय करती है वह मन को करना पड़ता है। बुद्धि विचार करती है यह लाभदायक है करने योग्य है, इसे करो, यह हानिकारक है, न करने योग्य है, इसे मत करो। चूंकि मन बुद्धि के अधिकार में है इस लिए वेचारे को उसकी बात को मानना ही पड़ता है। महाभारत में आया है कि "बुद्धि इन्द्रिय व्यवसाय करती है।' अर्थात सार-असार विचार करके कुछ निश्चित करती है और मन व्याकरण अथवा विस्तार है। वह अगली अवस्था करने वाली प्रवर्तक इन्द्रिय है अर्थात बुद्धि व्यवसायत्मिकता है और मन व्याकरणात्मक है (शान्ति २५१।११) "यथार्थ में बुद्धि एक तलवार है जो कुछ उसके सामने आता है या लाया जाता है उसकी काट छाँट करना ही उसका काम है। (म० भ० वन० १८१।२६)" गीता २।४१ "हे कुरुनन्दन ! इस मार्ग में व्यवसाय बुद्धि अर्थात कार्य और अकार्य का निश्चय करने वाली (इन्द्रिय रूपी) बुद्धि एक (अर्थात एकाग्र) करनी पड़ती है क्योंकि जिनकी बुद्धि का (इस प्रकार एक) निश्चय नहीं होता, उनकी बुद्धि अर्थात वासनायें अनेक शाखाओं से युक्त और अनन्त प्रकार की होती हैं।...(४९) बुद्धि के (साम्य) योग की अपेक्षा (वाह्य) कर्म बहुत ही हीन हैं।" इस लिए बुद्धि को न्यायाधीश भी कहते हैं क्योंकि उसका काम सामने उपस्थित बातों का सार-असार विचार करके निश्चय करने का है और मन मुन्शी है, सब कागजात सामने पेश करता है। मन

को यकीन भी कहा जाता है। कोई बात ऐसी है (संकल्प) कोई बात उसके विरुद्ध वैसी है (विकल्प) इत्यादि कल्पनाओं को बुद्धि के सामने निर्णय करने के लिए पेश किया करता है। इसीलिए इसे संकल्प विकल्पात्मक अर्थात बिना निश्चय किए केवल कल्पना करने वाली इन्द्रिय कहा है।

कठोपनिषद १।३।३ में यम व नचिकेता के संवाद में यम नचिकेता से कहते हैं "तुम जीवात्मा को तो रथ का स्वामी (उसमें बैठकर चलने वाला) समझो और शरीर को ही रथ समझो तथा बुद्धि को सारथी (रथ चलाने वाला) समझो और मन को ही लगाम समझो १।३।४। ज्ञानीजन इस रूपक में इन्द्रियों को घोड़े बतलाते हैं और विषयों को उन घोड़ों के विचरने का मार्ग बतलाते हैं, तथा शरीर इन्द्रिय और मन इन सब के साथ रहने वाला जीवात्मा ही स्वामी है यूं कहते हैं ।" रथ को घोड़े ही चलाते हैं परन्तु उन घोड़ों को जिस मार्ग पर जाना चाहें यह लगाम हाथ में पकड़े हुये बुद्धिमान सारथी का काम है। इन्द्रिय रूपी बलवान घोड़े स्वाभाविक ही विषयों की ओर मनमानी दौड़ लगाना चाहते हैं पर यह बुद्धि रूपी सारथी पर निर्भर है कि वह मन रूपी लगाम को खींच कर अपने वश में रखे, तब घोड़े मन रूपी लगाम के सहारे बिना चाहे जिस ओर नहीं जा सकते। यह सर्व विदित है कि मन के साथ होने पर ही इन्द्रियाँ विषयों का ग्रहण कर सकती हैं। लगाम के सहारे ही घोड़े दौड़ते हैं पर इस लगाम को ठीक रखना सारथी केवल बुद्धि के ऊपर निर्भर करता है। यदि सारथी मार्ग पर चलने में कुशल न हो, मन रूपी लगाम को काबू में न कर सके तो तो इन्द्रिय रूपी घोड़े लगाम के सहारे रथ को अपने वश में कर लेते हैं और रथ समेत रथी तथा सारथी को गढ्ढे में गिरा देते हैं। इसीलिये यजुर्वेद में कहा है "अच्छा सारथी संग्राम के रथ में स्थित हुआ जहाँ जाना चाहता है वहां-वहां घोड़ों को अग्रसर करता है। अतः मन के

पीछे सारथी की इच्छानुसार लगामें नियन्त्रण करती है। हे विद्वानो! लगामों की महिमा को प्रशंसित करो।

मन रूपी लगाम को हाथ में रखकर सद् मार्ग पर चलाने का काम वुद्धि रूपी सारथी का ही है परन्तु वुद्धि का पवित्र निर्मल और सात्विक वृत्ति का होना अत्यन्त आवश्यक है। शास्त्र भी ऐसा ही निर्देश देते हैं।

कठोपनिषद १।३।५ "जो सदा विवेकहीन बुद्धि वाला और अवशीभूत (चंचल) मन से युक्त रहता है, उस की इन्द्रियाँ असावधान सारथि के दुष्ट घोड़ों की भाँति वश में न रहने वाली हो जाती हैं।.... १।३।६ परन्तु जो सदा विवेकयुक्त वश में किए हुए मन से सम्पन्न रहता है उसकी इन्द्रियाँ सावधान सारथि के अच्छे घोड़ों की भाँति वश में रहती हैं।...१।३।७ जो कोई सदा विवेकहीन वुद्धि वाला असंयत चित और अपवित्र रहता है, वह उस परमपद को नहीं पा सकता अपितु वार-बार जन्म-मृत्यु रूप संसार चक्र में ही भटकता रहता है...१।३।८ परन्तु जो सदा विवेकशील बुद्धि से युक्त संयत चित और पवित्र रहता है, वह तो उस परमपद को प्राप्त हो जाता है जहाँ से लौट कर नहीं आता १।३।६ जो कोई मनुष्य विवेकशील बुद्धि रूपी सारथी से सम्पन्न और मन रूपी लगाम को वश में रखने वाला है वह संसार मार्ग के पार पहुँच कर परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान के उस सुप्रसिद्ध परमपद को प्राप्त हो जाता है।"

श्वेताश्वतरोपनिषद "वह जगतकर्ता" महात्मा परम देव, परमेश्वर सर्वदा सव मनुष्यों के हृदय में सम्यक प्रकार से स्थित है तथा हृदय से वुद्धि से और मन से ध्यान में लाया हुआ प्रतीत होता है। जो साधक इस रहस्य को जान लेते हैं, वे अमृत स्वरूप हो जाते हैं।" महोपनिषद में महर्षि ऋभु अपने पुत्र निदाघ को उपदेश देते हुए कहते हैं "ब्रह्मन! भाँति-भाँति के मलों से मलिन इस मन रूपी मणि की सिद्धि

के लिए विवेक रूपी जल से धोकर आलोकवान बनो। श्रेष्ठ विवेक का आश्रय लेकर बुद्धि से सत्य का साक्षात (निश्चय) करके इन्द्रिय रूपी शत्रुओं को पूर्णतयः छिन्न कर संसार सागर से पार हो जाओ।"

जनक-महाभारत शान्ति० ३१६।४० "जिस प्रकार अन्धकार से व्याप्त हुआ घर दीपक के प्रकाश से स्पष्ट दीख पड़ता है उसी प्रकार बुद्धि रूपी दीपक की सहायता से अज्ञान से आवृत आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है।" कठोपनिषद २।३।६ "इस परमेश्वर का वास्तविक स्वरूप अपने सामने प्रत्यक्ष विषय के रूप में नहीं ठहरता। इसको कोई भी चरम चक्षुओं द्वारा नहीं देख पाता। मन से बार-बार चिंतन करके ध्यान में लाया हुआ (वह परमात्मा) निर्मल और निश्चल हृदय से और विशुद्ध बुद्धि के द्वारा देखने में आता है।....१।२।२ यह सबका आत्म रूप परम सुख समस्त प्राणियों में रहता हुआ भी माया के परदे में छिपा रहने के कारण सबको प्रत्यक्ष नहीं होता। केवल सूक्ष्म तत्वों को समझने वाले पुरुषों द्वारा ही अति सूक्ष्म तीक्ष्ण बुद्धि से देखा जाता है।"

लोकमान्य तिलक "परम शुद्ध बुद्धि वाले मनुष्य के हाथ से कुकर्म होना उतना ही सम्भव है-जितना कि अमृत से मृत्यु हो जाना।" गीता "बुद्धि के नाश से सर्वनाश हो जाता है।" म० भ० उद्योग पर्व "जब देवता किसी की रक्षा करना चाहते हैं तो उसकी बुद्धि को सन्मार्ग की ओर लगाते हैं और जब उसका नाश करना चाहते हैं तो उसकी बुद्धि को बिगाड़ देते हैं।" चाणक्य "हे भगवान ! यदि मेरे बुरे कर्मों के कारण मेरा सब कुछ छिन जाए, धन दौलत, जमीन, मकान, परिवार सुख सब का अन्त हो जाए और मेरे शरीर का एक-एक अंग छीन ले तो भी केवल एक वस्तु रहने दे मेरे पास—मेरी बुद्धि।" चरक "बुद्धिका बिगड़ जाना ही सब रोगों का मूल कारण है।"

गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है—

"जहाँ सुमति तहाँ सम्पद नाना ।
जहाँ कुमति वहाँ विपद बखाना ।।"

बुद्धि ही शक्ति और सिद्धि है, उसी पर लौकिक और पारलौकिक शान्ति निर्भर करती है परन्तु यह शक्ति सुरक्षित तभी तक रहती है जब तक वह सात्विक रहती है। सात्विक बुद्धि से सत्य का साक्षात्कार होता है, सभी सम्पत्तियों की वर्षा होती है। यदि इसमें तामसिकता और राजसिकता का प्रवेश होगया तो शक्तियाँ क्षीण होने लगेंगी। गदा के प्रतीक रूप में भगवान विष्णु प्रेरणा देते हैं कि इस मूल्यवान शक्ति को सुरक्षित रखना चाहिये ताकि मनको नौकर की तरह अपनी इच्छानुसार चलाया जा सके और यदि दोष, दुर्गण और बुरे विचार रूपी आसुरी शक्तियाँ सर उठाती हैं तो उनको नाश करने का साहस, उत्साह और क्षमता बनी रहे।

• • •

विष्णु पुराण १।२२।६८ के अनुसार इस जगत के निर्लेप तथा निर्गुण और निर्मल आत्मा को अर्थात् शुद्ध क्षेत्रज स्वरूप को भगवान विष्णु कौस्तुभ मणि रूप से धारण करते हैं। कौस्तुभ मणि की चमक से विष्णु के स्थूल विग्रह की शोभा बढ़ती है। आत्मा की ज्योति से मानव का अन्तःकरण जगमगा उठता है। चारों ओर सात्विक प्रकाश करना ही उसका गुण है। वह शुद्धता और पवित्रता की प्रतीक है। उसमें अशुद्धता का एक अंश भी नहीं है। वह प्रकाश स्वरूप है। श्वेताश्वतरोपनिषद ५।८ में इसे सूर्य के समान प्रकाश वाला कहा गया है। बृहदारण्यकोपनिषद (अध्याय ४, तृतीय ब्राह्मण) में आत्मा को पुरुष की ज्योति कहा है यह ज्योति वायु के झोंकों से बुझने वाली नहीं है। यह शास्वत है, नित्य है। इसका नाश नहीं होता। सृष्टि का नाश हो जाता है, प्रलय आ जाती है। परन्तु यह बनी रहती है। न इसका जन्म हुआ है और न इसकी मृत्यु होगी। कठोपनिषद १।२।१६ में कहा है कि "यह आत्मा न तो किसी को मारता है और न मारा जाता है।" नरसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद के सप्तम खण्ड के अनुसार "आत्मा अज (जन्म रहित) अमर (मृत्यु रहित) अज (जरा रहित), अमृत स्वरूप, अभय, अशोक (शोक हीन) अमोह (मोह शून्य), अनशनाय (भूख रहित) अपिपास (प्यास से रहित) तथा अद्वैत है। इसी उपनिषद के नवम खण्ड में आत्मा का वर्णन करते हुए कहा गया है। "आत्मा एक मात्र अद्वितीय ही है। यह नित्य शुद्ध, बुद्ध, सत्य, मुक्त,

निरञ्जन, आनन्दमय, और सर्वोत्कृष्ट है।" तिलक ने गीता २।२३ का भाष्य करते हुए लिखा है "आत्मा ऐसा कोई पदार्थ नहीं है कि यदि हम सृष्टि के अन्य पदार्थों के समान उस पर तेजाब आदि द्रव पदार्थ डालें तो उसका द्रव रूप हो जाए अथवा प्रयोगशाला के पैने शस्त्रों से काट-छाँट कर उसका आन्तरिक स्वरूप देख लें या आग पर धर देने से उसका धुआँ हो जाए अथवा हवा में रखने से वह सूख जाए। आत्मा नित्य और अमर है। वह आज है, कल था और कल भी रहेगा ही। गीता २।३० में भी कहा है 'सबके शरीर में निवास करने वाला शरीर का स्वामी आत्मा सर्वदा अवध्य है, इसका वध नहीं किया जा सकता।" आत्मा की ज्योति कभी बुझने वाली नहीं है। इसी लिए गीताकार ने ३।१७ में आश्वासन दिया है कि जो व्यक्ति आत्मा में ही रत, तृप्त और सन्तुष्ट हो जाता है। उसके लिए कोई भी कार्य करना शेष नहीं रह जाता। इसी लिए छान्दोग्योपनिषद (८।४) में आत्मा की महिमा का गान करते हुए कहा गया है "जो आत्मा है, वह इन लोकों के असम्भेद (पारस्परिक असंघर्ष) के लिए इन्हें विशेष रूप से धारण करने वाला सेतु है। इस सेतु का दिन-रात अतिक्रमण नहीं करते। इसे न जरा, न मृत्यु, न शोक और न सुकृत या दुष्कृत ही प्राप्त हो सकते हैं, सम्पूर्ण पाप इससे निवृत्त हो जाते हैं क्योंकि यह ब्रह्मलोक पाप शून्य है। इस लिए इस सेतु को तर कर पुरुष अन्धा होने पर भी अन्धा नहीं होता, विद्ध होने पर भी अविद्ध होता है, उपतापी होने भी अनुपतापी होता है, उसीसे इस सेतु को तर कर अन्धकार रूप रात्रि भी दिन हो जाती है।"

जिस जीव को आत्मा का यह प्रकाश मिल जाता है। परिस्थितियाँ उसे प्रभावित नहीं कर सकतीं, वह उनका दास होकर चिंतित और निराश नहीं होता। वह तो असफलताओं को भी सफलताओं का जनक मानता हुआ आगे बढ़ता जाता है। वह असफलता

को अपना दुर्भाग्य नहीं मानता वरन् अधिक संघर्ष करने के लिए अवसर प्रदान करने वाली देवी समझता है। वह जानता है कि विश्व की समस्त शक्तियाँ बीज रूप में उसकी आत्मा में समाविष्ट हैं। अतः ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में जिस सीमा तक कोई भी प्राणी बढ़ पाया है, वहाँ तक मेरी भी पहुंच सम्भव है। परिश्रम करके उसे विकसित मात्र करना है। वह हर कार्य में आदर्श आत्म-विश्वास के साथ चलता है। वह अपने को तुच्छ नहीं, महान समझता है, स्वावलम्बन की प्रवृति को जाग्रत करता है और निरन्तर जीवन यात्रा में आगे बढ़ता जाता है। मार्ग में जो भी रोड़े आते हैं उन्हें पार करता जाता है। जिस प्राणी में यह आत्म विश्वास नहीं, उसी के अन्तः आकाश में चिंताओं, परेशानियों निराशाओं और कठिनाइयों के बादल छाए रहते हैं।

आत्म विश्वासी दृढ़ संकल्प वाला होता है। संकल्प वह शक्ति है जिसके सामने सफलताएँ मस्तक झुकाती हैं। संकल्प सिद्ध व्यक्ति की सभी कामनाएँ पूर्ण होती हैं। छान्दोग्योपनिषद ८।२ में आत्मज्ञानी की संकल्प सिद्धि का वर्णन करते हुए कहा गया है "वह यदि पितृलोक, मातृलोक, भ्रातृलोक, भगिनी लोक, सखाओं के लोक, गन्धमाल्य लोक अन्नपान सम्बन्धी लोक, गीत वाद्य सम्बन्धी लोक, स्त्री-लोक की कामना वाला होता है तो उसके संकल्प से पितृ गण, माताएँ, भ्रातृ गण, बहनें सखा, गन्ध माल्यादि, अन्नपान, गीत वाद्य स्त्रियाँ उसके पास उपस्थित हो जाती हैं अर्थात् उसके आत्म सम्बन्धी हो जाते हैं और उन लोकों से महिमान्वित होता है। वह जिस जिस प्रदेश की कामना करने वाला होता है और जिस जिस भोग की इच्छा करता है, वह सब उसके संकल्प से ही उसको प्राप्त हो जाता है। उससे सम्पन्न वह महिमा को प्राप्त होता है।"

संकल्प के साथ ही आशा, उत्साह साहस और धैर्य जुड़े हुए हैं। वह कभी निराश नहीं होता, शिथिल मन से काम नहीं करता, भय और

आशंका उसे घेरते नहीं, न वह जल्दबाजी करता है। कौस्तुभ मणि की स्थायी चमक इन शक्तियों की प्रतीक है।

विष्णु विश्व के पालक, पोषक व रक्षक हैं। जिस मणि को वह आत्मा रूप में धारण करते हैं, वह शक्तियों की शक्ति है, उससे बड़ी शक्ति संसार में है नहीं। कठोपनिषद १।३।१० में कहा है "इन्द्रियों से विषय बलवान हैं, विषयों से मन, प्रबल है, मन से भी बुद्धि बलवती है, बुद्धि से भी महान आत्मा अत्यन्त श्रेष्ठ और बलवान है।" अत: विष्णु सबसे महान शक्ति को धारण करते हैं।

परमात्मा सब काम करते हुए भी अलिप्त रहता है। आत्मा का भी यही गुण है। गीता १४।३१,३२ में कहा है "अनादि और निर्गुण होने के कारण यह अव्यक्त परमात्मा शरीर में रह कर भी कुछ करता-धरता नहीं है और उसे किसी भी कर्म का लेप अर्थात् बन्धन नहीं लगता। जैसे आकाश चारों ओर भरा हुआ है परन्तु सूक्ष्म होने के कारण उसे किसी का भी लेप नहीं लगता वैसे ही देह में सर्वज्ञ होने पर भी आत्मा को किसी का लेप नहीं है।" विष्णु सभी कार्य करते हुए अलिप्त रहते हैं क्योंकि वह आत्मवान हैं।

जो कौस्तुभ मणि अर्थात् आत्मा को धारण करता है, वह समभाव में स्थिर रहता है, वह सांसारिक प्रहारों से प्रभावित नहीं होता। गीता ६।७ में कहा है "जिसने अपने मात्मा को जीत लिया है, वह सर्दी, गर्मी, सुख दु:ख और मान अपमान में सम व स्थिर रहता है।"

यह आत्मा सब प्राणियों में समान रूप से प्रतिष्ठित है "जिसका आत्मा योग युक्त हो गया है उसकी दृष्टि सम हो जाती है। और उसे सर्वत्र ऐसा दीख पड़ने लगता है कि मैं सब प्राणियों में हूं और सब प्राणी मुझ में हैं (गीता ६।२९) सब भूतों में एक आत्मा है, जिसके मन में यह पहचान जिन्दगी भर के लिए स्थिर हो गई वह कर्मभोग का आचरण

करते ही परमेश्वर को पा लेता है (तिलक) कैवल्योपनिपद के ऋषि का कहना है कि "जो आत्मा को सब भूतों में देखता है तथा सब भूतों को आत्मा में देखता है। वह परब्रह्म को प्राप्त करता है, दूसरे किसी उपाय से नहीं।"

विष्णु कौस्तुभ मणि पर कभी धूल नहीं जमने देते। उनकी आत्मा सदैव पवित्र शुद्ध व निर्मल रहती है। वह भोग वासनाओं में लिप्त होकर उस पर मल विक्षेप नहीं चढ़ा देते। उनका विवेक निरन्तर जाग्रत रहता है।

आत्मा (कौस्तुभ मणि) की चमक से वह अपनी वास्तविकता को नहीं भूलते। वह अपने को शरीर कभी नहीं मानते भले ही अधर्म के नाश के लिए अनेकों बार अवतरित हुए हो। उन्हें आत्मज्ञान रहता है। वह सभी सांसारिक कार्यों को करते हैं परन्तु उनका आत्मज्ञान ज्यों का त्यों बना रहता है।

विष्णु अपने आत्म संयम को जाग्रत रखते हैं। दुष्प्रवृत्तियों व बुरे विचारों की गन्दगी अपनी आत्मा पर जमने नहीं देते। सत्य अहिंसा जैसे प्रमुख धर्मों को विकसित रखते हैं। भोग में त्याग के सिद्धांत को व्यवहारिक रूप देते हैं। अपनी वृत्तियों को बिखरने नहीं देते। एक सुनिश्चित दिशा की ओर ही लगाते हैं। तभी वह हर योजना में सफल होते हैं।

आनन्द आत्मा का धर्म है। कौस्तुभ मणि रूपी आत्मा को धारण करने वाले विष्णु क्षीर-सागर में निवास करते हैं। क्षीर सागर में निवास करना भौतिक रूप से सुखों के भण्डार से अभिप्रेत है। क्षीर सागर ऐश्वर्य का ही प्रतीक है। वह केवल भौतिक रूप से ही नहीं आत्मिक रूप में भी आनन्द मग्न रहते हैं। विश्व रूपी सागर की उछलती कूदती लहरें उन्हें छू तक नहीं पातीं। वह अपने आनन्द स्वरूप में स्थित रहते हैं।

कौस्तुभ मणि विष्णु के भौतिक शरीर का शृङ्गार है। उनका वास्तविक रूप यह नहीं है। वह तो विश्वव्यापी देव हैं। वह स्थूल नहीं सूक्ष्म है। आत्मा रूप में कौस्तुभ मणि को ही वह धारण करते हैं।

संसार के सभी प्राणियों में यह आत्मा समान रूप से व्याप्त है। किसी में सुप्त अवस्था में है किसी में विकसित दिशा में। उसके गुणों को पूर्ण रूप से धारण करता है, उसका सम्मान है। भगवान विष्णु भी चाहते हैं कि उनके भक्त अपना आत्म निरीक्षण करें, अपने को पहचानें अपने को नश्वर शरीर नहीं वरन अविनाशी आत्मा मानें। जगत के सुख दुःखों से प्रभावित न होकर आनन्दमय स्थित में रहें, अपने आत्म-ज्ञान को जाग्रत रखें, उसकी मूलभूत पवित्रता पर कोई आँच न आने दें। यह आत्मज्योति निरन्तर जलती ही रहे। इसे शक्ति-रूप माने और हर क्षेत्र में सफलताओं के नए मापदण्ड प्रस्तुत करता हुआ जीवन क्षेत्र में उत्साह के साथ आगे बढ़ता ही जाए। यही कौस्तुभ मणि का प्रतीक विचार है।

• • •

भगवान विष्णु पचरूपा वैजयन्ती माला धारण करते हैं जिसमें मुक्ता माणिक्य मरकत इन्द्रनील और हीरकमणि लगे हैं। विष्णु पुराण १।२२।७२ के अनुसार वह पंचमहाभूतों के प्रतीक है। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश यह पंच महाभूत हैं। भगवान इनसे अलंकृत हैं। इन्हें धारण किए हुए है। इन्हीं से वह शोभायमान हो रहे हैं।

यह मणियाँ तो संकेत मात्र है। यदि महाभूतों के स्वरूप की कल्पना की जाए तो इस प्रकार की करोड़ों मणियाँ भी उनकी वास्तविक शोभा में समक्ष तुच्छ लगने लगती हैं। एक सूर्य सारी पृथ्वी को प्रकाशित करता है। एक चन्द्रमा सारी पृथ्वी पर अपनी शीतल किरणें पहुँचाता है। और समस्त सृष्टि में वैज्ञानिकों ने करोड़ों सूर्यों का अनुमान लगाया है? फिर भी उपनिषद कार ने कहा में कि "वहाँ न तो सूर्य प्रकाश फैला सकता है, नहीं चन्द्रमा और तारागण का समुदाय ही और न यह बिजलियाँ ही वहाँ प्रकाशित हो सकती हैं" (श्वेताश्वतरोपनिषद ६।१४) एतरेयोपनिषद ३।३ इसका उत्तर देता है कि "यह ब्रह्मा, इन्द्र, प्रजापति समस्त देवता पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और तेज महाभूत यह समस्त प्रज्ञान स्वरूप परमात्मा से शक्ति पाकर ही अपने कार्य में समर्थ होते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद ४।१ में इस तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा गया है "वही अग्नि है, वह सूर्य है वह वायु है तथा वही चन्द्रमा है, वह अन्यान्य प्रकाश युक्त नक्षत्रादि है, वह जल है, वह प्रजापति है, वही ब्रह्म है।"

पृथ्वी का विशाल आकार कल्पनाहीन है। उस पर हजारों पर्वत, नदियाँ परिवाह, नगर विद्यमान हैं। हजारों मील लम्बे समुद्र ठाठें मार रहे हैं। ८४ लाख योनियों के करोड़ों अरबों जीव इस पर निवास करते हैं। एक मनुष्य ने अपने जीवन धारण करने के लिए अनेकों खाद्य पदार्थों को उपजाने की विधि व्यवस्था की है। प्रकृति स्वयं हमारी आवश्यकताओं को देखकर हमारे भोज्य पदार्थ उपस्थित करती है। मनुष्य तो प्रकृति के सहयोग से परिश्रम करके अपने लिए खाने योग्य वस्तुयें उपजा लेता है परन्तु कोई भी अन्य जीव ऐसा नहीं कर सकता। अन्य समस्त प्राणियों के लिए तो भगवान को ही पृथ्वी पर व्यवस्था करनी पड़ती है। यह लहलहाते हरे-भरे, खेत यह पुष्टिकारक फलों के पेड़ यह फलों से लदी वेलें, तन मन का सुगन्धित करने वाले फूल, यह पृथ्वी के भूषण हैं। प्रकृति में भरे तरह-तरह के रंग जिन्हें देखकर कवि और चित्रकार मोहित हो जाते हैं, यह सुन्दर घाटियाँ और आकर्षक दृश्य जिनकी रूप छटा को निहारने के लिए दर्शक दूर-दूर से जाते हैं। मानव बुद्धि द्वारा निर्मित वस्त्रों से अधिक अलंकृत मयूर व नील कंठ के पंख व अन्य पशु पक्षियों के शरीर पृथ्वी की सुन्दरता का स्मरण दिलाते हैं। जो कुछ पृथ्वी पर शोभा दृष्टिगोचर हो रही है, वह सब विष्णु के मणि रूपी प्रकाश के कारण है।

जल का पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ-तीनों लोकों में निवास है। जल में जीवनी शक्ति है, यह प्राणियों का जीवन है। इसके अभाव में जीवन संकट में पड़ जाता है। यह प्राणों को पुष्ट करता है, धारण करता है, सुरक्षित रखता है तभी वेद ने इसे औषधि और अमृत की संज्ञा दी है। मानव शरीर में अधिकाँश भाग जल का ही है। अन्य प्राणियों में भी ऐसी ही व्यवस्था है। रक्त, वीर्य आदि शरीर को धारण करने वाली आवश्यक धातुएँ जलीय अंश ही हैं। यदि शरीर में उनका क्षय होने लगे तो शिथिलता रोग अशक्तता ही उसका स्वाभाविक

परिणाम है। शरीर से जब जलीय अंश निकलता है तो प्रकृति उसकी पूर्ति का प्रयत्न करती है, प्यास लगने लगती है। शरीर में जल का संतुलन बने रहने से स्वस्थ रह सकना सम्भव है अन्यथा अस्वस्थता आ घेरती है। गर्मी में जब प्यास लगती है तो जल ही प्राणों को सन्तोष देता है, पेड़, पौधों, फल, फूल, खाद्य अन्नों, हरे-भरे खेतों की हरियाली का मूल शक्ति यही जल है। जल न हो तो एक अन्न का दाना उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। जीवन धारण करने की शक्ति और सामर्थ्य जल में ही है। इसीको सारी शोभा का मूल इसे ही समझना चाहिए। यह भगवान विष्णु की दूसरी मणि है।

पृथ्वी पर निवास करने वाले जीव-धारियों के अस्तित्व के लिए वायु आवश्यक है। यदि पृथ्वी के चारों ओर वायु न होती तो उस पर जीवधारियों और वनस्पतियों के जीवित रहने की सम्भावना नहीं थी, मनुष्य आदि सभी का जीवन खतरे में पड़ जाता। शरीर की स्थिरता के लिए जिन तत्वों की आवश्यकता है, उसी मात्रा के अनुसार उन तत्वों का उसमें समावेश किया गया है। इसमें नाईट्रोजन ७८.०३ प्रतिशत आक्सीजन २०.९९ प्रतिशत, आरगन ०.९४ प्रतिशत, कार्बन-डाय आक्साइड ०.०३ प्रतिशत, हाईड्रोजन ०.०१ प्रतिशत की मात्रायें वायु में रहती हैं। इनके अतिरिक्त ओजोन, नियोन, हीलियम जेनोन और क्रिप्टन आदि हल्की गैसों का भी निवास रहता है। वैज्ञानिक निरीक्षण से पता चलता है कि मानव को इसी अनुपात से इन गैसों की आवश्यकता है।

वायु में जल वाष्प और धूलि कणों का भी अपना महत्व है। जल वाष्प की सहायता से ही बादल तुषार और ओलों की उत्पत्ति होती है। इन्द्र धनुष के निर्माण में भी इसी का हाथ है। धूलि कणों के सहयोग से मेघों, कुहरा और धुन्ध का आविर्भाव होता है। मेघों में जो जल कण स्थित रहते हैं। यह धूलि-कण उनके वाहन के रूप में कार्य करते हैं।

वायु में तापक्रम की व्यवस्था भी अद्भुत है। वायु का ताप सूर्य और पृथ्वी दोनों से प्राप्त होता है। सूर्य अग्नि का गोला है। उसका व्यास १६.८३ लाख कि० मी० है जो पृथ्वी के व्यास से १०९ गुना है और जिसका आयतन पृथ्वी से १० लाख गुना बड़ा है। इसकी सतह पर ५५३८°C ताप बताया जाता है। यह एक स्थान पर स्थिर है और अन्य ग्रह इसके चारों ओर घूमते रहते हैं। सूर्य से चारों ओर ताप तरंगें निस्सृत होती रहती हैं। सूर्य से जितना ताप प्रसारित होता है उसका दो अरबवाँ भाग ही पृथ्वी तल तक पहुँच पाता है। सूर्य का जितना ताप वायु मण्डल की ऊपरी तह पर पहुँच पाता है, उसका ४२ प्रतिशत तो वायुमण्डल के ऊपरी स्तर से टकरा कर शून्य में गायब हो जाता है, १५ प्रतिशत वायु ले लेती है। और ४३ प्रतिशत पृथ्वी पर पहुंच पाता है। सूर्य के ताप से जब पृथ्वी गर्म हो जाती है तो वायु पृथ्वी से ही ताप प्राप्त करती रहती है। पृथ्वी का कोई अपना ताप नहीं है। वह सूर्य से ही प्राप्त करती है और फिर वायु को वितरण कर देती है। वास्तव में यह सूर्य का ही ताप है दोनों स्थितियों में वायु को ताप सूर्य से प्राप्त हुआ मानना पड़ता है। परन्तु यदि वायु में कोई ऐसी व्यवस्था होती कि सूर्य की ताप तरंगें वायुमण्डल से गुजर न पातीं और पृथ्वी तल पर न पहुँच पातीं तो पृथ्वी पर निवास करने वाले जीवधारियों और वनस्पतियों का अस्तित्व खतरे में पड़ ही जाता।

तापक्रम को सम करने के लिए हवायें अच्छा काम करती हैं। दिन को थल भाग जल की अपेक्षा गर्म रहता है तो थल पर दबाव कम रहता है। परिणामतः जल से थल की ओर हवायें चलती हैं। रात को जलीय भाग गर्म रहता है। इसलिए थल से जल की ओर हवायें चलने लगती हैं। इनके अतिरिक्त ऋतु सम्बन्धी हवायें और होती हैं जिन्हें मानसून हवायें कहते हैं। गर्मी के मौसम के छः महीने यह समुद्र की ओर से चलती हैं और सर्दी के छः महीने थल से जल की ओर चला

करती हैं। यदि उनका कार्य अव्यवस्थित हो जाए तो इसका परिणाम वर्षा का अभाव, सूखा और भुखमरी होगी। परन्तु ऐसा होता नहीं हैं।

समुद्र, झील, नदी, तालाब आदि जल के स्रोतों से जल-वाष्प उठती है और वायु उसे ग्रहण करती है। जल वाष्प के कारण वायु की आर्द्रता बढ़ जाती है। वायु एक सीमा तक ही इस जल-वाष्प को धारण कर सकती है। वायु की जल वाष्प ग्रहण करने की शक्ति समाप्त हो जाती है तो जलाशयों में वाष्पीकरण रुक जाता है। वायु के वाष्प ग्रहण करने की शक्ति तापक्रम पर निर्भर करती है। तापक्रम बढ़ने पर यह शक्ति भी बढ़ जाती है तापक्रम घटने पर यह शक्ति कम हो जाती है प्रकृति की बनाई हर वस्तु नियम में रहती है। जिस तरह मनुष्य के पेट की अग्नि प्रदीप्त होने पर उसकी भूख बढ़ने लगती है, उसी तरह वायु का तापक्रम बढ़ने पर उसकी भी भूख बढ़ने लगती है और वह अधिक जल-वाष्प ग्रहण करने की शक्ति प्राप्त कर लेती है। मनुष्य प्राणधारी कहा जाता है और वायु जड़ वस्तु है, परन्तु उसमें भी वही गुण विद्यमान हैं जो मनुष्य में हैं।

वायु का वर्षा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वायु की आर्द्रता पर वर्षा निर्भर करती है। पृथ्वी के सम्पर्क में आकर धरातलीय वायु गर्म हो जाती है। नियम है कि जब वायु गर्म हो जाती है, जो वह हलकी होकर ऊपर उठने लगती है। इस रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए ठन्डी हवायें आती हैं। वह भी जब गर्म हो जाती हैं, तो वह भी ऊपर उठने लगती हैं और उनके स्थान पर दूसरी ठन्डी हवायें आती हैं। यह क्रम जारी रहता है। वायु मण्डल में जितना ऊपर जायें उसका तापक्रम कम होता जाता है। अतः वह गर्म हवायें ठण्डी हो जाती हैं और उनमें जल वाष्प को ग्रहण करने की शक्ति नहीं रहती। वह जल-वाष्प जल-बिंदुओं का रूप ले लेती है जिसे वर्षा कहते हैं।

वायु में एक और आश्चर्यजनक शक्ति रहती है जिसे प्राण कहते हैं। यह खुले रूप में सर्वत्र बिखरा हुआ है। इसे प्राप्त करने के लिए

किसी पर प्रतिवन्ध नहीं है। इस प्राण के कारण ही शरीर सञ्चालित होते हैं। वायु में प्राणों की विद्यमानता से ही वेदों ने इसे अमृत का खजाना कहा है। ऋग्वेद १०।१८६।१-३ में इस ओर संकेत है "ऐ वायु ! हमारे शरीर में औषधियों को ले आ। वह औषधियाँ मेरे हृदय के लिए शान्तिदायक और सुखप्रद होंगी। वह आयु की वृद्धि करें। ऐ वायु ! तू हमारे पिता भाई और मित्र की तरह है। हमें जीवन प्रदान कर। तेरे पास जो अमृत से ओत-प्रोत भण्डार भरा पड़ा है। उसमें से कुछ भाग हमें भी दो ताकि हम भी दीर्घजीवी हों।" डा० गारलैंड ने लिखा है "शुद्ध वायु का प्रभाव उत्तेजनात्मक होता है। उससे रक्त में शक्ति और शरीर में रासायनिक परिवर्तन होते हैं। डा० फ्रान्सिस के अनुसार वायु से स्नायु उद्दीप्त हो उठते हैं और शरीर के अन्दर के सभी यन्त्र सशक्त हो जाते हैं। भारतीय वैज्ञानिकों ने सर्व प्रथम प्राण वायु को नियन्त्रित करने के उपाय खोजे थे, परिणाम स्वरूप वह अपनी मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेते थे। इस विधि को उन्होंने प्राणायाम नाम दिया प्राणायाम से शारीरिक व्याधियाँ तो दूर होती ही हैं। इससे मानसिक शक्ति भी प्राप्त होती है। विचार शक्ति बढ़ती है। उत्साह, साहस, धैर्य, वल, सत्य, प्रीति आदि गुणों की वृद्धि होती है, चैतन्यता, स्फूर्ति, क्रियाशक्ति, सहनशीलता और मानसिक तीक्ष्णता प्राप्त होती है। इससे भय, चिड़चिड़ापन और क्षुद्र वृत्तियों का भी शमन होता है। योग-दर्शन के साधन पाद के सूत्र ५२.५३ में बताया गया है कि प्राणायाम द्वारा अविद्या का अन्धकार दूर होकर ज्ञान की ज्योति प्रकट होती है और मन एकाग्र होने लगता है। यह ऋद्धि-सिद्धियों का केन्द्र है।

मनुष्य अन्न, जल आदि आवश्यक पदार्थों के बिना लम्बे समय तक जीवित रह सकता है, परन्तु वायु के अभाव में एक क्षण भी शरीर धारण किए रहना सम्भव नहीं है। यह सोने चाँदी आदि धातुओं से भी करोड़ों गुना अधिक मूल्यवान है। वायु तो जड़ है।

उसके यह गुण सर्व व्यापी विष्णु के कारण हैं। यह विष्णु की तीसरी मणि है।

अग्नि एक व्यापक तत्व है। पृथ्वी की सभी वस्तुओं में उसका प्रदेश है। प्रत्यक्ष रूप में तो वह केवल लकड़ी से ही दृष्टिगोचर होती है परन्तु वास्तव में वह सर्वव्यापी है। मानव शरीर में अग्नि की विशेष क्रिया है। शरीर की अग्नि प्रदीप्त रहने पर ही शक्ति बनी रहती है। इसकी मन्दता अशक्यता का चिह्न होती है। खाद्य पदार्थों, फल-फूल व पुष्टिकारक दवाओं से अग्नि ही प्रदीप्त होती है। जब अग्नि शरीर को त्याग करने लगती है तो वह ठण्डा पड़ जाता है और प्राण पखेरू उड़ जाते हैं। प्राणों की स्थिरता के लिए अग्नि का बना रहना आवश्यक है। केवल मानव शरीर में ही क्यों, पृथ्वी की हर वस्तु में इसकी विद्यमानता से ही शक्ति बनी रहती है। अन्न वनस्पतियों, फल, फूल आदि में सूर्य से अग्नि तत्व मिलता है, उसी को वह सुरक्षित रखते हैं। उनमें अग्नि के इस सुरक्षित भण्डार को ग्रहण करके ही मानव व अन्य प्राणी शरीर धारण करने की शक्ति प्राप्त करते हैं। यदि सूर्य अग्नि तत्व को बिखेरना बंद कर दें तो अन्न व वनस्पितियां उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। सूर्य से अग्नि प्राप्त करके ही वह फलती फूलती हैं और हृष्ट पुष्ट करने के गुण रखती हैं।

जड़ पदार्थों में भी अग्नि का निवास है। धातु, उपधातु, मूल्यवान हीरे, रत्नों और मणियों के भण्डार पृथ्वी के गर्भ में भरे पड़े हैं। भूगर्भ विद्या के शास्त्रियों का मत है कि अग्नि तत्व द्वारा ही मिट्टी में रासायनिक परिवर्तन होते रहते हैं। उसी का यह परिणाम है।

अग्नि शक्ति, स्फूर्ति की साक्षात प्रतिमा है, यह सजीवता का स्रोत है। सूर्य को वृहस्पति, मंगल, शनि आदि ग्रह, उपग्रह और पृथ्वी व उसके ऊपर के सभी पदार्थों का मूल माना गया है। ऋग्वेद

१।४।५।१ में सूर्य को जगत की आत्मा कहा है। सूर्य को स्थावर जंगम सबके अन्दर का वास्तविक जीवन माना जाता है। प्रश्नोपनिषद १।५ में कहा है कि सूर्य ही निश्चयपूर्वक प्राण है। सूर्य की यह महत्ता अग्नि तत्व के कारण ही है। जीव की स्थिरता का यह मूल तत्व अग्नि विष्णु की चौथी मणि है।

आकाश व्यापक तत्व है। साधारणतः नील गगन को ही आकाश माना जाता है। परन्तु उसकी सीमा यहीं तक नहीं है। हमारे हृदय में आकाश स्थित है। हमारे चारों ओर आकाश है। शब्द आकाश का गुण है। यदि आकाश न होता तो शब्द सुनाई न पड़ते। यह विश्व की सारी हलचल बंद हो जाती। शब्द में इतनी शक्ति है कि इसे हमारे शास्त्रों में ब्रह्म की संज्ञा दी गई है। मंत्रों का निर्माण इसी शक्ति से हो पाया है। शब्दों में इतनी शक्ति है कि वह बड़े-बड़े भवनों को गिरा सकते हैं। शेर की दहाड़ से निर्बल प्राणियों के प्राण उड़ जाते हैं। सात्विक शब्द मानव के जीवन को पलट देते हैं। इन्हें अमृत वर्षा कही जाती है। विश्व कल्याण की योजनाओं का यही माध्यम है।

पंचमहाभूतों में से यह सबका मूल है। तैत्तिरीओपनिषद् की ब्रह्मानंद वल्ली के प्रथम अनुवादक ने लिखा है कि निश्चय ही उस परमात्मा से सर्व प्रथम आकाश तत्व की उत्पत्ति हुई। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी तत्व की उत्पत्ति हुई है। नाश का उससे उल्टा क्रम है। प्रलय के समय पृथ्वी जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में लय हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि आकाश की उत्पत्ति सबसे पहले होती है परन्तु इसका लय सबके बाद होता है। इसका कारण यह है कि पाँच महाभूतों में यह सबसे सूक्ष्म है। पृथ्वी ठोस और स्थूल है। उसमें सबसे

कम शक्ति होती है। आकाश का महत्व सबसे अधिक है। इसमें पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि चारों का निवास रहता है। यह सबको अपने में स्थिर रखने की क्षमता रखता है। यदि आकाश न होता तो पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि का अस्तित्व ही न होता। यही आकाश विष्णु की पांचवी मणि है।

विष्णु पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश रूपी पंचमहाभूतों की वैजयन्ती माला को धारण करते हैं। यही उनकी शोभा बढ़ाते हैं।

• • •

विष्णु और श्री वत्स का चिह्न

विष्णु पुराण १।२२।६९ के अनुसार अनन्त भगवान श्री विष्णु के वक्षः स्थल में जो श्री वत्स का चिन्ह है, वह प्रकृति का प्रतिरूप है। प्रकृति की तीन अवस्थायें हैं-उत्पत्ति स्थिति और विनाश। सृष्टि के साथ विनाश का घनिष्ट सम्बन्ध है। जिस वस्तु की भी यहाँ उत्पत्ति हुई है, उसका निश्चित रूप से विनाश होगा, यह प्राकृतिक नियम है। सृष्टि के समस्त उपकरणों में विनाश की प्रक्रिया संचलित हो रही है परन्तु वह इतनी सूक्ष्म है कि स्थूल नेत्रों से उसे देखना या अनुभव करना सम्भव नहीं है। वैज्ञानिकों का कहना है कि हर घड़ी हमारे शरीर में महत्व-पूर्ण परिवर्तन होते रहते हैं, शरीर में नाश क्रिया चलती रहती है। इसे सूक्ष्म यंत्रों से देखा जा सकता है। नाश की ओर प्रवृत्त होने का प्राकृतिक नियम केवल हमारे शरीर पर नहीं वरन् संसार की हर वस्तु पर लागू होता है। सूर्य भी इस नियम से बचा नहीं है। हालाँकि सूर्य इतना बड़ा है कि उसमें तेरह लाख पृथ्वियाँ समा सकती हैं, परन्तु वह भी अपने उत्पत्ति काल से दिन-दिन संकुचित होता जा रहा है। वह इतना बड़ा और पृथ्वी से इतना दूर है कि उसके विनाश की गति का अनुमान लगाना सरल नहीं है। फिर भी वैज्ञानिक खोजों ने सूर्य पर काले धब्बे होने की बात कही है और वैज्ञानिकों ने घोषणा की है कि सूर्य पर बड़े-बड़े गड्ढे हैं। इससे स्पष्ट है कि सूर्य के विनाश का क्रम भी निरन्तर जारी है। यह अलग बात है कि वह स्थिति लाखों, करोड़ों वर्षों में हुई हो।

ऋग्वेद (१।११५।१) में सूर्य को समस्त स्थावर तथा जङ्गम सृष्टि का प्राण स्वरूप बताया है। इस पृथ्वी के प्राणियों का जीवन सूर्य पर निर्भर है, अन्न, जल, फल, फूल, पेड़, पौधे वनस्पतियाँ उसी के बल पर उगते और बढ़ते हैं। पृथ्वी की हर वस्तु में प्राण फूंकने का श्रेय सूर्य को ही है। जब सूर्य की प्राण शक्ति ही नियमपूर्वक धीरे-धीरे कम होती जा रही है तो पृथ्वी पर उसके बिखरे प्राणों का क्रमशः निर्बल होना स्वाभाविक ही है। जब लाखों, करोडों वर्षों के बाद सूर्य की प्राण शक्ति पूर्णतः नष्ट हो जायगी तो चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार हो जायगा। पृथ्वी पर निवास करने वाले प्राणियों का जब अपने मूल स्रोत से सम्बन्ध विच्छेद हो जायगा तो वह स्वयं ही नष्ट हो जायेंगे। सूर्य के अभाव में अन्न, फल और वनस्पतियों के होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इनके बिना प्राणियों का जीवन कैसे स्थिर रह सकता है ? पृथ्वी और चन्द्रमा की गतिविधियाँ सूर्य के कारण संचलित होती हैं। वर्षा का क्रम भी सूर्य और चन्द्र के सहयोग से होता है। अतः इस स्थिति में वर्षा का अभाव स्वाभाविक ही है। जिस दिन सूर्य में ताप नहीं रहेगा, उसी दिन से महाप्रलय का आरम्भ होगा। पृथ्वी और उसके समस्त प्राणी नष्ट हो जायेंगे। पृथ्वी तत्व के नष्ट होने पर जल तत्व उभरेगा। वह पृथ्वी तत्व को अपने में लीन कर लेगा, इससे चारों ओर जल ही जल दिखाई देगा। अभी तक पचभूतों में से एक गुण गन्ध नष्ट हुआ है। यह विनाश क्रम बराबर जारी रहता है। अग्नि, जल को सोख कर सारे रस को पी लेती है। अग्नि को वायु ग्रस लेता है और गन्ध, रस, रूप गुण नष्ट हो जाते हैं। आकाश तत्व वायु को लीन करके स्पर्श गुण को भी समाप्त कर देता है। फिर आकाश का तन्मात्राओं, अहंकार, बुद्धि और प्रकृति में क्रमशः लय हो जाता है।

पाश्चात्य वैज्ञानिकों को भी अब इस भारतीय सिद्धान्त पर विश्वास हो गया है कि सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि

का होना अवश्यम्भावी है। प्रसिद्ध पश्चिमी विद्वान कान्ट ने अपने पर-लोक सिद्धांत में घोषित किया है कि जिन कारणों से संसार की उत्पत्ति और स्थिति होती है, उन्हीं से इसका नाश और एक अदृश्य स्थिति में छोटा हो जाना आवश्यक है। कान्ट ने हक्सले का उदाहरण देते हुए लिखा है कि उन्होंने भी इस सिद्धान्त की पुष्टि की है।

सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि का चक्र चलता ही रहता है। यह प्रकृति का स्वाभाविक क्रम है। गीता (१८।१८) में कहा है 'ब्रह्मा का जब दिन आरम्भ होता है तब अव्यक्त से व्यक्त में प्रकट हो जाता है और जब रात्रि होती है तो पहले की तरह अव्यक्त में लीन हो जाते हैं।" अगले श्लोक में और स्पष्ट करते हुए भगवान ने कहा है "इच्छा हो या न हो, दिन होने पर जन्म लेना और रात्रि होने पर लीन होना यह चलता ही रहता है" (१८।१९)। उत्पत्ति, स्थिति और लय को हम प्रत्यक्ष रूप से खुले नेत्रों से देखते हैं। जो उत्पन्न हुआ है, उसे नष्ट होना ही है। जिसने शरीर धारण किया है, उसे एक दिन मरना है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है और मरने के बाद फिर जन्म लेना है। इस स्वाभाविक क्रम में कुछ भी निराश होने की बात नहीं है। अज्ञानवश हम विनाश होने वाले तत्वों से अपना सम्बन्ध जोड़ लेते हैं और जब वह सृष्टि के स्वाभाविक प्रवाह में बहने लगता है तो व्यर्थ की अशान्ति और दुःख को अपने सर मढ़ लेते हैं। जब हम नित्य देखते हैं कि सृष्टि के आदि काल से यह क्रम बराबर चला आ रहा है और अन्त तक चलता रहेगा तो इसमें दुःख की कौन-सी बात है? चूंकि हम शरीर को सर्वस्व मान कर चलते हैं, इसलिए उसके विनाश होने पर दुःखी होते हैं। सांसारिक दुखों से बचने के लिए आवश्यक है कि हम वस्तु स्थिति को समझें और नाशवान तत्वों के नष्ट होने पर दुःखी न हों। हम अपना-निरीक्षण करें और अनुभव करें कि हम शरीर नहीं वरन् आत्मा हैं। नाश शरीर का होता है, आत्मा का नहीं।

यदि शरीर नष्ट हो रहा है तो उसका अभिप्राय केवल पुराने जीर्ण शीर्ण वस्त्र बदल कर नए पहनना है, उसके मूल तत्व का विनाश नहीं हो रहा। चाहे कैसी भी भयङ्कर आँधियाँ और तूफान आवें, भूचाल और घोर वृष्टि हो, नगरों के नगर ध्वस्त हो जाएँ और सारे विश्व का भी विनाश होकर प्रलयकारी स्थिति उत्पन्न हो जाए तो भी हमारा नाश नहीं हो सकता। आधुनिक काल के विनाशकारी अस्त्र-शस्त्रों, एटम बम हाइड्रोजन बमों का हम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह तो स्थूल वस्तुओं को ही नष्ट करने की क्षमता रखते हैं। हानि और नाश के क्रम इस जगत में पग-पग पर चलते रहते हैं, उनसे सुरक्षित रहने का एक मात्र उपाय है, आत्म-भाव में स्थित रहना।

यदि शास्त्रों में वर्णित प्रलय की सी स्थिति कभी उत्पन्न हो जाए जिसमें सारे विश्व का विनाश हो जाए और चारों ओर जल ही जल दिखाइ दे तो यह समझना चाहिए कि उस स्थित में भी हमारा कुछ नष्ट नहीं हुआ। उस समय भी केवल पंचभौतिक शरीर ही नष्ट होगा। वस्तु स्थिति यह है कि शरीर अनेकों बार नष्ट हो चुका हैं और अनेकों बार जन्म ले चुका है, यदि एक बार और नष्ट हो जाएगा तो इसमें दुःख और चिन्ता की कौन सी बात है ? वेदान्त (२।३।१७) में कहा है "जीवात्मा उत्पन्न होता या मरता नहीं है।" श्रुति में भी ऐसा कथन नहीं मिलता। उन श्रुतियों के द्वारा ही इसको अविनाशी होना कहा गया है। छांदोग्योपनिषद (६।११।३) में भी स्पष्ट कहा है "जीव के निकलने पर शरीर ही मरता है, जीवात्मा स्वयं नहीं मरता।" अतः यदि हम अपने वास्तविक रूप को समझ लें तो भौतिक विनाश से भयभीत होने की कोई बात नहीं है। प्रलय तो हमारी पथ प्रदर्शिका है और हमें शिक्षा देती है कि इस जगत की हर वस्तु नष्ट होने वाली है, अतः उनकी प्राप्ति में ही अपने जीवन का अमूल्य समय नष्ट न करके अविनाशी तत्व को प्राप्त करो जिसका कभी नाश नहीं होता।

इस विषय का केवल अध्ययन ही पर्याप्त नही है। वरन् लक्ष्य तक पहुँचने के लिए नित्य का मनन चिंतन और ध्यानकी भी आवश्यकता है। हम अपने ध्यान में अनुभव करें कि "इस विश्व की जिन वस्तुओं से हमारा सम्बन्ध हैं, वह धीरे-धीरे सब नष्ट होती जा रही हैं, बन्धु-बान्धव साथ छोड़ते जा रहे हैं, पंच-भौतिक शरीरों का निरन्तर क्षय होता जा रहा है, वह विनाश की ओर तीव्र गति से बढ़ रहे हैं, बड़े-बड़े भवन और प्रासाद ध्वस्त होते जा रहे हैं, असंख्यों जीव-जन्तु अपने प्राण छोड़ रहे हैं, बड़े-बड़े धन कुबेर और राजा महाराजा भी इस प्रवाह में बहे जा रहे हैं, किसी में रुकने की क्षमता नहीं है। स्थिति यहाँ तक पहुँच गई हैं कि सारा विश्व जल कर भस्म हो गया है और चारों ओर जल ही दिखाई दे रहा है।" इस दृश्य की हमारे अन्त:करण पर एक छाप बैठ जानी चाहिए और हम चलते फिरते भी यह अनुभव करने लगें कि इस संसार में दिखाई देने वाली समस्त वस्तुएँ एक दिन नष्ट होने वाली हैं। अत: जिन वस्तुओं से हमारा व्यक्तिगत सम्बन्ध जुड़ा हुआ है, उनको भी नष्ट होता देखें और अनुभव करें कि उनके नाश के स्वाभाविक क्रम में हमें कुछ भी दु:ख नहीं हो रहा। इस ध्यान का निरन्तर अध्ययन करते रहने से राजा जनक जैसी आत्मिक स्थिति प्राप्त हो सकती है। जनक ने एक बार कहा था कि यदि मेरा राज्य भी नष्ट हो जाए तो मेरी कुछ भी हानि नहीं है। याज्ञवल्क्य ने एक बार उनकी परीक्षा ली और योगमाया से उनके महलों में आग लगवादी। उस समय वह उपनिषदों की कथा सुन रहे थे। कइ वार नौकर भयंकर अग्निकाण्ड की सूचना लेकर आए परन्तु उन पर कोई प्रभाव नहीं हुआ और वह कथा सुनकर ही राज-महल लौटे।

बुद्धिमान व्यक्ति वही है जो यह समझ लेता है कि जब इस जगत की समस्त वस्तुएं एक दिन नष्ट होने वाली हैं तो झूठ, छल, कपट, फरेब धोखेबाजी, घूँस मिलावट आदि उपायों से उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न क्यों करूँ? यही विष्णु के वक्ष:स्थल पर स्थित श्रीवत्स की प्रेरणा है।

भागवत ११।११ में कहा है कि भगवान विष्णु अ+उ+म् इन तीन मात्रा वाले प्रणव को यज्ञोपवीत के रूप में धारण करते हैं। प्रणव में तीन मात्रा हैं, यज्ञोपवीत में तीन तार होते हैं। वह एक रूप ही हैं। यज्ञोपवीत को हर समय अपने कंधे पर धारण रखने का अभिप्राय है प्रणव को सदैव अपने साथ रखना, एक क्षण के लिए भी उसे अलग न करना, उसे छाती से लगाए रखना। इससे विदित है कि "विष्णु को ओंकार की साधना प्रिय है और वह इसकी ओर प्रेरित करते हैं कि विष्णु भक्त उनका अनुकरण करें।"

ॐ परमात्मा का सर्व श्रेष्ठ और स्वाभाविक नाम है। छोटे बच्चे के रोने की आवाज "ओआ" सी होती है। ऐसा लगता है कि वह ॐ का जप कर रहा है। वृक्षों के पत्तों की साँई-साँइ, नदी और समुद्र की लहरों की ध्वनि और मोटर गाड़ियों की आवाज में 'ओंकार' की ही छाप मिलती है। अंगड़ाई व डकार लेते हुए स्वयंमेव यह भीतर से प्रस्फुटित होता हैं। प्रकृति परमात्मा के इस स्वाभाविक नाम को निरन्तर जपने की प्रेरणा देती है। यह अपार शक्ति और सामर्थ्य वाला है। ईश्वरीय सम्पदाएँ इसमें ओत प्रोत हैं। इसे ब्रह्म भी कहा जाता है।

जैसे एक छोटे से बीज में एक बृहद् वृक्ष समाविष्ट रहता है। उसी तरह 'ॐ' में समस्त विश्व निहित है। इसलिए इसे बीज कहते हैं,

यह ब्रह्म का प्रतीक है। इसीलिए हिंदू जगत में इसे कल्याण के मन्त्रों का शिरोमणि माना जाता है। स्वस्तिक को सर्वतोमुखी कल्याण का प्रतीकात्मक चिह्न माना जाता है। पूजा कार्यों में वह अग्रणी रहता है, यह स्वस्तिक 'ॐ' का ही विकृत रूप है। सिखों के प्रमुख ग्रन्थ 'गुरु ग्रन्थ साहब' में 'एक ओंकार सतगुरु प्रसाद' कहकर 'ॐ' की ही महिमा का वर्णन किया गया है और यह उनके धर्म का प्रमुख चिन्ह बन गया है।

'ॐ' सभी अन्य मन्त्रों का शिरोमणि है। इसकी सर्व-श्रेष्ठता का मूल्यांकन इसी तथ्य से किया जा सकता है कि इसकी सहायता के बिना सभी मन्त्रों का प्रभाव धूमिल है और 'ॐ' ही उनका शाप विमोचन करता है। 'ॐ' के नेतृत्व में ही वह अपना प्रभाव दिखाने की सामर्थ्य रखते हैं। इसके बिना तो सभी मन्त्र अंगहीन से दृष्टिगोचर होते हैं। यही सभी में शक्ति फूंकने वाला है। इसी लिए तन्त्र में कहा गया है—"मन्त्राणाँ प्रणवः सेतुः" मन्त्रों की सफलता के लिए प्रणव पुल का-सा काम करता है। जिस तरह पुल या नाव के बिना किसी नदी को पार करना असम्भव होता है, उसी तरह 'ॐ' के बिना प्रणव की सहायता के अभाव में सिद्धि अशक्य है। प्रणव के साथ मिल जाने से पुल तैयार हो जाता है और साधक सफलतापूर्वक पार हो जाता है।

वेद-शास्त्रों ने इसे सर्वश्रेष्ठ मन्त्र, जप, तप व ध्यान घोषित किया व इसकी साधना की प्रेरणा दी। शास्त्र इसकी महिमा का गान करते नहीं अघाते। यजुर्वेद (अ० १५) ने आदेश दिया "ॐ स्मर"—ॐ का स्मरण करो। क्योंकि शास्त्र का वचन है कि "ॐ के स्मरण, कीर्तन, श्रवण और जप से उस परब्रह्म को मनुष्य प्राप्त हो जाता है, अतः ॐ में परायण रहे।" वेद ने फिर कहा "प्रणवान्तर्गतं परं ब्रह्म" ईश्वर प्रणव में स्थित है। अतः प्रणव की उपासना करनी चाहिये। इससे ब्रह्म साक्षात्कार होता है।

उपनिषद् के ऋषियों ने प्रणव की घोर तपश्चर्या की थी। उन्होंने प्रणव के दिव्य अनुभव उपनिषदों में व्यक्त किये हैं। इसकी व्याख्या और स्पष्टीकरण किया है। महिमा का गुण गान किया है और जप ध्यान की प्रेरणा दी है।

कठोपनिषद् (१। २। १५—१७) में यम कहते हैं "जिस परम पद का सम्पूर्ण वेद प्रतिपादन करते हैं, जिस पद का सम्पूर्ण तप आभास कराते हैं, जिस पद की कामना वाले साधक ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वह पद मैं तुम्हें संक्षेप में कहता हूँ। 'ॐ' एक अक्षर मात्र है। यही अक्षर ब्रह्म है, यही परब्रह्म है, अत; इस अक्षर को जानकर जिसकी इच्छा करे, वही इसे प्राप्त हो जाता है। यही एक श्रेष्ठ आधार है, यही परम आधार है, इस आधार के जानने वाला व्यक्ति ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित होता है।" अर्थात् इससे भौतिक व आध्यात्मिक दोनों प्रकार की सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं, वह विकास की उच्चतम अवस्था तक पहुँच सकता है।

प्रश्नोपनिषद् के पाँचवें प्रश्न में शिवि पुत्र सत्यकाम ने महर्षि पिप्पलाद से प्रश्न किया—भगवन ! जो मनुष्य शारीरान्त होने तक ओंकार का भले प्रकार ध्यान करता है, वह उसके द्वारा किस लोक पर विजय प्राप्त करता है, यह बताइये। (१) महर्षि बोले "हे सत्यकाम ! यह ओंकार परब्रह्म है और यही अपर ब्रह्म भी है, ऐसा जानने वाला मनुष्य इस एक प्रयास से ही ब्रह्म के एक रूप को पा लेता है। (२) यदि वह एक मात्रा वाले ओंकार का ही ध्यान करें तो वह उसके द्वारा शीघ्र ही पृथ्वी पर प्रकट हो जाता है। ऋग्वेद की ऋचाऐं उसे मनुष्य देह की प्राप्ति कराती हैं। वह ब्रह्मचर्य से युक्त और श्रद्धान्वित होकर महिमायुक्त होता है। (३) यदि दो मात्राओं वाले ओंकार का ध्यान करें तो चन्द्रलोक की प्राप्ति होती है। यजुर्वेद के मन्त्र उसे वहाँ ले जाते हैं। वह वहाँ का सुख भोगकर फिर इस मनुष्य लोक में आ जाता है। (४) त्रिमात्रिक ओंकार

के परमेश्वर का निरंतर ध्यान करने वाला पुरुष तेजोमय सूर्यलोक को प्राप्त होता है। सर्प के केंचुली से छूटने के समान वह पापों से छूटकर सामवेद द्वारा ब्रह्मलोक में पहुँचाया जाता है। वह इन प्राणियों का श्रेष्ठ परमेश्वर से साक्षातकार कराता है। (५) ओंकार की तीन मात्राऐं परस्पर सम्बद्ध रहती हुई प्रयुक्त होने पर मनुष्य दृढ़ संकल्प वाला होता हुआ परमेश्वर का ज्ञाता बन जाता है।" (६) इससे साधक के सर्वतोमुखी कल्याण की ध्वनि निकलती है।

मुण्डकोपनिषद् में कहा है "प्रणव धनुष और आत्मा वाण है, ब्रह्म उसका लक्ष्य बताया गया है। उसे अप्रमत्त मनुष्य ही बींध सकता है। वाण से उस लक्ष्य को भेदकर उसी में तन्मय हो जाये" (२।१।४)। इसमें यह आश्वासन है कि धनुष रूपी प्रणव से ब्रह्मरूपी लक्ष्य का भेदन किया जा सकता है।

माण्डूक्योपनिषद् के ऋषि की अभिव्यक्ति है "ओंकार मय अविनाशी ब्रह्म है, उसकी महिमा को प्रत्यक्ष लक्षित कराने वाला यह सम्पूर्ण विश्व है। भूत, भविष्यत, वर्तमान आदि तीनों कालों वाला यह संसार ॐकार ही है। और तीनों कालों से परे जो अन्य तत्व है, वह भी ओंकार ही है (१)।

तैत्तिरीयोपनिषद् में शिक्षा वल्ली के अष्टम अनुवाक में घोषणा है, "ॐ ब्रह्म है, ॐ ही विश्व है, ॐ ही अनुकृति है। हे गुरुदेव ! सुनाओ ॐ से ही साम गायक साम गान करते हैं, ॐ शोम कहते हुये ही शास्त्र पढ़े जाते हैं, ॐ से ही अध्वर्यु प्रतिगिर मन्त्र प्रारम्भ करता है, ॐ कहकर ही ब्रह्मा यज्ञ की अनुमति देता है, ॐ से ही अग्निहोत्र की आज्ञा दी जाती है, ॐ का उच्चारण करता हुआ अध्ययन प्रारम्भ करने वाला ब्राह्मण ब्रह्म को प्राप्त करने की बात कहता है। ॐ के प्रभाव से ब्रह्म की प्राप्ति होती है।"

छान्दोग्योपनिषद् में प्रणव का विस्तृत विवेचन है। यथा "ॐ रूप जो अक्षर यज्ञ में उद्गाता द्वारा सर्व प्रथम उच्चारण किया जाता है, वही परमात्मा का नाम और प्रतीक है। समस्त स्थावर और जंगम प्राणियों और पदार्थों का रस पृथ्वी है, पृथ्वी का रस अथवा कारण जल है, जल का रस औषधियाँ हैं, औषधियों का रस यह मनुष्य देह है, मनुष्य का रस वाणी है, वाणी का सार ऋचा है, ऋचा का सार साम है और साम का सार उद्गीथ (ओंकार) है। यह ओंकार जो पृथ्वी आदिरसों की गणना में आठवां है, वह सब रसों का सार रूप परमात्मा का प्रतीक होने के कारण परमात्मा के समान ही उपासना करने योग्य है और इसे वैसी ही भावना से ग्रहण करना चाहिए।" (१।१।१-३) "इस 'ॐ' से तीनों वेदों में बतलाई यज्ञीय विधि प्रचलित होती है। अध्वर्यु इसी 'ॐ' का मन्त्र सुनाता है, होता इसी की प्रशंसा करता है और उद्गाता इसी का गान करता है। यह सब कर्म इस अक्षर की पूजा के निमित्त ही किए जाते हैं।" (१।१।९) "जो ओंकार के रहस्य को समझने वाले का अहित साधन करना चाहता है, वह उसके प्रभाव से स्वयं ही मिट्टी के ढेले की तरह छिन्न-भिन्न हो जाता है। इस रहस्य को जानने वाले को अभेद्य पाषाणों के समान ही समझना चाहिए।" (१।२।८) ओंकार उपासना से साधक में इतनी आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि आसुरी वृत्तियों के संगठित आक्रमणों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता वरन् वह असुरता स्वयं इस चट्टान से टकराकर चकनाचूर हो जाती है। 'ॐ' पाप वृत्तियों से बचने का एक कवच है। इसे पहन कर शत्रुओं से सुरक्षित रहा जा सकता है। यह ऐसी ढाल है जिस पर तीव्र अस्त्र-शस्त्र भी असफल रहते हैं, उल्टा आक्रमणकारी पर ही चोट लगती है।"

ब्रह्म और 'ॐ' की एकता का बोध करते हुए मैत्रायण्युपनिषद (५।३) में कहा है "ब्रह्म के दो ही स्वरूप हैं, मूर्त और अमूर्त। उनमें से जो मूर्त है, वह असत्य है और जो अमूर्त है, वह सत्य है। वही ब्रह्म है।

जो ब्रह्म है, वही ज्योति है, जो ज्योति है। वही आदित्य है, वही 'ॐ' है, वही आत्मा है। 'ॐ' में सब कुछ अवस्थित है। "इसे समस्त कामनाओं की पूर्ति करने वाला भी बताया गया है" 'ॐ' पवित्र अक्षर है। इस अक्षर को जानकर मनुष्य जिस की इच्छा करे, वह उसे प्राप्त हो जाता है।" (५।४) अगले श्लोक में 'ॐ' के स्थूल शरीर की व्याख्या करते हुए कहा गया है "अग्नि, वायु और सूर्य के रूप में यह प्रकाश वाला है, रुद्र और विष्णु के रूप में अधिपति है, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय यह उसके ३ मुख हैं, ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद को वह जानता है। भूः, भुवः और स्वः यह तीन उसके लोक हैं, भूत, भविष्य और वर्तमान उसके काल हैं, प्राण, अग्नि और आदित्य उसके प्रताप हैं, अन्न, जल और चन्द्रमा उसके पोषण हैं, बुद्धि मन और अहङ्कार उसके चेतन हैं और प्राण, अपान तथा व्यान उसके प्राण हैं।"

अथर्वशिर उपनिषद् में कहा है "जो 'ॐकार' है, वह प्रणव है, वही सर्वव्यापी है, जो सर्वव्यापी है, वही अनन्त है, वही तारक रूप है, जो तारक रूप है, वही सूक्ष्म रूप है, जो सूक्ष्म रूप है वही शुक्ल है, जो शुक्ल है वही विद्युत रूप है, जो विद्युत है वही परब्रह्म रूप है।"

ॐकार में क्या-क्या स्थित है, इसका विवेचन करते हुए प्रणवोपनिषद् में कहा है "उस ॐकार में तीन देव, तीनों लोक, वेद जप तथा तीन अग्नियाँ कही गई हैं, साथ ही तीनों मात्रा अर्ध मात्रा भी उसमें निहित हैं क्योंकि वह उस परम शिव तत्व का ही स्वरूप है (१—८) ऋग्वेद, गार्हपत्य (अग्नि), पृथ्वी व ब्रह्म ये ३ तत्व ब्रह्मवेत्ताओं ने 'ॐ' के तीन अक्षर 'अ', 'उ' 'म्' में से जो। पहला अक्षर 'अ' है, उसमें स्थित बताए हैं, इन सबका स्वरूप वह 'अ' है। (१) यजुर्वेद, आकाश दक्षिणाग्नि तथा देवश्रेष्ठ भगवान विष्णु का स्वरूप उकार को कहा गया है। (२) सामवेद, स्वर्ग, आहवनीय (अग्नि), परम देव शङ्कर का स्वरूप

म' कार को बताया गता है।" (३) तीन देवों, तीन वेदों और तीन अग्नियों की उपासना से जो पुण्य प्राप्त होता है, वह 'ॐ'कार की उपासना से हो जाता है।

गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है "सब वेदों में प्रणव अर्थात 'ॐकार' मैं हूं (६।८) (९।१६)। गीता के (१७।२४) श्लोक में कहा है" ब्रह्मवादी लोगों के यज्ञ, दान, तप, तथा अन्य शस्त्रोक्त कर्म सदा 'ॐ' के उच्चार के साथ हुआ करते है।" गीता में एक और स्थान पर परम गति का लाभ बताते हुए कहा है "एकाक्षर ब्रह्मरूप 'ॐ' का उचारण तथा परमात्मा का चिन्तन करता हुआ जो शरीर त्याग करता है, वह परमगति को पाता है।

योग दर्शन की घोषणा है "प्रणव का जप और अर्थ विचारने से समाधि लाभ होता है।" (१।२८) क्योंकि इस से चित्त चंचलता रहित हो जाता हैं।" ओंकार की उपेक्षा करने वाले की देवी भागवत में निन्दा की है "जो ब्राह्मण ओंकार को पिता रूप में और गायत्री को माता रूप में नहीं जानता, उसका हीन जन्म समझना चाहिए।" भगवान मनु ने (२।६४) आदेश दिया है कि "वेद के अध्ययन के आरम्भ और अन्त में 'ॐ' का उच्चारण आवश्यक है।"

महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है "वेदों का आदि अक्षर 'ॐ' ब्रह्मरूप है। इसमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश प्रतिष्ठित हैं। सर्ववेत्ता वही है जो प्रणव को जानता है। यह सब प्रकार के योग साधनों का सार है। इसको जानना आवश्यक है। जो प्रणव को जान लेता है। उसे और कुछ जानने की आवश्यकता नहीं रहती। मन्त्र-पाठ से पूर्व 'ॐ' का उचारण आवश्यक है। सारे मन्त्र ओंकार से मिलकर ही फल प्रदान करते हैं।"

विष्णु विश्वव्यापी देव हैं, ओंकार भी सर्वव्यापी और अनंत हैं। विष्णु अपने तीन पगों से सारी सृष्टि को नाप लेते हैं। ओंकार ब्रह्म है, उसमें सब कुछ उपस्थित है, ओंकार विष्णु का स्वरूप ही है। विष्णु ओंकार से ऐक्य स्थापित करने के लिए उसे धारण करते हैं। जो साधक विष्णु रूपी विश्व व्यापी ईश्वर से एकता अनुभव करना चाहते हैं, उन्हें ओंकार को जप, ध्यान, मनन चिंतन के रूप में ग्रहण करना चाहिए, यही विष्णु के यज्ञोपवीत ग्रहण करने का अभिप्राय है।

• • •

विष्णु का शार्ङ्ग धनुष   ५८

विष्णु पुराण १।२२।७० के अनुसार भगवान विष्णु अहंकार को शार्ङ्ग धनुष के रूप में धारण करते हैं। बाण रूपी इन्द्रियों को वह स्वच्छन्द नहीं होने देते उन्हें निरन्तर अपने नियंत्रण में रखते हैं। बाण छोड़ने के लिए तो धनुष उनके हाथ में रहता ही है। वह अहंकार को अपने हाथों से निकलने नहीं देते। अहंकार ऐसी आसुरी शक्ति है जो अवसर पाते ही साधक पर आक्रमण करती है। संसार में कोई विरला ही ऐसा व्यक्ति होगा जो इसके कुप्रभाव से पीड़ित न हो। बड़े बड़े संत महात्मा, तपस्वी, ज्ञानी, उपदेशक विद्वान, लेखक आदि भी इसके शिकंजे में फंसे रहते हैं। जिसने इसको नियंत्रण में कर रखा है। समझना चाहिए कि वह अत्यन्त पवित्र शुद्ध व शक्तिशाली आत्मा है। साधारण व्यक्तियों को तो वह क्षण भर में परास्त कर देता है। ऐसे शत्रु से सावधान रहना हर बुद्धिमान व्यक्ति के लिए आवश्यक है। हमारे ऋषि इस सम्बन्ध में अत्यन्त सतर्क रहे हैं और पग-पग पर इसके गम्भीर प्रहारों से बचने के लिए उपदेश देते रहे हैं।

गीता १८।१६ "जो संस्कृत बुद्धि न होने के कारण यह समझे कि मैं ही अकेला कर्ता हूँ, समझना चाहिए कि वह दुर्मति कुछ नहीं जानता।" १८।५८ मुझमें चित्त रखने पर तू मेरे अनुग्रह के संकटों को अर्थात् कर्म के शुभाशुभ फलों को पार कर जावेगा। परन्तु यदि अहंकार के वश हो मेरी न सुनेगा तो नाश पावेगा।" ईशावास्योपनिषद (९) "जो

मनुष्य अविद्या की उपासना करते हैं। वे अज्ञान स्वरूप घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो मनुष्य विद्या में रत हैं अर्थात मिथ्याभिमान में मत्त हैं, वे उससे भी मानो अधिकतर अन्धकार में प्रवेश करते हैं।" महोपनिषद "अहंकार के कारण विपत्ति आती है, अहंकार के कारण दुष्टमनोव्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। अहंकार के कारण कामनायें उत्पन्न होती हैं। अहंकार से बढ़कर मनुष्य का कोई दूसरा शत्रु नहीं है।"

श्री विजय कृष्ण गोस्वामी "मन में अभिमान का अणुमात्र भी प्रवेश हो जाता है तो बड़े-बड़े योगियों का भी पतन हो जाता है। अभिमान भयानक शत्रु है। मैं काम का त्याग करूँगा, क्रोध को त्याग करूँगा और लोग मुझे साधु कहेंगे, यह अभिमान सब की अपेक्षा बड़ा शत्रु है।" स्वामी रामतीर्थ "जब तक तुम कंघी के समान अपने अहंकार को सिर के ज्ञान रूपी ओर के नीचे नहीं रखोगे तब तक उस प्यारे के सिर के बालों को भी नहीं प्राप्त हो सकते।" उड़िया स्वामी जी "अहंता और ममता ही बन्धन है।"

परन्तु अभिमानी नहीं जानता कि सब बड़े-बड़े पराक्रमियों का तेज, बलवानों का बल, विद्वानों की विद्या, तपस्वियों का तेज और ओजस्वियों का ओज उसी ईश्वर से है। योग वशिष्ठ "वही सब कर्म करता है। सब भोगों का भोक्ता सब शब्दों को श्रवण करने वाला भागवत रूप और सब की भावना करने वाला वही परम प्रकाश रूप है।" श्वेताश्वतरोपनिषद ६।१४ "वहाँ न तो सूर्य प्रकाश फैला सकता है। न चन्द्रमा और तारागण का समुदाय ही और न यह बिजलियां ही वहां प्रकाशित हो सकती हैं। फिर यह लौकिक अग्नि तो कैसे प्रकाशित हो सकती है ? क्योंकि उसके प्रकाशित होने पर ही (उसके प्रकाश से) बतलाए हुए सूर्य आदि सब उसके पीछे प्रकाशित होते हैं, उसके प्रकाश से यह सम्पूर्ण जगत प्रकाशित होता है।"

तैत्तिरीयोपनिषद "इसी के भय से पवन चलता है इसी के भय से सूर्य उदय होता है, इसी के भय से अग्नि और इन्द्र और पाँचवां मृत्यु (ये सब) अपना-अपना कार्य करने में प्रवृत्त हो रहे हैं।" एतरेयोपनिषद ३।२ "जो यह हृदय है यही मन भी है, सम्यक ज्ञान शक्ति, आज्ञा देने की शक्ति, विभिन्न रूप से जानने की शक्ति, तत्काल जानने की शक्ति, धारण करने की शक्ति, देखने की शक्ति धैर्य, बुद्धि, मनन, शक्ति, वेग, स्मरण शक्ति, संकल्प शक्ति, मनोरथ शक्ति, प्राणशक्ति, कामना शक्ति स्त्री संसर्ग आदि की अभिलाषा, इस प्रकार ये सबके सब स्वच्छ ज्ञान स्वरूप परमात्मा के ही नाम अर्थात् उसकी सत्ता को बोध कराने वाले लक्षण हैं....३।३ यह ब्रह्मा इन्द्र प्रजापति समस्त देवता पृथ्वी, वायु, आकाश जल और तेज, पांच महाभूत छोटे-छोटे मिले हुए से बीज रूप समस्त प्राणी इनसे भिन्न दूसरे भी अन्डे से उत्पन्न होने वाले एवं जेर से उत्पन्न होने वाले तथा पसीने से उत्पन्न होने वाले, जमीन फोड़कर उत्पन्न होने वाले तथा घोड़े, गायें, हाथी, मनुष्य ये सब के सब मिल कर जो कुछ भी यह जगत, जो भी पंखों वाला, चलने फिरने वाला और नहीं चलने वाला प्राणी समुदाय है वह सब प्रज्ञानस्वरूप परमात्मा से शक्ति पाकर ही अपने-अपने कार्य में समर्थ होने वाला है, यह उस प्रज्ञानस्वरूप परमात्मा में ही स्थित है, यह समस्त ब्रह्माण्ड ज्ञान स्वरूप परमात्मा से ही ज्ञानशक्ति युक्त है प्रज्ञान स्वरूप परमात्मा ही इस स्थित का आधार है। यह प्रज्ञान ही ब्रह्म है।"

मुण्डकोपनिषद ३।१।४ "यह परमेश्वर ही प्राण है जो सब प्राणियों के द्वारा प्रकाशित हो रहा है। इसको जानने वाला ज्ञानी अभिमान पूर्वक बढ़-बढ़ कर बातें करने वाला नहीं होता।" प्रश्नोपनिषद "पृथ्वी और उसकी तन्मात्रा (सूक्ष्म गन्ध) भी, जल और रस तन्मात्रा भी, तेज और रूप तन्मात्रा भी, वायु और स्पर्श तन्मात्रा भी आकाश और शब्द तन्मात्रा भी, नेत्र इन्द्रिय और देखने में आने वाली

वस्तु भी सब उसी परमात्मा से शक्ति प्राप्त करके अपनी गतिविधियों का संचालन करते हैं। भगवान ने गीता में स्पष्ट कहा है कि मैं समस्त प्राणियों के हृदयों में बैठकर उन्हें मशीन की तरह घुमाता रहता हूँ और वह घूमते रहते हैं। इस स्थिति में अपने को कर्ता मानना अज्ञानता का परिचायक है। अपने को अकर्ता समझना ही ज्ञान का लक्षण है।

भगवान विष्णु इस अहंकार को अपने पर हावी नहीं होने देते, उसे अपने हाथों में रखते हैं, वह अपने भक्तों को भी प्रेरित करते हैं कि आत्म कल्याण के लिए अहंकार रूपी शार्ङ्ग धनुष को काबू में रखना चाहिए अन्यथा यह घुन की तरह आत्म शक्ति को खा जाएगा।

• • •

विष्णु पुराण ५।२२।७३ के अनुसार पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ वाण रूप से भगवान विष्णु के आयुधों में विराजी हैं। वाण को जब छोड़ा जाता है तो वह अपने लक्ष्य पर सीधा जाता है। इन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषयों की ओर वाण की तरह दौड़ती है। यही इन्द्रियों और वाणों की समानता है।

श्रावण, त्वचा, नेत्र, घ्राण और जिह्वा—यह पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। वाक्, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ—यह पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। यह दस इन्द्रयाँ मनुष्य के उपयोग के लिए बनी हैं। यह मानव शरीर के आवश्यक अंग हैं। इनमें से किसी एक की भी कमी हो जाए या उनमें रोग उत्पन्न हो जाए, तो शरीर के स्वाभाविक कार्यों में बाधा उपस्थित होती है, उनका उचित उपयोग किया जाए तो मानव के मित्र सिद्ध होती हैं परन्तु यदि उन्हें स्वच्छन्द छोड़ दिया जाय और वह अपने-अपने विषयों में विचरती रहें तो वह स्वामी की शत्रु बन कर उसका नाश कर देती हैं। इसी लिए अध्यात्म शास्त्र का आदेश है कि कल्याण की इच्छा वाले साधक को इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना चाहिए। विष्णु वाणों को अपने तरकश में रखते हैं और आवश्यकता पड़ने पर अपने इच्छित स्थान की ओर छोड़ते हैं। विष्णु की इन्द्रियाँ अपने काबू में हैं। वह वाणों के प्रतीक द्वारा संकेत करते हैं कि जिन्हें विष्णु के तद्रूप होना हो, वह अपनी इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखें।

शास्त्रों का आदेश है कि हम हाथों से किसी को कष्ट न दें। चोरी आदि कोई बुरा कार्य न करें, साधु संतों व गुरुजनों की सेवा करें, पैर सत्संग और देव मन्दिर की ओर अग्रसर हों सेवा कार्यों मे प्रवृत्त हों वाणी से मधुर शब्द ही बोलें, ऐसे वाक्य न कहें जिससे किसी को बुरा लगे, सत्शास्त्रों और उपदेशों का ही श्रवण करें, भगवान के निग्रह और साधु संतों के ही दर्शन करें, स्वाद के लिए नहीं, शरीर धारण करने के लिए विवेक पूर्वक खाएँ।

आज वातावरण बहुत दूषित हो चुका है। उपन्यास पत्रिकाएँ फिल्में काम-वासना को भड़काने का आसुरी काम कर रही हैं। नेत्र स्त्री में पवित्र रूप को नहीं, कामी रूप से ही देखते हैं, उनके अंग प्रत्यंग का निरीक्षण करते हैं। भजन कथा, कीर्तन, सुनना तो पिछड़े युग की बात हो गई है, सिनेमा के गाने ही तथाकथित सभ्य युग की देन है। बीड़ी, सिगरेट, माँस, शराब आदि तामसिक पदार्थों का सेवन आधुनिक सभ्यता का एक अंग बन गए हैं। यह आहार तमोगुणी प्रवृत्तियों को उत्तेजित करते हैं। आहार का कामवासना से घनिष्ठ सम्बन्ध है। श्री विजय कृष्ण गोस्वामी का मत है कि शरीर में प्रधान यंत्र है—जीभ ! जीभ वश हो जाने से सब कुछ वश हो जाता है। गाँधी जी का कहना है— "ब्रह्मचर्य के साथ अस्वाद व्रत का बहुत निकट का सम्बन्ध है, मेरे अनुभव के अनुसार इस व्रत का पालन करने में समर्थ होने पर ब्रह्मचर्य अर्थात् जननेन्द्रिय संयम बिल्कुल सहज हो जाता है। इन इन्द्रियों को काबू में रखना ही शक्ति और सिद्धि का साधन है।

हमारे शास्त्रों ने इन्द्रिय निग्रह के लिए इसी उद्देश्य से प्रेरित किया है। गीता ४।३९ में कहा है "जब श्रद्धावान मनुष्य इन्द्रिय निग्रह द्वारा ज्ञान प्राप्ति का प्रयत्न करने लगता है तब उसे ब्रह्मात्मैक्य रूप ज्ञान का अनुभव होता है और फिर उस ज्ञान से उसे शीघ्र ही पूर्ण शान्ति मिलती है।" बुद्धि की स्थिरता के लिए इन्द्रियों को विषयों से खींचना

आवश्यक बताया गया है २।५८ और कछुए का उदाहरण देते हुए कहा गया है कि जिस तरह वह अपने हाथ पैर आदि अवयव सब ओर से सिकोड़ लेता है उसी तरह इन्द्रियों के शब्द स्पर्शादि विषयों से अपनी इन्द्रियों को खींच लेना चाहिए। गीता २।६०।६१ में इन्द्रियों को बलात्कार से मनमानी ओर साधक को खींच ले जाने वाली शक्ति कहा गया है। जो उनके प्रवाह में वह जाता है उसका आत्मिक पतन हो जाता है। जो उन्हें अपनी इच्छानुसार चलाता है, उसका उत्थान होता है। गीता ३।६,७ में इन्द्रियों के प्रति कड़ा रूख अपनाने को अहितकर बताया है। और जो हाथ पैरादि पर रोक लगाकर मन से विषयों का चिंतन करता है, उसे दम्भिक कहा है। भगवान ने परामर्श दिया है कि उसकी योग्यता विशेष है जो मन से इन्द्रियों का आकलन करके केवल कर्मेन्द्रियों द्वारा अनासक्त बुद्धि से कर्मयोग का आरंभ करता है। इसी को दृष्टि में रखते हुए वशिष्ठ ने इन्द्रिय निग्रह को मानस तीर्थ कहा है। जो इसमें स्नान करता है वह पवित्र हो जाता है। महाभारत (उद्योग पर्व) में स्पष्ट कहा है कि इन्द्रियों को काबू में रखना ही ज्ञान है और वही मार्ग है जिससे कि बुद्धिमान लोग उस परम पद की ओर बढ़ते हैं। कोई अजितेन्द्रिय पुरुष श्री हृषीकेश भगवान को प्राप्त नहीं कर सकता। संत तुकाराम ने भी इसी सिद्धात की पुष्टि करते हुए व्यंग से कहा है "ईश्वर के पास कुछ मोक्ष की गठरी नहीं धरी है कि वह किसी के हाथ में दे दे। यहाँ तो इन्द्रियों को जीतना और मन को निर्विषय करना ही मुख्य उपाय है।"

आत्मिक उत्थान के पथ पर बढ़ने वाले साधक के लिए जनक ने अच्छा पथ प्रदर्शन किया है। महा भारत (जनक ब्राह्मण संवाद) में अपना उदाहरण देते हुए कहा है "जिस वैराग्य बुद्धि को मन में धारण कर मैं विषयों का सेवन करता हूँ, उसका हाल सुनो ! नाक से मैं मैं अपने लिए वास नहीं लेता, आँखों से मैं अपने लिए नहीं देखता इत्यादि और मन का उपयोग भी मैं आत्मा के लिए करता हूँ अपने लाभ के लिए

नहीं । अतएव मेरी नाक आँख इत्यादि और मन मेरे वश में हैं। अर्थात मैंने उन्हें जीत लिया है। "जनक का व्यवहारिक अनुकरण करते ही साधक कल्याण मार्ग पर अग्रसर हो सकता है।

इन्द्रियाँ जब स्वतन्त्र हो जाती हैं तो वह बाणों की तरह ही मनुष्य को बींधती हैं। अतः भगवान विष्णु का आदेश है कि इन्द्रियों का गुलाम नहीं, इनका स्वामी बनकर अनासक्त बुद्धि से इच्छांनुसार उपयोग करना चाहिए

• • •

विष्णु पुराण १।२२।७४ के अनुसार भगवान विष्णु जो अत्यन्त निर्मल खड्ग धारण करते हैं, वह अविद्यामय कोश से आच्छादित विद्यामय ज्ञान ही है। वह ज्ञान रूपी खड्ग से अज्ञान का नाश करते हैं, इसी प्रकाश से अन्धकार पर आक्रमण करते हैं, तामसिक आघातों से सुरक्षित रहने का यह अद्वितीय साधन है। हमारे चारों ओर का वातावरण तामसिक व राजसिक प्रवृत्तियों से ओत प्रोत है, आसुरी शक्ति घात लगाए बैठी रहती हैं, थोड़ी सी असावधानी से वह अपना प्रभाव जमा लेती हैं। अतः विष्णु भक्त को सतर्क रहना है और ज्ञान रूपी खड्ग को सदैव अपने साथ रख कर आक्रमणकारी दुष्प्रवृत्तियों को खण्ड–खण्ड करना है। इसकी धार इतनी तेज है कि एक ही वार में शत्रु को चारों खाने चित्त कर देती है तभी निरंतर इसे अपने साथ रखने का आदेश दिया गया है।

भगवान ने ज्ञानी भाव को अपना प्रिय माना है और कहा है— गीता (४।३४) "ध्यान में रख कि प्राणीमात्र से प्रश्न करने से और सेवा से तत्ववेत्ता ज्ञानी पुरुष तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे······ (४।३५) जिस ज्ञान को पाकर हे पाण्डव ! फिर तुझे ऐसा मोह न होगा और जिस ज्ञान के योग से समस्त प्राणियों को तू अपने में और मुझ में भी देखेगा।·······(४।३६) सब पापियों से यदि अधिक पाप करने वाला हो, तो भी उस ज्ञान नौका से ही तूं सब पापों को पार कर जावेगा।·······(४।३७) जिस प्रकार प्रज्वलित की हुई अग्नि सब इन्धन को भस्म कर डालती है उसी प्रकार हे अर्जुन ! यह

ज्ञान रूपी अग्नि सब कार्यों को (शुभ-अशुभ बन्धनों को) जला डालती है। ...(४।३८) इस लोक में ज्ञान के समान पवित्र सचमुच और कुछ भी नहीं है। काल पाकर उस ज्ञान को वह पुरुष आप ही अपने में प्राप्त करता है जिसका योग अर्थात् कर्मयोग सिद्ध हो गया है । (४।३९) जो श्रद्धावान पुरुष इन्द्रिय संयम करके उसी के पीछे पड़ा रहे, उसे भी यह ज्ञान मिल जाता है और ज्ञान प्राप्त हो जाने से तुरन्त ही उसे परम शान्ति प्राप्त होती है । ......(४।४०) परन्तु जिसमें न स्वयं ज्ञान और न श्रद्धा ही है, उस संशयग्रस्त मनुष्य का नाश हो जाता है ।...(४।४१) उस आत्मज्ञानी पुरुष को कर्म बद्ध नहीं कर सकते ।...(४।३३) द्रव्यमय यज्ञ को अपेक्षा ज्ञानमय यज्ञ श्रेष्ठ है ।...(५।१६) ज्ञान से जिनका अज्ञान नष्ट हो जाता है, उनके लिए उन्हीं का ज्ञान परमार्थ तत्व को सूर्य के समान प्रकाशित कर देता है और उस परमार्थ तत्व में ही जिनकी बुद्धि रङ्ग जाती है, वहीं जिनका अन्त:करण रम जाता है और जो तनिष्ट एवं तत्परायण हो जाते हैं, उनके पाप ज्ञान से बिल्कुल धुल जाते हैं और वह फिर जन्म नहीं लेते ।...(५।१५) ज्ञान पर अज्ञान का पर्दा पड़ा रहने के कारण (अर्थात् माया से) प्राणी मोहित हो जाते हैं । ...७।१५ माया ने जिनका ज्ञान नष्ट कर दिया है, ऐसे मूढ़ और दुष्कर्मी, नराधम आसुरी बुद्धि में पड़ कर मेरी शरण में नहीं आते -...(७।१७) निष्काम बुद्धि से बरतने वाले ज्ञानी की योग्यता विशेष है। ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और ज्ञानी मुझे (अत्यन्त) प्रिय है । ...(७।१८) यह सभी भक्त उदार अर्थात् अच्छे हैं परन्तु मेरा मत है कि इनमें ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है ।...(७।१९) अनेक जन्मों के अनन्तर यह अनुभव हो जाने से कि "जो कुछ है वह सब वासुदेव ही है ज्ञानवान मुझे पा लेता है—ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ।"

स्मृति वचन है "पूर्ण ब्रह्मज्ञानी पुरुष सब कर्म करके भी श्री कृष्ण और जनक के समान अकर्ता, अलिप्त एवं सर्वदा मुक्त ही रहता है ।" महाभारत में जनक ने सुलभा से कहा है (शा० ३२०।३) "ज्ञान

(अर्थात् मानसिक क्रियारूपी ज्ञान) हो जाने पर मनुष्य यत्न करता है और यत्न के इस मार्ग से ही अन्त में उसे महत्व (परमेश्वर) प्राप्त हो जाता है।" महा० भा० वन० (१६६।१०६।१०७ शा० २२१।१७) "भुना हुआ बीज उग नहीं सकता वैसे ही जब ज्ञान से (कर्मों के) क्लेश दग्ध हो जाते हैं, तब वे आत्मा को पुनः प्राप्त नहीं होते।" वृहदारण्यक उप० (१।४।१०) "जो यह जानता है कि मैं ही ब्रह्म हूँ, वही अमतत्व ब्रह्म होता है।" छांदोग्य उप० (४।१४।३) "जिस प्रकार कमल पत्र में पानी लग नहीं सकता, उसी प्रकार जिसे ब्रह्मज्ञान हो गया, उसे कर्म दूपित नहीं कर सकते।"

तैत्तरीय उप० (२।७) "ब्रह्म जानने वाले को मोक्ष मिलता है।" वृहदार०उप०(१४।२३) जिसे यह मालूम हो चुका कि सब कुछ आत्ममय है,उसे पाप नहीं लग सकता। श्वेताश्ववर उप० (५।१३,६।१३ "परमेश्वर का ज्ञान होने पर सब पापों से मुक्त हो जाता है।" ईशा० (११) मैत्रुय० (६।६) "विद्या से अमृतत्व मिलता है" श्वेताश्वर (३।८) "परमेश्वतर को जान लेने से अमृतत्व मिलता है, विना ज्ञान के मोक्ष प्राप्ति का दूसरा मार्ग नहीं है।" योग वशिष्ठ "सब दुःखों को नष्ट करने वाला ज्ञान है।" लोकमान्य तिलक "पदार्थों में एक ही अविनाशी परमेश्वर समा रहा है—इस समझ का नाम है ज्ञान।" समर्थ गुरु रामदास "जिससे निर्गुण परमात्मा जानने में आता है, वही ज्ञान है, उसके अतिरिक्त सब अज्ञान है।" स्कं० पु० का० पू० (६।३३) "ज्ञान तीर्थ है।" स्वामी की भोले वावा जी—

यह ज्ञान ही केवल तुझे सुख मुक्ति का दातार है।
न ज्ञान विना सौ कल्प में भी छूटता संसार है।"

"स्वामी ब्रह्मानन्द एकता और समता ही ज्ञान का लक्षण है।"

ऐसे पवित्र ज्ञान रूपी खड़ग को धारण करने के लिए भगवान विष्णु प्रेरित करते हैं ताकि इस लम्बी जीवन यात्रा में जो शत्रु मार्ग अवरुद्ध करने वाले मिलें, उन्हें खड्ग से काटते हुए आगे बढ़ते चलें और अपने लक्ष्य स्थल तक पहुँच जाए। * * *

विष्णु के पीत वस्त्र ६१

भगवान् विष्णु का वस्त्र, आवरण अथवा आच्छादन पीत वर्ण का माना गया है। पीत वस्त्र त्याग और बलिदान की पवित्र भावनाओं का प्रतीक है। गृहस्थ धर्म को त्याग कर जब साधक वानप्रस्थ आश्रम में जाता है, तो वह पीत वस्त्र धारण करता है। अपने गृहस्थ जीवन में भी उसने त्याग का पाठ पढ़ा है परन्तु वह केवल अपने परिवार तक ही सीमित था, अब उस त्याग से विकास का समय आता है। अतः उस भावना के प्रतीक रूप में उसी के अनुरूप आवरण धारण करता है ताकि हृदय में स्वार्थ की जो ग्रन्थियाँ विद्यमान हैं, वह परमार्थ भावना की छाया में खुल जाएँ और वह सारे विश्व को ही अपना परिवार मान ले, उसके लिए जिए, उसी के लिए मरे। जब इन भावनाओं का साधक के हृदय में उदय होता है तो वह विश्व रूप हो जाता है।

पीत वर्ण अग्नि और यज्ञ का भी प्रतीक है। अग्नि की लपटें भी पीली होती हैं। अग्नि के माध्यम से ही यज्ञ सम्पन्न होता है। 'यज्ञो वै विष्णु' इस शतपथ ब्राह्मण के वाक्य से विष्णु तो यज्ञ रूप ही हैं। वह त्याग की प्रतिमूर्ति हैं। विष्णु सारे विश्व का पालन-पोषण करते हैं। एक छोटे से परिवार का पालन-पोषण करने के लिए व्यक्ति को हर प्रकार के साधन जुटाने के लिए दिन-रात परिश्रम करना पड़ता है। बाधाएँ हर समय उसका मार्ग रोके रहती हैं, उन्हें पार करने के लिए

संघर्ष करना पड़ता है। जब यह कठिनाइयाँ उग्र रूप में आती हैं और वह अपने आपको निर्बल पाता है तो वह अपने हथियार डालकर जीवन की पराजय स्वीकार कर लेता है और आत्म-हत्या कर बैठता है। प्रायः लोग अपने दुर्भाग्य का रोना रोते देखे जाते हैं और सर धुन-धुन कर रोते हैं। वह एक छोटे से परिवार के पालन से ही इतने परेशान हो जाते हैं। भगवान् विष्णु तो समस्त सृष्टि की ८४ लाख योनियों के अनगिनती परिवारों के पालनकर्त्ता हैं परन्तु एक बार भी उन्हें जीवन से निराश नहीं होना पड़ा। वह लक्ष्मीपति हैं, लक्ष्मी निरन्तर उनके चरण दबाती रहती है। ऐश्वर्य उनके चरणों पर लोटता है। जो त्याग करता है, लक्ष्मी उसी के पास आती है। जो लक्ष्मी के प्रति आसक्त रहते हैं, लक्ष्मी उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखती है। जो जीवन को यज्ञ रूप बना लेते हैं, वही लक्ष्मी के अधिकारी होते हैं। जो दूसरों को देने की भावना रखता है, उसी को अधिक मिलता है, ताकि वह निरन्तर दूसरों को देता रहे, खुले हाथों से वितरण करता रहे। वेद ने भी आदेश दिया है, सौ हाथों से कमाओ और हजार हाथों से दान करो। यह यज्ञीय भावना है, जो विष्णु के पीत वस्त्र मे अभिप्रेत होनी है।

यज्ञ शब्द का अंग्रेजी अनुवाद (सेक्रीफाइस) किया जाता है। 'सेक्रीफाइस' का अर्थ त्याग और बलिदान है। यज्ञ के अनेकों अर्थ हैं, परन्तु उनमें मुख्य है त्याग, परमार्थ, बलिदान, निःस्वार्थता, समाज और राष्ट्र की सेवा आदि। यज्ञ में हम घी, जौ, चावल, तिल, बूरा, मेवे, समिधा, औषधियों आदि का त्याग करते हैं, उनकी आहुतियाँ देते हैं। किस लिये ? विश्व के स्वस्थ विकास के लिये। यज्ञ में बैठा हुआ साधक "इदम न मम" मन्त्र का भी उच्चारण करता है और कहता है, यह पदार्थ मेरे नहीं हैं, यह परमात्मा के हैं, राष्ट्र के हैं। उनकी वस्तुयें मैं उन्हीं के लिये सौंपता हूं। साधक अपना धन, सम्पत्ति, शारीरिक, मानसिक व आत्मिक शक्तियों को राष्ट्र के नवनिर्माण में लगा देने की भावना करता है, संकल्प करता है।

यज्ञ भारतीय संस्कृति का पिता है अर्थात् त्याग हमारी संस्कृति की आधार-शिला है। त्याग की भावनाओं का जाग्रत करना ही सांस्कृतिक आन्दोलन है। स्वार्थ को अपनाना आसुरी परम्परा को अपनाना है। परमार्थ और त्याग का अवलम्बन ऋषि पथ पर अग्रसर होना है। हमारे ऋषियों ने हमें स्वार्थी न बनकर समाज सेवी बनने की प्रेरणा दी है। यज्ञ ही वह क्रियात्मक प्रेरणा शास्त्र है जिससे हम त्याग और बलिदान की शिक्षा लेते हैं। इसीलिये यज्ञ को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। जीवन की प्रत्येक क्रिया के साथ, चाहे वह शुभ हो या अशुभ यज्ञ करने का आदेश दिया है। संस्कार, व्रत, त्योहार, कथा, कीर्तन, उत्सव सबके साथ यज्ञों के आयोजन जुड़े रहते थे। नित्य पाँच यज्ञ करने का भी आदेश है। यज्ञों के लिये ही वेद मन्त्रों का निर्माण हुआ, उनकी व्याख्या में अनेकों शास्त्रों का सृजन हुआ। इनके प्रचार, प्रसार व व्यवस्था में ऋषि अपने जीवन का दो तिहाई भाग लगा देते थे। प्राचीन काल में इस पवित्र भावना से प्रेरित होकर राजा महाराजा भी अपनी धन-सम्पत्ति को तिजोरी में बन्द करके ही नहीं रख छोड़ते थे वरन् देश के उत्थान के लिये उसे लुटा देते थे। दान देने में वह संकोच नहीं करते थे इतिहास में ऐसे भी राजाओं का वर्णन है जिनके पास यज्ञ के पश्चात् मट्टी के पात्र तक ही बच पाये थे।

विभिन्न प्रकार के राष्ट्रीय विकास के लिये यज्ञों के ही आयोजन हुआ करते थे। कृषि, खेती बाड़ी के विकास के लिये कृषि विशारदों का सम्मेलन गोमेध यज्ञ में बुलाया जाता था। राष्ट्र की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिये राजनीतिज्ञों का सङ्गठन अश्वमेध यज्ञ के रूप में होता था। देश की भक्ति भावना को उद्दीप्त करने के लिये रुद्र यज्ञ किये जाते थे। युद्ध काल में जनता को देश की रक्षा के लिये बलिदान की प्रेरणा यज्ञ करते थे। आर्थिक विकास की योजनाओं पर विचार विनिमय करने के लिए लक्ष्मी यज्ञ किए गए थे। प्राचीन काल में प्रत्येक समस्या का समाधान

यज्ञों के ही माध्यम से होता था। यही कारण था कि उस समय लोग त्याग की भावनाओं से ओत-प्रोत रहते थे। अपना सर्वस्व बलिदान करने के लिए तत्पर रहते थे।

जिस व्यक्ति में यज्ञ की पवित्र भावना का अभाव रहता है, उसको हमारे शास्त्रों ने चोर और पापी के घृणित शब्दों से सम्बोधित किया है क्योंकि उससे एक अपवित्र भावना और विचारधारा का पोषण होता है, जो कभी भी देश व जाति के लिये घातक सिद्ध हो सकती है। गीता (३।१३) में भगवान् का आदेश है "यज्ञ करके शेष बचे हुए भाग को ग्रहण करने वाले सज्जन सब पापों से मुक्त हो जाते हैं परन्तु (यज्ञ न करके केवल) अपने ही लिये जो (अन्न) पकाते हैं वह पापी लोग पाप भक्षण ही करते हैं।" इससे पूर्व श्लोक में भी इन्हीं भावनाओं का उल्लेख है। यथा "यज्ञ से सन्तुष्ट होकर देवता लोग तुम्हारे इच्छित (सब) भोग तुम्हें देंगे। उन्हीं का दिया हुआ उन्हें वापस न कर जो केवल स्वयं उपभोग करता है, वह सचमुच चोर है" (गीता ३।१२)। स्वार्थपरता की घातक भावना पर यह विचार वज्र का काम करते हैं। भगवान कृष्ण नहीं चाहते थे कि हमारा समाज स्वार्थियों का समूह मात्र ही बना रहे। वह प्रत्येक हिन्दू में निःस्वार्थता के दर्शन करना चाहते थे। वेद भी इस सम्बन्ध में मौन नहीं हैं। वह भी इसकी पुष्टि करते हैं। ऋग्वेद (१०।११७.६) में कहा है "जो मनुष्य अयर्मा या सखा को पोषण नहीं करता अकेला ही भोजन करता है, उसे केवल पापी ही समझना चाहिये।" मनु भगवान् ने भी इन विचारों का अनुकरण किया है और आदेश दिया है "जो मनुष्य अपने लिये ही अन्न पकाता है, वह केवल पाप भक्षण करता है (मनुस्मृति ३।११८)।

यह यज्ञीय पवित्र भावना है, जिसे आवरण के रूप में विष्णु भगवान् धारण करते हैं, तभी संसार भर की सुख-शान्ति अपने अन्दर समेटे हुए हैं। ऐश्वर्य तो उनके चरणों पर गिरता ही है हजार फण

वाले शेष पर शयन करते हुए भी उन्हें कुछ असुविधा और अशान्ति नहीं प्रतीत होती। भृगु जैसे ऋषि उनका घोर अपमान करने पर तुल जाते हैं, तब भी वह प्रसन्नतापूर्वक उसे सहन करते हैं और उनके अपराध को मौन रूप से क्षमा कर देते हैं। उनकी अशिष्टता का स्मरण न कराकर वह उनके स्वागत न कर पाने का खेद प्रकट करते हैं। इससे वह परम गम्भीर और शान्त व्यक्तित्व के स्वामी लगते हैं। यह यज्ञीय भावना द्वारा शक्ति विकास का ही परिणाम है।

विष्णु अपने पीत वस्त्र द्वारा प्रेरित करते हैं कि जिन्हें अपने लौकिक और पारलौकिक जीवन को सुखमय बनाना अभीष्ट है, वह अपने जीवन को यज्ञमय बनाएँ, तभी उनके लक्ष्य की पूर्ति होगी।



विष्णु के आठ द्वारपाल— ६२

भागवत १२।११।२० में लिखा है कि भगवान के स्वाभाविक गुण अष्ट सिद्धियों को ही नन्द सुनन्दादि आठ द्वारपाल कहते हैं। सिद्धि शक्तियों को ही कहते हैं। शक्ति से विकास भी होता है और सुरक्षा भी प्रगति पथ पर बढ़ने के लिए साधक को इन दोनों की आवश्यकता रहती है। वह आठ द्वारपाल रूपी सिद्धियाँ इस प्रकार हैं।

१ आत्म सिद्धि—जगत के प्रभावों से अलिप्त व अप्रभावित रहना, आसुरी आक्रमणों से सुरक्षित रहना, इन्द्रिय निग्रह, मनोनिग्रह, आत्म दर्शन, ईश्वर दर्शन, समाधि, मोक्ष की प्राप्ति।

२ विविधा सिद्धि—अपनी मानसिक शक्तियों को इतना विकसित कर लेना कि उनसे दूसरों के मन को प्रभावित करके अपनी इच्छानुकूल कार्य कराना, पञ्च-तत्वों पर नियन्त्रण करके उनसे अभीष्ट उद्देश्यों की पूर्ति कराना।

३ ज्ञान सिद्धि—ज्ञान सिद्धि प्राप्त करके अपनी व दूसरों की बीते दिनों की बातें बताना व भविष्य में होने वाली घटनाओं की भविष्यवाणी करना, दूसरे व्यक्तियों व परिस्थितियों को इस प्रकार जान लेना जैसे अपने स्थूल नेत्रों से अपने समक्ष ही देख रहे हों। बुद्धि और स्मरण शक्ति का असाधारण विकास।

४ तप सिद्धि—सर्दी, गर्मी, वर्षा व ऋतुओं के प्रभाव को सहन करना, भूख प्यास को काबू में रखना, कठिन परिश्रम, तप करने की क्षमता रखना, लौकिक व पारलौकिक दोनों क्षेत्रों में तपश्चर्या के मापदण्ड स्थापित करना, जल व आकाश में स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करना।

५ क्षेत्र सिद्धि—अपने सूक्ष्म शरीर को इस योग्य बनाना कि वह कहीं भी दूर-दूर स्थानों में बेरोकटोक भ्रमण कर सके। अपनी सिद्धि द्वारा अधिक वस्तुओं को कम स्थान में समा लेने की क्षमता प्राप्त कर लेना।

६ देव सिद्धि—मन्त्र-जप द्वारा सिद्धि प्राप्त करके छाया-पुरुष, बेताल, प्रेत, पिशाच, यक्ष, गन्धर्व, देवताओं का सहयोग प्राप्त करना। योग साधना द्वारा कुण्डलिनी और षट्चक्रों का जागरण करना और ब्रह्मरंध्र से सम्पर्क स्थापित करना।

७ शरीर सिद्धि—निरोग, स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट रहना, रोग के आक्रमणों से सुरक्षित रहना, आशीर्वाद से दूसरों का रोग मुक्त करने की क्षमता प्राप्त करना। दुःखी प्राणियों की चिन्ताओं को दूर करने,की सिद्धि, शापों का सफलीभूत होना।

८ विक्रिया सिद्धि—अपनी समस्त वासनाओं की पूर्ति कर सकना,सबको वश में कर लेना, दूसरों की दृष्टि से ओझल हो जाना,अपने शरीर को छोटा-बड़ा, हल्का-भारी कर लेना व किसी भी रूप में परिवर्तित कर लेना आदि।

यह सिद्धियाँ भगवान विष्णु के ८ द्वारपाल हैं। जब साधक इनका प्रदर्शन करने लगता है तो उसका पतन हो जाता है। तभी योग-दर्शन विभूति पाद ३।३७ में कहा है कि यह सिद्धियाँ समाधि सिद्धि में विघ्न हैं। सिद्धियाँ प्राप्त होने पर जब अहंकार बढ़ता है कि मैं सिद्ध हो गया तो शक्ति का ह्रास होने लगता है। सनक, सनन्दन आदि ऋषि जब

विष्णु लोक में गये तो जय और विजय नामक द्वारपालों ने उनको रोका और यथायोग स्वागत नहीं किया तो उन्हें शाप दिया कि वह पृथ्वी लोक में असुर रूप में जन्म लेंगे और जगत को आतंकित करने के लिये अनेकों प्रकार की कुप्रवृत्तियों में संलग्न रहेंगे। फिर भगवान विष्णु अवतार लेकर उनका वध करेंगे तभी उनका उद्धार होगा। पौराणिक कथाओं के अनुसार जय और विजय ने शापवश हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु रूप में जन्म लिया और भगवान ने वाराह और नृसिंह रूप में अवतार लेकर इनका वध किया। त्रेता में रावण कुम्भकरण रूप में जन्म लिया तो भगवान ने राम और लक्ष्मण रूप में उनका वध किया। द्वापर में शिशुपाल व दन्तवक्र रूप में जन्म लिया तो भगवान ने कृष्ण अवतार धारण करके उन्हें परलोक पहुँचाया। तभी वह ऋषियों के शाप से मुक्त हुए। जय और विजय इतने ऊँचे उठ चुके थे कि भगवान के निकटतम सम्पर्क में रहते थे परन्तु जब दोष पनपने लगते हैं तो साधक का पतन हो जाता है। स्वर्ग से पृथ्वी लोक पर जन्म लेने का यही अभिप्राय है। सिद्धि प्राप्त होने पर जब गर्व होता है तो यही दशा होती है। पतित होने पर कालान्तर में वह भगवान की कृपा से ही अपने पूर्व पद पर आसीन होते हैं। अपनी बिगड़ी को भगवान स्वयं बनाते हैं। सिद्धि प्राप्त होने पर जब असावधानी बरती जाती है तो उसका ह्रास स्वाभाविक ही है। उस समय साधक को चाहिए कि तप और परिश्रम द्वारा अपने पहले के स्तर तक पहुँचने का प्रयत्न करे और भविष्य में संचित शक्ति के क्षीण होने से रोकने के लिए आवश्यक पग उठाए। यही भगवान की प्रेरणा है।



विष्णु के दस अवतार ६३

हिन्दू संस्कृति की धारणा है कि जब धर्म का नाश होकर अधर्म की विजय होती है, तो पट-परिवर्तन के लिए भगवान् स्वयं शरीर धारण करते हैं और आसुरी तत्वों का नाश करके धर्म की स्थापना करते हैं। यजुर्वेद (३१।१९) में इस सिद्धान्त की पुष्टि में कहा गया है कि 'वह अजन्मा परमात्मा गर्भ धारण करके अनेक प्रकार से उत्पन्न होते हैं।' ऋग्वेद ३।३।२६।३ के अनुसार 'वह ईश्वर बार-बार अनेकों रूप धारण करता है।' ऋग्वेद ६।४७।१८ में कहा है कि 'परमात्मा अपनी माया द्वारा अनेक रूप बनाता है।'

विष्णु, को विश्व व्यापी देव की संज्ञा दी गई है, क्योंकि वह तीन पगों से सारे संसार की परिक्रमा करने की क्षमता रखते हैं, जिससे सारा संसार उनके पैरों की धूलि से आच्छादित हो जाता है, (ऋग्वेद १।२२।१६)। यह रूप उनके स्थापनशील होने का द्योतक है। ऋग्वेद १।२२।१२ में उन्हें समस्त धर्मों का धारण करने वाला बताया गया है, वह संसार की रक्षा करने में सक्षम है, उन पर किसी के आघात का प्रभाव नहीं पड़ता। ऋग्वेद ७।१६।१ के अनुसार उन्होंने पृथ्वी को धारण कर रखा है। ऋग्वेद ७।१००।६ में उनके पौरुष की प्रशंसा की गई है। ऋग्वेद १।१५४।१,४ में उनके पराक्रमों की सिंह से उपमा दी गई है। ऋग्वेद ७।१००।१,२ में उन्हें विश्व के हित-चिन्तक के रूप में स्थापित किया गया है। ऋग्वेद १००।७।६ के अनुसार वह युद्धों में

विभिन्न प्रकार के रूप ग्रहण करते हैं। वह इन्द्र के सखा, वृत्र-वध में उनके सहायक और असुरों में नाशकर्ता कहे गए हैं।

विष्णु के इन्हीं गुणों ने पुराणों के आख्यानों का रूप धारण कर लिया। वह लक्ष्मीपति हैं, कौस्तुभमणि और वैजयन्ती माला धारण करते हैं, क्षीर सागर में निवास करते हैं, गरुड़ रूपी वाहन पर सवार रहते हैं, अमृत की प्राप्ति के लिए विश्व का पथ-प्रदर्शन करते हैं, गजेन्द्र की तरह मोह जाल में पड़े प्राणियों को छुटकारा दिलाते हैं। वह शेष शय्या पर सोते हैं, आसुरी शक्तियों का दमन करते हैं, भृगु की लात खाकर भी सहनशीलता का परिचय देते हैं, ध्रुव जैसे दृढ़ व्रती को साक्षात् दर्शन देते हैं, प्रह्लाद जैसे भक्तों की रक्षा करते हैं। वह यज्ञ और अग्नि के पर्याय बनकर प्रजाजनों के हितैषी बनते हैं, गौ माता से विशेष सम्पर्क स्थापित करते हैं, शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास के रूप में तुलसी, गङ्गा, सरस्वती और लक्ष्मी को अपनी पत्नियाँ वरण करते हैं।

इन्हीं गुणों की छाया हमें उनके दस अवतारों में दिखाई देती है। अवतार धारण करने के लिए उन्होंने कोई विशेष वर्ण या योनि को नहीं चुना, वह तो सब प्राणियों में व्यापक रूप से विद्यमान हैं, उन्हें सब समान रूप से प्रिय हैं। उनका वरदहस्त सब पर एक जैसा रहता है। वामन और परशुराम ब्राह्मण कुल में और राम, कृष्ण, बुद्ध, क्षत्रिय वंश में जन्मे हैं। मत्स्य, वाराह और कूर्म अवतार पशु रूप में हुए हैं। नरसिंहावतार नर और पशु का मिला-जुला है। कल्कि भी ब्राह्मण के घर उत्पन्न होंगे। राम मर्यादा पुरुषोत्तम बने, उन्होंने लौकिक आदर्शों की स्थापना की। कृष्ण ने परिस्थितियों के अनुसार नीति ग्रहण कर अपनी योजनाओं को सफल बनाया, बुद्ध ने हिंसक जगत् को अहिंसा का पाठ पढ़ाया, परशुराम ने क्षत्रिय राजाओं के अत्याचारों को समाप्त किया, नरों में सिंह बनकर भगवान् ने हिरण्यकशिपु का वध किया, मत्स्य

रूप में मनु को विराट् रूप के दर्शन दिए और संसार के बीजों की रक्षा की, वाराह रूप में पृथ्वी का उद्धार किया, कूर्म रूप में वह अमृत प्राप्ति की योजना के आधार स्तम्भ बने, वामन ने असुरों के राजा बलि से तीन पग पृथ्वी माँगकर सारे विश्व को नाप लिया। कल्कि में, वह दुष्टों का नाश करेंगे। इस तरह से विष्णु का प्रत्येक अवतार उनकी मूल भावना का प्रतीक रूप ही है। इन दस अवतारों का उद्देश्य और कार्यक्रम इस प्रकार से है।

मत्स्यावतार—

शतपथ ब्राह्मण १।८।१।१-६ में मत्स्यावतार की कथा आती है जो इस प्रकार से है। भगवान् सूर्य के पुत्र और महर्षि कश्यप के पौत्र महाराज वैवस्वत मनु सारी पृथ्वी पर शासन करते थे। वह आदर्श शासक थे। प्रजा के स्वार्थ को ही अपना स्वार्थ समझते थे, उन्हीं के हित-चिन्तन में निरन्तर उनका ध्यान रहता था। राजा होकर राज्य की सम्पत्ति को वह अपनी सम्पत्ति नहीं मानते थे, परन्तु जन-कल्याण के कार्यों में व्यय करके ही सन्तुष्ट होते थे। राज्य करते-करते काफी समय व्यतीत हो गया। एक बार उन्हें अनुभव हुआ कि अब प्रलय काल निकट आने वाला है। उन्होंने प्रजा का संरक्षक होने के नाते अपना यह कर्तव्य समझा कि हमें तप द्वारा इतनी शक्ति का संचय करना चाहिए जिससे उस सङ्कट की घड़ी में भी जीव भगवान् की निकटता अनुभव करे और समस्त वनस्पतियों और औषधियों का बीज नष्ट होने से बच जाए।

अपने कर्तव्य का विचार आते ही तुरन्त उसे कार्य रूप में परिणत कर दिया। वेद-वेदाङ्गों में पारङ्गत अपने तपस्वी व सदाचारी पुत्र इक्ष्वाकु को राज्य सौंप दिया और स्वयं वन में अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए चल दिये। कृतमाला नदी के तट को उन्होंने अपनी तपस्थली

बनाया। अपनी तपस्या के नियम निर्धारित किए। जप, ध्यान, प्रार्थना, स्वाध्याय सभी क्रमपूर्वक चलने लगे। वृत्तियों की एकाग्रता से शक्ति का विकास होने लगा।

एक दिन मनु स्नान के पश्चात् नदी में तर्पण कर रहे थे कि उनके हाथ में एक छोटी-सी मछली आ गई। उन्होंने उसे जल में छोड़ दिया। इस पर मछली ने विनयपूर्वक कहा—"राजन् ! आप जानते हैं, संसार में कमजोर को बलवान् सताते हैं और उसे अपने अनुकूल चलाने का प्रयत्न करते हैं। यहाँ मुझे भी यह भय है कि बड़ी मछलियाँ मुझे परेशान करेंगी। इसलिए आप मेरी रक्षा करें।" जो विश्व भर की वनस्पतियों और ओषधियों की सुरक्षा के प्रयत्न में रत हों, वह भला छोटी-सी मछली की प्रार्थना को कैसे अस्वीकार कर सकते थे ? मनु ने मछली को अपने कमण्डलु में डाल लिया।

दूसरे दिन देखा कि मछली के शरीर का आकार बढ़ गया है, और वह उस कमण्डलु में नहीं समा रही है। उसने पुनः विनयपूर्वक कहा कि यह स्थान उसके लिए छोटा प्रतीत हो रहा है। सारा शरीर छिला जा रहा है। इसलिए किसी और उपयुक्त स्थान में उसकी रक्षा की जाए। मनु ने उसे एक छोटे-से तालाब में डाल दिया। यह देखकर आश्चर्य हुआ कि कुछ समय बाद तालाब भी उसे छोटा लगने लगा। मनु का ध्यान आकर्षित हुआ। इससे भी बड़े जलाशय में डालने की प्रार्थना की गई। वहाँ भी यही दृश्य देखने को मिला। अब समुद्र ही अन्तिम स्थान रह गया था। इससे वह निराश भी हुए कि संसार भर की वनस्पतियों व ओषधियों के संरक्षण का भार वह लेने की तैयारी कर रहे हैं,पर एक छोटी-सी मछली की सुरक्षा में भी वह असमर्थ हो रहे हैं। वह समझ गये, यह कोई भगवान् की लीला ही है। जब मछली को समुद्र में डालने लगे तो उसने विनयपूर्वक कहा—"समुद्र में भयङ्कर जीवों का निवास रहता है। सम्भव है, वह मुझे खा जाएँ। आपकी सहायता

की आवश्यकता बनी ही रहेगी। मनु के अभिमान को धक्का लगा और वह अनुभव करने लगे कि प्रभु ही संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय के कारण हैं। जीव तो निमित्त मात्र होता है। उन्हें अनुभव हुआ कि भगवान् की उन पर कृपा हुई है और जिस भ्रान्ति में वह संलग्न थे, उसका नाटकीय ढङ्ग से निवारण कर दिया और उसमें अपना सौभाग्य भी मानने लगे कि भगवान् ने मछली का रूप धारण करके मेरी तपस्या को सफल बनाया है। यह विचार परिपक्व होते ही मत्स्यरूप भगवान् से मनु ने प्रार्थना की कि "अब और परीक्षा मत लीजिए, मैं वस्तु स्थिति को पहचान गया हूँ। मुझे आज्ञा दीजिए।" मत्स्य रूप भगवान् ने मनु के कर्तव्य की प्रशंसा करते हुए कहा—"तुम आदर्श शासक हो, अपनी प्रजा की रक्षार्थ तुमने वनस्पतियों व औषधियों के संरक्षण के लिए इतना घोर तप किया है, अब प्रलय निकट ही है। सप्तऋषियों और तुम्हारे अतिरिक्त कोई न बचेगा। तुम लोग एक नौका पर बैठ जाना। मैं मत्स्य रूप में तुम्हारे संरक्षण के लिए आऊँगा। मेरे सींग से अपनी नौका को बाँध देना, तुम्हारे कर्तव्य की पूर्ति होगी।" यह कहकर भगवान अन्तर्ध्यान हो गये।

समय पर प्रलय का दृश्य आ उपस्थित हुआ। मनु को उसकी कोई चिन्ता नहीं थी, न भय ही था। एक नाव पर बैठकर सप्तऋषि आए। मनु भी उस पर बैठ गए। नाव विशाल जल-धारा की उत्ताल तरङ्गों पर उछलने-कूदने लगी, परन्तु वह तो भगवान को अपना संरक्षक अनुभव कर रहे थे, इसलिए अपार जल-समूह में मृत्यु को देखते हुए भी वह आनन्द विभोर थे। इतने में मत्स्य रूप भगवान भी आ गए। उनके सींग को नौका से बाँध दिया गया। प्रलय का समय बीतता गया। हयग्रीव दैत्य ने वेद चुरा लिये थे, भगवान ने वेदों को हयग्रीव से छीनकर ब्रह्मा को दिये ताकि उनकी सहायता से वह सृष्टि की रचना करें।

बाह्य दृष्टि से देखने से कथा एक असम्भव घटना प्रतीत होती है।

उनके रचयिता ऋषि की बुद्धि पर भी आश्चर्य होने लगता है। परन्तु यदि हम यह मानकर चलें कि साधारण जनता पर कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों की छाप छोड़ने के लिए यह कथा बनाई गई है, तो इसमें हमें सन्तोष ही होगा और अनुभव होगा कि इसमें ऋषि का वास्तविक तात्पर्य क्या था ?

जब साधक में कोई अवगुण या कमी आने लगती है तो योग्य गुरु उसके निवारण का उपाय करते हैं ताकि वह पनपने न पाए। मनु भी एक पवित्र कर्तव्य की पूर्ति करने जा रहे थे परन्तु उन्हें अपनी शक्तियों और तप का अभिमान हो गया था। यह साधकों में पतन का चिह्न है, अतः भगवान ने मत्स्य रूप धारण करके उनके इस भाव का नाश कर दिया कि वह अपनी शक्ति से समस्त वनस्पतियों और ओष-धियों का संरक्षण कर सकेंगे। जब वह मछली की रक्षा में असमर्थ हो रहे हैं तो इतने बड़े कार्य को कैसे कर पायेंगे ? जब वह मछली को समुद्र में डालने लगे तो उनके अभिमान को चोट लगी और यह अनुभव किया कि समस्त जीवों के संरक्षक स्वयं प्रभु हैं, मेरी शक्ति तो अत्यन्त सीमित है। साधक जब अपने पर विश्वास करता है तो वह अपनी शक्तियों का ह्रास करता है, इसके विपरीत जब वह परमात्मा को कर्ता मानता है, उसकी शक्ति साधना में विकास होता है, यह हममें से प्रत्येक साधक को स्मरण रखना है।

प्रकृति का अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि उसमें हर क्षण परिवर्तन हो रहे हैं। नाश और उत्पत्ति क्रमशः ही होते हैं। एक वृत्ति का जब प्रलय हो जाता है तब दूसरी का आविर्भाव होता है। संसार में नित्य प्रलय के दृश्य दिखाई देते हैं। हमें नित्य प्रलय का ही अनुभव करना चाहिए और तदनुरूप अपने जीवन का निर्माण करना चाहिए। यदि हमारा जीवन सद्मार्ग पर चल रहा है तो हमें हजारों प्रलय भी भयभीत नहीं कर सकतीं। निकृष्ट जीवन के लिए प्रलय की कल्पना भी

भूत बन जाती है। अतः प्रलय से निर्भय रहने के लिये अपने जीवन को पवित्र बनाना चाहिए।

प्रलय से पूर्व जब सूर्य भगवान ने उग्र रूप धारण किया तो उसकी प्रत्येक किरण एक अग्नि का गोला ही सिद्ध होने लगी। जिधर उसका प्रवेश होता, उधर मनुष्य, पशु, पक्षी, मकान, खेत आदि सभी आत्म समर्पण करते जाते। मनु तक भी वह आग की लपटें पहुँची परन्तु जो साधक शरीर की नश्वरता समझ गए हों और आत्मा की अमरता पर दृढ़ विश्वास करते हों, ज्ञान का दीपक जिनके अन्तःकरण में जल रहा हो, कष्टों का अभ्यास करने के लिए जो स्वयं कठिनाइयों को बुलाते हों, उन्हें यह स्थूल अग्नि क्या प्रभावित कर सकती है? ज्ञान के समुद्र में जहाँ वह गोते लगाता है, वहाँ वह अग्नि पहुँचने की सामर्थ्य भी नहीं रखती। सत्य है—जिसे प्रभु का आशीर्वाद मिल गया, जिसके ज्ञान के चक्षु खुल गए, उसके लिये सांसारिक कष्ट फूल के समान प्रतीत होते हैं, आते हैं और चले जाते हैं।

प्रलय का केवल यही अर्थ नहीं है कि जब सूर्य की अग्नि ज्वालाओं से सारा संसार भुन जाए और चारों ओर जल ही जल दिखाई दे, तभी हम प्रलय की स्थिति समझें। वास्तविक प्रलय तो तब आती है, जब मनुष्य का मन तमोगुण से ओत-प्रोत हो जाता है और उसे कोई अच्छी बात सूझती ही नहीं। जब तमोगुण उस व्यक्ति की रजोगुण और सतोगुण की प्रवृत्तियों को दबा लेता है, उसे निद्रा अवस्था भी कहते हैं। इस स्थिति में उसे अन्धकार ही अन्धकार दिखाई देता है। इस तमोगुण रूपी प्रलय से तभी बचा जा सकेगा, जब वेद-शास्त्रों के अध्ययन से ज्ञान की ज्योति अन्तःकरण में जलेगी और सात्विक वृत्तियों की नाव पर बैठेगा। तभी मनु और सप्त-ऋषियों की तरह प्रलयकारी स्थिति में भी वह सुरक्षित रहेगा।

हयग्रीव दैत्य तमोगुण का प्रतीक है। जब ब्रह्मा सोते हैं, तो

हयग्रीव उनके वेद चुरा ले जाते हैं। जब कोई व्यक्ति असावधान रहता है और ज्ञान के नेत्र मूंद लेता है, तो उसे तमोगुण आ घेरता है। सात्विक प्रवृत्तियां उसका साथ छोड़ने लगती हैं। भगवान् जब मत्स्यावतार लेते हैं तो हयग्रीव दैत्य को ढूंढ़ कर उसका वध करते हैं अर्थात् जब भगवान् की कृपा होती है, तो वह साधक के अन्तःकरण में ज्ञान की ज्योति जगाते हैं, जिससे तमोगुण भाग जाता है। यही हयग्रीव वध है।

मत्स्य भगवान् ने हयग्रीव का वध करके वेद ब्रह्मा को दे दिये, ताकि वह नई सृष्टि की रचना करें। वेदों के अभाव में ब्रह्मा सृष्टि की रचना नहीं कर सकते। हर व्यक्ति स्वयं अपना ब्रह्मा अर्थात् निर्माता है, जब तक भगवान् की कृपा से तमोगुण का नाश करके वेद अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती, साधक की प्रगति रुकी रहती है, उसके जीवन का निर्माण असम्भव है, नए सात्विक विचारों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। सृष्टि की रचना के लिए आवश्यक है कि उसे वेद अर्थात् ज्ञान के चक्षु मिलें।

मत्स्यावतार की कथा इस तथ्य का निरूपण करती है कि परमात्मा केवल श्रेष्ठतम कहे जाने वाले प्राणी मनुष्य में ही निवास नहीं करता वरन् वह मछली जैसे जलचर में भी रहता है, सभी प्राणी उसके अंश है, वह कण-कण में समाया हुआ है, प्रत्येक जीव में वह व्याप्त रहता है। अतः साधक को चाहिये कि मनुष्य के अतिरिक्त अन्य जीवों की उपेक्षा न करे, उनका भी उसी तरह सम्मान करे, जिस तरह एक मनुष्य का करता है। सभी प्राणियों में अपने इष्टदेव के दर्शन करे और यथासम्भव उनकी सहायता करे।

भगवान् ने मत्स्य रूप में अवतार लिया, मछली को यह महान् सौभाग्य प्राप्त हुआ, उनका सम्मान बढ़ा, इस रूप में भगवान ने प्रलय काल में मनु व सप्तऋषियों सहित विश्व भर की वनस्पतियों और औषधियों के बीजों की रक्षा की और हयग्रीव का वध करके सृष्टि की रचना

के लिए वेद ब्रह्मा को दिए। मत्स्य रूप में उन्होंने महान कार्य का सम्पादन किया। इस स्थिति में मछली को भोजन के रूप में ग्रहण करना परमात्मा का विरोध है, उनका स्पष्ट अपमान है और घोर नास्तिकता का प्रमाण है। परमात्मा का सम्मान तो मछली की सुरक्षा में है। तमोगुण से प्रभावित व्यक्ति तो जड़ और नास्तिक होते ही हैं। खेद है उन आस्तिक कहे जाने वाले व्यक्तियों पर जो खुले नेत्रों से परमात्मा का अपमान देखते हैं, मानवता के नाश की लीला का दिग्दर्शन करते हैं परन्तु उनकी वाणी में कुछ भी गति नहीं आती। परमात्मा के जीवों की सुरक्षा में सहायता न देना भी एक प्रकार का अप्रत्यक्ष विरोध है। परमात्मा की दृष्टि में ऐसे लोग भी दोषी हैं।

मत्स्यावतार कथा की मांसाहार के विरुद्ध एक अभियान है। इसमें प्रत्येक आस्तिक को भाग लेना चाहिए, जनता को उससे होने वाले रोगों से परिचित कराना चाहिए। जगह-जगह सङ्गठन बनाए जाएँ, अभियान चलाए जायें, पत्र-पत्रिकाओं में लेख छापे जायें, पुस्तकें प्रकाशित की जायें, गोष्ठियाँ की जायें और जनता को इस प्राणी हत्या के पाप से बचाया जाए। यही सच्ची आस्तिकता है।

कथा में भगवान के विराट रूप के दर्शन होते हैं। छोटी मछली बड़ा रूप धारण करती है। आत्मा परमात्मा हो सकती है, मनुष्य अपनी क्षुद्रता का निवारण करके महानता के पथ पर अग्रसर हो सकता है, अणु विभु हो सकता है।

मत्स्यावतार की कथा को सही रूप में समझने वाला साधक निश्चय ही आत्मोत्थान करता है।

कूर्मावतार

वाल्मीकी रामायण, अग्नि-पुराण और भागवत में कूर्मावतार की कथा विस्तृत रूप से मिलती है। देवासुर संग्राम में असुर विजयी हुए

तो देवता भगवान विष्णु के पास गए। विष्णु ने देवताओं को प्रेरणा दी की असुरों के साथ मिलकर अमृत मंथन करें। इसी में उनका कल्याण है। असुर भी सहमत हो गये। मंथन के लिए मन्दराचल पर्वत को मथानी और नागराज वासुकि को नेति बनाया गया। मंदराचल के नीचे कोई आधार नहीं था, इसलिए वह समुद्र में डूबने लगा और समुद्र मंथन का कार्य रुक गया। तब भगवान विष्णु ने कच्छप का रूप धारण करके मन्दराचल को अपनी पीठ पर उठा लिया और कार्य पुनः आरम्भ हुआ। मंथन से हलाहल विष, अमृत, लक्ष्मी, उच्चैश्रवा, ऐरावत, अप्सराएं, कल्पवृक्ष आदि १४ रत्न निकले। भगवान ने मोहिनी रूप धारण करके अमृत देवताओं को पिला दिया, विष भगवान शङ्कर ने पिया।

कच्छप की महत्ता भारत में ही नहीं, विदेशों में भी स्वीकृत की गई है। 'माइथ आफ चाइना एण्ड जापान' पुस्तक में लिखा है कि चीन में कच्छप को ईश्वर का चिह्न माना जाता है। इस की हड्डी को राजकीय चिह्नों में स्थान प्राप्त है। जापान में ब्रह्मा का जो रूप माना जाता है, वह कच्छप की ही तरह है। जापान की 'आइनु' जाति के एक देवता कच्छप हैं। चीन में एक ताओ के नाम का सम्प्रदाय है। उनका यह विश्वास है कि पुण्यात्माओं के लिये भगवान ने पांच द्वीप बनाये हैं, परन्तु चूंकि उनमें ज्वार भाटा आती रहती है और वह मिलते रहते हैं, इसलिए उन्हें कष्ट होता है। उन पुण्यात्माओं के कष्टों की निवृत्ति के लिये ईश्वर ने तीन-तीन कछुओं की आधार बनाकर इन द्वीपों को उठा लिया। चीन की जगतमाता सिवांग यू के चार पारपदों में से एक कच्छप है जिसे देवता के रूप में स्वीकार किया जाता है।

भारतीय ज्योतिष साहित्य में नक्षत्रों के चक्र को कूर्म की संज्ञा दी गई है। हेवट ने अपनी पुस्तक "रुलिङ्ग रेसेज आफ प्री-हिस्टोरिक टाइम्स" में लिखा है कि "प्राचीनकाल में अनेकों जातियाँ कछुए की पीठ को पृथ्वी

का कल्पित रूप मानती थीं।" पृथ्वी दृढ़ता का प्रतीक है।

शतपथ ब्राह्मण ४।८।१ में उदाहरण देते हुए एक विद्वान् ने लिखा है "उज्ज्वल सूर्य-चन्द्रमा अथवा शुक्र एवं चन्द्रमा ही मन्त्री हैं। विद्युत् रूप से चमकने वाला वेन कूर्म के समान निवास करता है। यह वेन आदित्य के गर्भ अर्थात् अन्तरिक्ष में मेघ के उदर में शयन करता है, जैसे जल में कूर्म रहता है। यूं तो कूर्म का कर्म के साथ सम्बन्ध स्थापित करके, कूर्म को प्रजापति ब्रह्मा का रूप भी माना जा सकता है जो शब्द समानता से कच्छप तथा कश्यप भी हो गया।"

समुद्र मंथन की कथा का अभिप्राय यह है कि समुद्र मंथन जैसे महान् पुरुषार्थ और परिश्रम से ही रत्न प्राप्त होते हैं। लक्ष्मी की प्राप्ति उद्योग से होती है। अमृत की प्राप्ति अथवा अमर जीवन की उपलब्धि तपस्वी साधकों को ही होती है। कल्प वृक्ष जैसी प्रत्यक्ष इच्छा की पूर्ति करने वाली वस्तु तभी मिलती है जब समुद्र में मन्थन जैसा ही साहसी कार्य किया जाय। संघर्ष को ही जिसने अपना जीवन मान लिया है, उसी के घर में रत्नों की जगमगाहट होती है। आलसी के घर में तो अन्धकार का साम्राज्य होता है। अमृत की प्राप्ति जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य है। कथा कहती है कि इसकी प्राप्ति के लिए जीतोड़ परिश्रम करना होगा तभी लक्ष्मी की प्राप्ति होगी।

महान उपलब्धियों के लिए दृढ़ निश्चय और संकल्प की अपेक्षा रहती है। अनिश्चित मन से कोई भी कार्य सफल नहीं होता। समुद्र मन्थन अमृत प्राप्ति की एक महानतम योजना थी। जब मन्दराचल डूबने लगा तो सब को निराशा हुई कि योजना खटाई में पड़ जायगी। परन्तु भगवान् विष्णु ने कच्छप रूप धारण करके मन्दराचल को सहारा दिया तब समुद्र मन्थन सफल हुआ। कच्छप का यह रूप दृढ़ संकल्प का प्रतीक है। मानव जीवन की सफलता के लिए संकल्प एक महान् दायित्व है। उसमें दृढ़ता का होना आवश्यक है। जब दृढ़ता रूपी कच्छप का

आधार मिला तो मन्दराचल जैसा पर्वत भी रुक गया। बड़ी और असम्भव दिखाई देने वाली योजनाएँ भी दृढ़ संकल्प के समक्ष अपना मस्तक झुका देती हैं और गज-मुक्ताओं से उसकी आरती उतार कर हजार कण्ठ से उसकी स्तुति करती हैं और सदैव आज्ञा की प्रतीक्षा में रहती है। कथा कहती है कि जो व्यक्ति भी भगवान के कच्छप अवतार का आह्वान करता है,सफलता पग-पग पर उसके स्वागत के लिए तैयार रहती है। ऐसे व्यक्तियों को कभी निराशा का मुँह नहीं देखना पड़ता।

वाराहावतार

शतपथ ब्राह्मण १४।१।२।११ के अनुसार पहले प्रादेश मात्र भूमि का आविर्भाव हुआ था जिसका उद्धार वाराह भगवान ने किया। यजुर्वेद में कहा है "उद्धृतासि वराहेव कृष्णेन यज बाहुना" अर्थात् "हे पृथ्वी! तुम अनेकों भुजाओं वाले कृष्ण वाराह के द्वारा उद्धृत हो।" अथर्ववेद (१२।१) में भी कहा है कि उस वाराह रूपी भगवान् ने इस पृथ्वी का उद्धार किया।

भागवत की कथा के अनुसार जय और विजय नामक विष्णु लोक के दो द्वारपालों को सनकादि ऋषियों ने शाप दिया जिसके फल स्वरूप उन्होंने दिति के गर्भ से हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु के रूप में जन्म लिया। उनके जन्म के समय अनेकों अशुभ लक्षण प्रगट हुए। हिरण्याक्ष दैत्य ने अपनी शक्ति को वढ़ा कर सारी पृथ्वी पर अधिकार कर लिया और रसातल में पहुँचा दिया। भगवान् ने वाराह रूप धारण करके पृथ्वी का उद्धार किया।

विष्णु पुराण (१।४) में वाराह भगवान द्वारा पृथ्वी के उद्धार की कथा वर्णित है। कहा है "सारी सृष्टि पर जल ही जल हो रहा था। प्रजापति ब्रह्मा ने अनुमान किया कि अवश्य ही पृथ्वी जल के भीतर होगी। इसलिए इसे बाहर निकाला जाय। इस उद्देश्य के लिए उन्होंने

दूसरा शरीर धारण किया। जैसे उन्होंने पहले मत्स्य, कूर्मादि रूप धारण किये थे, वैसे ही वाराह रूप के आरम्भ में उन्होंने वेद यज्ञमय शरीर धारण किया और जल में प्रविष्ट होकर पृथ्वी को ऊपर लाए।

दैत्यों ने पृथ्वी को चुराकर रसातल में पहुँचा दिया। इसका अभिप्राय यह है कि उस समय आसुरी शक्तियों का साम्राज्य था, घोर पाप और अत्याचार फैले हुए थे, अन्याय, फूट, छल-कपट, फरेब, वेई-मानी आदि का बोलबाला था, मनुष्य अत्यन्त स्वार्थी हो गये थे। अपने स्वार्थ की प्राप्ति के लिए दूसरों के अधिकारों का हनन करने में कोई संकोच नहीं था। मानवता की धज्जियाँ उड़ाई जा रही थीं। पतन के सभी लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे थे। इस सामाजिक पतन को ही रसातल में पहुँचाना कहा गया है।

जब पृथ्वी पर धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है तो भगवान् अवतार ग्रहण कर इस अत्याचार को दूर करते हैं। इस बार भगवान् ने वेद यज्ञमय वाराह रूप धारण किया। वेद कहते हैं ज्ञान और प्रकाश को। इसके प्रकाश से ही मानवोत्थान की प्रकिया आरम्भ होती है। मानव निर्माण के पथ पर तभी अग्रसर हो सकता है जब उसके साथ ज्ञान का सम्वल हो। परन्तु वह साधन व्यक्तिगत नहीं होने चाहिए। वह ज्ञान यज्ञमय, त्याग परमार्थ और निःस्वार्थता का प्रतीक होना चाहिए तभी राष्ट्र का उत्थान सम्भव है। यज्ञ शरीर धारण करके ही वाराह रूप भगवान् पृथ्वी को ऊपर ला सके। जब ज्ञान के साथ निःस्वार्थता का मिलन होता है, तो शक्ति का असीम विकास होता है। ब्रह्मा के नाम से एक क्षुद्र जीव के रूप में वाराह निकले परन्तु थोड़ी देर में उन्होंने विशाल हाथी की तरह रूप धारण कर लिया। जो अपने स्वार्थों की तिलाञ्जलि देकर विश्व के स्वार्थ को ही अपना स्वार्थ बना लेता है, वह विराट रूप ग्रहण करता है, भले ही वह घोर असुविधाओं और कठिन परिस्थितियों के बीच पला हो। वह निश्चय रूप से छोटे से

बड़ा, अणु से महान बनता है। आत्म विकास का यही सुनिश्चित मार्ग है।

वाराह—शूकर एक निम्न श्रेणी का पशु है जिसे निम्न स्तर के व्यक्ति पालते हैं। उसका आहार घृणित होता है। अतः उसका छूना भी अपवित्र माना जाता है। कामी होने के कारण उसके बच्चे भी अधिक होते हैं। अतः वह सब प्रकार से क्षुद्र प्राणी है। भगवान ने वाराह रूप में अवतार लेकर यह सिद्ध किया है कि क्षुद्र से क्षुद्र प्राणी, चाहे वह मनुष्य हो या पशु, उसमें मेरा निवास है, इसलिये उसे क्षुद्र नहीं मानना चाहिए, उससे घृणा नहीं करनी चाहिए, समाज में उसकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। निम्न स्तर के प्राणी में भी परमात्मा की सभी शक्तियाँ विद्यमान हैं और वह भी विकास की उच्चतम सीमा तक पहुँच सकता है। जब भगवान् वाराह का रूप धारण करके पृथ्वी का उद्धार कर सकते हैं तो वह इससे यह आश्वासन देते हैं कि निम्न से निम्न व्यक्ति भी उच्च से उच्च पद को पहुँच सकता है। अतः संसार में छोटा-बड़ा कोई नहीं है सभी प्राणी समान हैं। छोटा वह है जिसने समय और कर्तव्य की उपेक्षा की और परमात्मा से प्राप्त शक्तियों का विकास नहीं किया। बड़ा वही है जिसने समय का मूल्य समझा और प्रभु से उपहार में मिली शक्तियों का सदुपयोग किया है। अतः छोटे से बड़ा बनने का यही उपाय है और भगवान् ने विश्वास दिलाया है कि व्यक्ति कितनी भी उपेक्षित दशा में क्यों न पड़ा हुआ हो, वह ऊँचा उठ सकता है।

वाराह भगवान् पृथ्वी को रसातल से ऊपर लाए। पहले कहा जा चुका है कि पृथ्वी को रसातल में पहुँचाने का तात्पर्य सामाजिक पतन है। वाराह भगवान् ने पवित्रता, सात्विकता, न्यायप्रियता, ईमानदारी, सत्यवादिता आदि दैवी गुणों की मानो सरिता ही बहा दी हो। राष्ट्र के चरित्र का उन्होंने उत्थान किया, आसुरी शक्तियों का दमन किया। समाज के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाया। इस नैतिक उत्थान को ही

पृथ्वी को रसातल से ऊपर लाना कहा गया है।

पुराणों में देवासुर संग्राम की कथा मिलती हैं। उनमें यही दिखाया जाता है कि विचारों में मतभेद होने के कारण दोनों में युद्ध हुए। कई बार असुर विजयी भी हुए परन्तु अन्त में विजय देवताओं की ही हुई। जब समाज में आसुरी तत्व बढ़ने लगता है तो पृथ्वी का संतुलन बिगड़ने लगता है और संसार में अशांति छा जाती है। परन्तु जब देवता सङ्गठित होकर अक्रमण करते हैं तो विजय भी उन्हीं के हाथ रहती है। जब महान् आत्मायेंअवतरित होकर समाज का नव-निर्माण करती हैं तो राष्ट्रघातक तत्वों को पीछे हटना पड़ता है, अपनी पराजय स्वीकार करनी पड़ती है। आज भी समाज की वैसी ही स्थिति है जैसी वाराह भगवान के अवतार लेने से पूर्व थी। दैत्यों ने पृथ्वी को रसातल में पहुँचा दिया है। समाज का घोर पतन हो चुका है। आवश्यकता है ऐसी दिव्य आत्माओं के अवतरण की जो नींव के पत्थर बनकर समाज के नैतिक ढांचों को दृढ़ करें, तभी पृथ्वी को रसातल से ऊपर आना समझा जायगा।

असम्भव दिखाई देने वाली घटनाओं से ओत-प्रोत यह कथा शिक्षाओं और प्रेरणाओं से भरी है। अतः उसकी घटना पर टीका टिप्पणी न करके उसकी शिक्षाओं की ओर ही ध्यान देना चाहिए। चमत्कारी ढङ्ग से कथा को उपस्थित करना ही प्राचीन शैली की विशेषता थी।

इस कथा को वृष्टि विज्ञान का रूपक भी माना गया है। विष्णु पुराण-१।४ में जिस प्रकार की वाराह कथा आती है वह स्पष्ट रूप से वर्षा का रूपक है,जिसमें वाराह को मेघ या अग्नि के रूप में उपस्थित किया गया है। मेघ तो स्वयं जल बरसाते हैं, और अग्नि अर्थात् यज्ञ से भी मेघ जल बरसाते हैं। ऋग्वेद १।६१।७ में वाराह को इन्हीं दो अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। वृत्र जल का निरोध करने वाला है, वह

वाराहरूपी इन्द्र द्वारा मारा गया। ऋग्वेद १०।६७।७ में अग्निरूपी वाराह द्वारा जल धारण करने वाले वृत्र मारे गये अर्थात् पृथ्वी पर वर्षा हुई। भागवत ३।१७।१८।१६ में जो वाराह अवतार की कथा आती है उसमें भी इसी रूपक का प्रतिपादन किया गया है। ऋग्वेद १।६३।८ में जल निरोधक वृत्रों को स्वर्ण रत्नादि से युक्त बताया गया है। इन्हें हिरण्य से संज्ञा दी गई है। ऋग्वेद १।३३।७ में कहा गया है कि इन्द्र ने युद्ध में वृत्रों को मारा और ऊँचा उठाकर आकाश से जलाकर गिराया। इसका स्पष्ट अभिप्राय है कि जल, पृथ्वी पर बरसा और उसका उद्धार हुआ।

इस तरह से वाराह को मेघ या यज्ञ के रूप में प्रस्तुत किया गया है। शास्त्रों के अनुसार यज्ञ ही विष्णु भी हैं। हिरण्याक्ष जल निरोधक वृत्र या गर्मी के मौसम में पृथ्वी को तपाने वाला सूर्य कहा गया है। इस से वाराह कथा को जल निरोधक शक्तियों पर वृष्टि करने वाली शक्तियों की विजय कहा जा सकता है।

नृसिंहावतार

भागवत् में कथा आती है कि जब विष्णु ने हिरण्याक्ष का वध कर दिया तो उनके भाई हिरण्यकशिपु को क्रोध आया। उसने स्वर्ग में जाकर देवताओं को परास्त करके देवलोक पर अपना राज्य स्थापित कर लिया। देवताओं ने विष्णु से प्रार्थना की। विष्णु ने कहा कि जब यह वेद, धर्म और अपने धर्मात्मा पुत्र प्रह्लाद पर अत्याचार करेगा, तब मैं नरसिंह रूप धारण करके इसका वध कर दूंगा। ब्रह्मा की तपस्या करके हिरण्यकशिपु ने वर प्राप्त किया था कि उसे न मनुष्य मार सके, न पशु।

प्रह्लाद भगवद्भक्त था, हिरण्यकशिपु विष्णु को अपना शत्रु समझता था। वह स्वयं को ही ईश्वर मानता था। वह यह कैसे सहन कर

सकता था कि उसका पुत्र उसके शत्रु का भक्त हो। प्रह्लाद को समझाया परन्तु वह न माना। उसे अनेकों प्रकार के कष्ट दिए गए, हाथी के नीचे कुचलवाया गया, विषधर सर्पों से डसाया गया, भोजन में विष मिलाया गया, अग्नि में जलाया गया, जल में डुबोया गया, पर्वतों से गिराया गया, परन्तु प्रह्लाद का बाल भी बांका न हुआ। इस पर उसके पिता को अत्यन्त क्रोध आया और खड्ग से मारने को दौड़ा। उसने कहा, अब अपने भगवान् को बुलाओ, वह कैसे तुम्हारी रक्षा करेंगे? हिरण्य-कशिपु का यह कहना था कि एक भीषण गर्जना हुई और खम्भे से भग-वान् नरसिंह रूप में प्रकट हुए। उनका शरीर आधा मनुष्य का और आधा सिंह का था। उन्होंने हिरण्यकशिपु को पकड़ के अपने उरु पर बिठाकर उसके शरीर को चीर दिया और उसके प्राण-पखेरू उड़ गए। इस तरह से त्रिलोकी को भयभीत करने वाले हिरण्यकशिपु का वध भग-वान् ने नरसिंह रूप में किया।

भगवान् के नरसिंह रूप को धारण करने के उद्देश्य का वर्णन करते हुए नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् में कहा है, "सब प्राणियों में मानव का पराक्रम प्रसिद्ध है और सिंह भी सबसे अधिक पराक्रमी होता है। अतः नर और सिंह दोनों के संयुक्त रूप से पराक्रम में अधिक प्रबलता होती है। इसलिए भगवान ने यह रूप धारण किया। वह अपने इस रूप से विश्व का कल्याण करते हैं।"

मानव की विशेषता उसकी विचारशीलता, विवेक और निश्च-यात्मका बुद्धि है। सिंह शक्ति और स्फूर्ति का प्रतीक है। जब तक विचारों में प्रबलता और शक्ति न हो कोई परिणाम नहीं निकलता। पतित समाज के उत्थान के लिए दोनों के संयुक्त रूप की ही अपेक्षा है। आसुरी शक्तियाँ बलवान होती हैं। उन पर विजय प्राप्त करने के लिए इन दोनों प्रकार की शक्तियों का आह्वान आवश्यक है। हमारे मन में भी हिरण्यकशिपु रूपी आसुरी शक्तियों का निवास है। उनका वध करने

के लिए हमें भी नरसिंह रूप धारण करना होगा अन्यथा दिव्यता का हनन करके वह हमारे स्वर्णिम राज्य को छीन लेंगे।

हिरण्यकशिपु रूपी कुप्रवृत्तियाँ निरन्तर हमारे प्रह्लाद रूपी मन पर आक्रमण करती रहती हैं। परन्तु जो व्यक्ति ईश्वरीय सत्ता को निरन्तर अपने सान्निध्य में मानता है, वह निर्भय रहता है। प्रह्लाद ने भी भागवत् में अपने अभय का कारण बताते हुए पिता से कहा "जिनकी शक्ति से मैं निर्भय हूँ, वह केवल मेरे और आपके बल रूप नहीं हैं वरन् वह समस्त बलियों के बल रूप हैं, स्थावर और जङ्गम तथा ब्रह्मा भी उनके वश में रहते हैं। वे ईश्वर, काल और अनन्त शक्तिशाली हैं, तेज, सत्व, बल और इन्द्रियात्मक रूप हैं। त्रिगुणों के ईश्वर होने से अपनी परमाशक्ति द्वारा विश्व का सृजन, पालन और निधन करते हैं।" जो व्यक्ति ईश्वरीय शक्तियों के सम्पर्क में रहता है, वह प्रह्लाद की तरह अभय पद प्राप्त करता है।

प्रह्लाद को पिता ने विष दिया, पर्वत से गिराया, अग्नि में जलाया और भी अनेकों प्रकार के कष्ट दिए। प्रह्लाद कोई चमत्कारी योगी नहीं था कि वह प्रकृति के स्वाभाविक गुणों के विरुद्ध ऐसे जादू भरे चमत्कार दिखाने की क्षमता रखता हो। जो पर्वत से गिरेगा, उसके शरीर की हानि अवश्य होगी, अग्नि उसे अवश्य जलाएगी, विष अपना प्रभाव भी दिखाएगा। परन्तु यहाँ प्रह्लाद के स्थूल शरीर की नहीं आत्म-शरीर की बात हो रही है। जो व्यक्ति अपने को शरीर नहीं आत्मा मानता है, वह सभी सांसारिक प्रभावों से सुरक्षित रहता है। उसे अस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, वायु सुखा नहीं सकती। हजारों एटम बम भी उसका बाल बाँका नहीं कर सकते। जो परिस्थितियाँ प्रह्लाद को देखनी पड़ी थीं, वातावरण के प्रभाव से वैसे अवसर हर किसी के जीवन में आते हैं। अपने को शरीर मानने वाला दुःखी होता है और परिस्थितियों के समक्ष अपने हथियार डाल देता है और

उनकी आज्ञानुसार चलता है परन्तु आत्म भावना में रत साधक सभी प्रकार के राक्षसी प्रहारों से सुरक्षित रहता है। जो प्रह्लाद का अनुकरण करते हैं, उनकी भगवान रक्षा करते हैं और वह सदैव सुखी रहते हैं।

हिरण्यकशिपु अपने को ही ईश्वर मानता था। अहङ्कार उसके मन पर छाया हुआ था। उसे पराजय का ही मुँह देखना पड़ा। जो व्यक्ति अपनी सफलताओं का श्रेय अपनी शक्ति और सामर्थ्य को ही देते है, उनका आत्मविकास रुक जाता है। इसके विपरीत ईश्वर को ही कर्त्ता मानने वाला विश्व की महानतम शक्ति से अपना सम्पर्क स्थापित करता है। उसकी आत्म-शक्ति की निरन्तर वृद्धि होती रहती है। अपनी सीमित शक्तियों से काम लेने वालों का वही परिणाम होगा जो हिरण्यकशिपु का हुआ था। ईश्वरीय सत्ता पर आधारित साधक प्रह्लाद की तरह विजेता रूप में आगे बढ़ता जाता है।

भगवान ने प्रसन्न होकर प्रहलाद से वर माँगने को कहा। प्रह्लाद चाहते तो राज्य, सम्पत्ति और हजारों प्रकार की भोग सामग्रियों से ओत-प्रोत जीवन की आकाँक्षा कर सकते थे, परन्तु उसने कहा, "यदि आप मुझे कोई वर देना ही चाहते हैं तो यह दें कि मेरे हृदय में वासना की उत्पत्ति कभी न हो।" तपस्या और साधना से शक्ति का विकास होता है। उस शक्ति का प्रयोग करके हम भौतिक जीवन को भी सुखी बना सकते हैं और आध्यात्मिक विकास भी कर सकते हैं। जो साधक शाश्वत सुख-शान्ति के महत्व को जानते हैं, वह भौतिक इच्छाओं, कामनाओं और वासनाओं से दूर रहने में ही अपना कल्याण समझते हैं। भौतिक सुखों में लिप्त व्यक्ति अपनी शक्ति का ही ह्रास करता है। निष्काम कर्मयोग को ही भगवान ने गीता में ईश्वर प्राप्ति का सुनिश्चित गमा बताया है। प्रह्लाद उसका अनुकरण करके परम भागवत् हो गए। हम भी प्रह्लाद की तरह सांसारिक वासनाओं से अलिप्त रहकर ईश्वरीय सत्ता के सम्पर्क का गौरव प्राप्त कर सकते हैं।

वामनावतार

शतपथ ब्राह्मण १।२।२।५ के अनुसार "वामनो ह विष्णुरास" वामन साक्षात् विष्णु थे। विष्णु ही वामन रूप में अवतरित हुए थे। सामवेद संहिता ३।१।३।९ व १२।२।८।५।१।२ में भी कहा है कि विष्णु ने वामन रूप धारण कर के तीन पदों का विस्तार किया जिससे सारी सृष्टि अधिष्ठित हो गई। सारी त्रिलोकी उनके चरणों में अवस्थित है।

रामायण में भी कथा आती है कि अदिति के गर्भ से जन्म लेकर विष्णु ने वामन रूप धारण किया और विरोचन पुत्र बलि के पास जाकर तीन पग भूमि मांगी। भिक्षा मिलने पर वामन ने पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्गलोक पर अधिकार कर लिया और बलि की पदवी छीन करके इन्द्र को इन्द्रासन पर बिठा दिया।

अग्नि पुराण की कथा रामायण से मिलती-जुलती है परन्तु भागवत की कथा में थोड़ा अन्तर है। ८ वें स्कन्ध में कथा का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि वामन ने अपने दो पगों में सारी सृष्टि को नाप लिया और तीसरे पग को रखने का स्थान न मिला तो बलि ने अपना सर झुका लिया कि यही आपके तीसरे पग का उचित स्थान है।

विष्णु के तीन पदों की बात भी वेदों में आई है। ऋग्वेद १। २२।१७।१८ में कहा है—विष्णु ने इस संसार को तीन पांव रखकर विक्रमण किया। इन के धूल लगे पैर में ही सारी सृष्टि समा गई। सबके रक्षक, किसी से धोखा न खाने वाले, नियमपालक विष्णु ने तीन पैर रखे। ऋग्वेद के मण्डल १ के १५५ सूत्र में भी यह बात आई है। "मैं विष्णु के पराक्रम का वर्णन करता हूं। उन्होंने तीन पैरों में लोकों को नाप लिया और आकाश को स्थिर किया।" (१) "विष्णु के तीन पदों में सम्पूर्ण जगत निवास करता है।" (२), "जिन विष्णु ने अकेले ही अपने तीन पैरों में तीन लोकों को नाप लिया, उन महाबली विष्णु की बहुत से जीव स्तुति करते हैं।" (३) १५५ सूत्र में भी ३ पदों का संकेत

है। "सबके स्वामी, रक्षक, शत्रु रहित युवा विष्णु के बल वीर्य की हम स्तुति करते हैं, जिन्होंने लोकरक्षा के लिए तीन पाँव रखकर ही सब लोकों को लांघ डाला।" (३)।

पौराणिक आख्यान में कहा है कि जब वामन भगवान् ने अपना विराट् रूप धारण किया तो एक पग से उन्होंने सारी पृथ्वी, शरीर से आकाश और बाहुओं से समस्त दिशाएँ नाप लीं। दूसरे पग से स्वर्ग ले लिया। अब तीसरा पग रखने के लिए कोई स्थान नहीं था। ऋग्वेद १।१५५।५ में भी ऐसी ही बात अलंकारिक रूप में कही गई है—"सभी प्राणी इन विष्णु के दो पदों को ही देख सकते हैं। तीसरे पद को पहुँचने का कोई भी साहस नहीं करता। आकाश में गमन करने वाले मरुद्गण भी नहीं प्राप्त कर सकते।

ऋग्वेद १।२२।१९ में कहा है—"विष्णु के पराक्रम को देखो जिनके बल से सभी नियम स्थित हैं।"

शतपथ ब्राह्मण १।२ में यज्ञ को ही विष्णु कहा गया है और कहा है कि यज्ञ प्रथम पद से पृथ्वी, द्वितीय से अान्तरिक्ष और स्पष्ट रूप से वामन भगवान् के तीन पदों की ओर ही संकेत है। यजुर्वेद में वामन को रुद्रका एक विशेषण माना गया है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वामन का अर्थ प्रज्ञायुक्त यज्ञ किया है।

विष्णु सर्व व्यापक शक्ति और बलि आसुरी शक्तियों का प्रतीक हैं। वामन द्वारा बलि का बांधा जाना ईश्वर द्वारा विश्व की नियमबद्धता का सूचक है।

वेद में यज्ञ को विश्व ब्रह्माण्ड को नियन्त्रण में रखने वाला कहा गया है। यजुर्वेद में इस प्रश्न को छेड़ा गया है। २३।६१ में कहा गया है—

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्यनाभिः।

अर्थ:—मैं तुम से पृथिवी के अन्त को पूछता हूँ। ब्रह्माण्ड की नाभि जहाँ है, उसे भी पूछता हूँ।

यजुर्वेद २३।६२ में इसका उत्तर भी दिया गया है—

इयं वेदि परोऽअन्तः पृथिव्याऽअयं यज्ञो भुवनस्यनाभिः।

अर्थ:—यह उत्तर वेदी ही पृथिवी की परम सीमा है। यह यज्ञ समस्त लोकों की नाभि है।

नाभि रूपी केन्द्र से ही हमारा पालन होता है। अतः यज्ञ से ही विश्व ब्रह्माण्ड नियम बद्ध किया जाता है। वामन और बलि का आख्यान यज्ञ क्रिया का ही विस्तृत रूप है।

वेदों और पुराणों में विष्णु को सूर्य भी कहा गया है। अथर्ववेद १।३।१२।१ में कहा है कि जरायु से उत्पन्न जगत से पूर्व सृष्टि में सबसे प्रथम उत्पन्न वायु के समान शीघ्रगामी और अनन्त बल सम्पन्न सूर्य मेघों को गर्जाते हुए वर्षा के साथ आते हैं। यह सूर्य तीन लोकों में अपने प्रभाव से हमें प्रसन्न करे। ऋग्वेद ७।१००।१ में सूर्य रूप विष्णु से हवि ग्रहण करने की प्रार्थना की गई। ऋग्वेद १।१५६।४ में स्पष्ट रूप से सूर्य की ओर संकेत है। कहा है—विष्णु ही मित्रयुक्त दिन को प्राप्त करने वाले श्रेष्ठ बल को धारण करते हुई अन्धकार को मिटाकर प्रकाश करते हैं। विष्णु पुराण २।८।५६ में सूर्य को विष्णु का परम अंश कहा गया है। महाभारत अश्वमेध पर्व में वामन को वर्ष के आरम्भ का सूर्य कहा गया है। अतः वामन रूप विष्णु भगवान से सूर्य भी अभिप्रेत है जिनके तीन पग प्रातः, दोपहर और सन्ध्या हैं।

बलि अन्धकार का प्रतीक है और वामन सूर्य का। वामन के जन्म से पूर्व बलि का साम्राज्य होता है। अन्धकार रूपी बलि के राज्य-काल में आसुरी शक्तियों की वृद्धि होती है। चोरी व अन्य कुकर्म रात्रि के अन्धेरे में ही होते हैं। रोग कीटाणु भी सूर्य के अभाव में शक्ति-शाली हो जाते हैं। वही बलि के राज्य में हुआ—इन्द्रादि देव पुरुषों का

पतन और असुरों का उत्थान। परन्तु जब वामन का अवतार होता है, सूर्य का उदय होता है तो अन्धकार का नाश हो जाता है, बलि का राज्य छिन जाता है। पहले सूर्य छोटे रूप में आते हैं, जब वह धीरे-धीरे बढ़ते हैं तो सारी सृष्टि पर प्रकाश फैल जाते हैं,अपना आधिपत्य स्थापित करते हैं। जब मन में अज्ञान रूपी अन्धकार छा जाता है तो उसे दूर करने के लिए ज्ञान रूपी सूर्य के उदय होने की आवश्यकता पड़ती है, अन्यथा मन आसुरी वृत्तियों का निवास स्थान हो जायगा और जीव को कुमार्ग की ओर प्रेरित करेगा। हर जीव को वामनावतार की अपेक्षा है ताकि वह अपने मन में व्याप्त अन्धकार को नष्ट करके अपनी सुख-शान्ति का निष्कन्टक मार्ग बना सके। यही वामनावतार कथा का रहस्य है।

परशुरामावतार—

अग्नि पुराण में परशुरामावतार की कथा संक्षेप में इस प्रकार है कि त्रेता युग में किसी समय क्षत्रिय राजाओं ने अन्याय व अत्याचार को ही अपने राज्य संचालन का अस्त्र बना लिया था। पीड़ित प्रजा को इन अत्याचारों से निवृत्त करने के लिए परशुराम का अवतरण हुआ। उनके पिता का नाम जमदग्नि और माता का नाम रेणुका था। उन दिनों कार्तवीर्यार्जुन का राज्य था। उसने दत्तात्रेय की उपासना करके सहस्त्र-बाहु प्राप्त किए थे और सारी पृथ्वी पर अपना राज्य स्थापित कर लिया था। एक बार वह वन में शिकार खेलने गए तो भटक गए। महर्षि जमदग्नि ने उनका आदर सत्कार किया और कामधेनु के प्रभाव से अनेकों प्रकार के व्यञ्जन प्राप्त कर उनका संतोषजनक आतिथ्य किया। राजा इससे प्रसन्न हुए और महर्षि से कामधेनु ही माँग ली। उन्होंने देने से इन्कार किया तो वह बलपूर्वक उठा कर ले गए। परशुराम आश्रम में आए तो उन्हें क्रोध आया। उन्होंने कार्तवीर्यार्जुन को युद्ध के लिए लल-कारा, उसे पराजित किया और सर काटकर कामधेनु को वापिस ले

आए। कार्तवीर्यार्जुन के पुत्रों ने पितृ हत्या का बदला के लिए परशुराम की अनुपस्थिति में ऋषि जमदग्नि का वध कर दिया। परशुराम जब आश्रम में आए तो पिता की हत्या का समाचार सुनकर अत्यन्त क्रोधित हुए और क्षत्रियों के अत्याचारों से पृथ्वी के भार को उतारने के लिए उद्यत हुए। उन्होंने २१ बार पृथ्वी को क्षत्रिय विहीन कर दिया और कुरुक्षेत्र में उनने ५ कुण्ड बनाये और उनमें पितरों का तर्पण किया।

मनुस्मृति के ९ वें अध्याय में लिखा है—

ना ब्रह्म क्षत्रमृघ्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्द्धते।
ब्रह्म क्षत्रश्च सम्प्रच्यामित चामुत्र वर्द्धते॥

अर्थात् "ब्रह्मशक्ति के अभाव में क्षत्रिय-शक्ति की पुष्टि नहीं होती और क्षत्रिय शक्ति के अभाव में ब्रह्म शक्ति का विकास नहीं होता।"

ब्रह्म शक्ति और क्षत्रिय शक्ति के सामञ्जस्य से ही व्यवस्था बनी रहती है। परन्तु त्रेता युग में इस व्यवस्था में दरार पड़ गई थी। क्षत्रिय-शक्ति, ब्रह्म शक्ति के नियन्त्रण में नहीं रही। प्राचीन काल में राज्य व्यवस्था इस तरह होती थी कि राजा तो क्षत्रिय होते थे परन्तु उन पर ब्राह्मणों वा ज्ञानियों का नियन्त्रण रहता था। उनकी आज्ञा से राज्य का संचालन होता था। शारीरिक शक्ति भी विवेक बुद्धि के इशारे पर न चले तो कुमार्ग पर प्रवृत्त हो सकती है। शारीरिक शक्ति को ज्ञान और बुद्धि का पथ प्रदर्शन मिलना ही चाहिए अन्यथा उच्छृङ्खलता ही उसका एक मात्र परिणाम हो सकता है। यही त्रेता युग में हो रहा था। क्षत्रिय राजा हर तरह से अपनी मनमानी कर रहे थे और प्रजा को अनुचित उपायों से दबाया जाता था, शासन का कोई नियम और कानून नहीं रह गया था, चारों ओर भय के भूत मँडरा रहे थे, हर मन में शासन के प्रति अविश्वास था। प्रजा यह चाहती थी कि शासन में सुधार होना चाहिए परन्तु राजा तानाशाही पर ही उतारू थे। परशुराम का अवतार हुआ, उन्होंने विवेकहीन क्षात्रशक्ति को २१ बार नष्ट किया।

उनके मन में क्षत्रियों के विरुद्ध जिहाद करने की भूमिका तो पहले से ही तैयार थी परन्तु उत्तेजना अपने पिता जमदग्नि की हत्या से हुई।

परशुराम ने अपने किसी व्यक्तिगत स्वार्थ से नहीं वरन् परहित भावना से ही रक्त की नदियाँ बहाईं। वैसे हत्या एक महान पाप माना जाता है परन्तु जिस वध में राष्ट्रीय हित निहित हो, उसमें कोई दोष नहीं है। निःस्वार्थभाव से किए गए किसी कर्म का कर्ता को लेप नहीं होता। धम्मपद (२।४) में लिखा है—"जिनका मन एक वार पवित्र और निष्पाप हो गया है, उस स्थितिप्रज्ञ पुरुष से फिर कभी पाप होने की सम्भावना नहीं रहती। वह सब प्रकार के पापों और पुण्यों से अलिप्त रहता है। गीता (४।१४) में भगवान ने स्वयं कहा है—"मुझे कर्म का लेप अर्थात् बाधा नहीं होती। क्योंकि कर्म के फल में मेरी इच्छा नहीं है। जो मुझे इस प्रकार जानता है। उसे कर्म की बाधा नहीं होती। गीता ११।३३।३४ में भगवान ने और स्पष्ट करते हुए कहा है कि जब तेरी वुद्धि शुद्ध और पवित्र हो गई है और उसमें फलाशा का लेश मात्र भी नहीं है तो क्षात्रधर्म के अनुसार युद्ध करके पितामह और गुरु का वध करके कोई पातक और हत्या का दोष नहीं लगेगा, क्योंकि ऐसे समय इश्वरीय संकेतों को सिद्धि के लिए तू तो केवल निमित्त मात्र है। मैं तो पहले से ही द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, और कर्ण जैसे वीर योद्धाओं को मार चुका हूँ। तुझे तो केवल श्रेय प्राप्त करना है।

इसी भाव को लक्ष्य करके तिलक ने लिखा है—',अध्यात्म शास्त्र का सिद्धान्त है कि जब वुद्धि निष्काम होकर साम्यावस्था में पहुँच जाए, तब वह मनुष्य अपनी इच्छा से किसी का भी नुकसान नहीं करता। उस से यदि किसी का नुकसान भी हो जाय तो समझना चाहिए कि यह उसी के कर्म का फल है। इसमें स्थित प्रज्ञ का कोई दोष नहीं है। अथवा निष्काम वृत्ति वाला स्थितप्रज्ञ ऐसे समय पर जो काम करता है फिर वह देखने में मातृवध या गुरुवध सरीखा कितना ही भयङ्कर क्यों न हो,उसके

शुभ अशुभ फल का बन्धन अथवा लेप उसको नहीं लगता। क्योंकि उसकी बुद्धि की पूर्णता, शुद्धता और संयम पहले से ही निश्चित रहती है। बाइबल में लिखा है कि अब्राहम अपने पुत्र का बलिदान देना चाहता था तो भी उसे पुत्र हत्या कर डालने के प्रयत्न का पाप नहीं लगा। या बुद्ध के शाप से उसका ससुर मर गया तो भी उसे मनुष्य हत्या का पातक छू तक नहीं गया। उसका कारण भी यही तत्व है।"

परशुराम ने भी अलिप्त भाव से २१ बार क्षत्रिय शक्ति को पृथ्वी विहीन किया था, अन्यायी व अत्याचारी राजाओं के खून से अपने हाथ रंगे थे। विश्व हित को दृष्टि में रखते हुए ही उन्होंने यह कार्य किया था, इसलिए उन्हें कोई दोष नहीं लगा। क्षात्र शक्ति अनियन्त्रित होने से जो संतुलन बिगड़ रहा था, उसे व्यवस्थित करने का श्रेय परशुराम को ही है। यही उनके अवतार का उद्देश्य भी था।

रामावतार—

रामावतार का उद्देश्य मर्यादा और आदर्शों की स्थापना था। वह तो आदर्शों का व्यवहारिक रूप में मूर्त रूप ही थे। यदि कोई जीवन जीने की कला का प्रशिक्षण चाहता हो तो राम के आदर्श-जीवन का गम्भीरता पूर्वक अध्ययन करना चाहिए। उनका आदर्श जीवन स्वयं में उत्तम शास्त्र का कार्य करता है। मानव जीवन का कोई ऐसा पहलू नहीं है जो उनके चरित्र में उभर कर न आया हो। सारे विश्व के इतिहास का अध्ययन किया जाए तो कोई भी ऐसा व्यक्तित्व सामने नहीं आता जिसमें जीवन के कड़े से कड़े संघर्ष में भी डटे रहकर अपने उद्देश्यों और आदर्शों से तनिक भी विचलित न होने बात आई हो। राम का जीवन विशेषताओं से ओत-प्रोत है। इसी लिए मानव जीवन के लिए अनुकरणीय है और घर-घर में उनके चरित्र का गुणगान होता है। वह राम का नहीं राम के गुणों का सम्मान है। जीवन के हर क्षेत्र में वह उच्च शिखर पर पहुंचे हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

सबसे उभरा हुआ पहलू उनका संघर्षमय जीवन है । वह एक राजा के पुत्र थे । भोग ऐश्वर्यों की समस्त सुविधाएँ उन्हें उपलब्ध थीं । जगमगाते हुए राज महलों में वह निवास करते थे । नरम गद्दों पर वह सोते होंगे । सुन्दर वस्त्रालङ्कारों से सज्जित रहते होंगे । अनेकों प्रकार के स्वादिष्ठ व्यञ्जन उनके दैनिक व्यवहार में स्वभावतः ही होंगे, छोटे से छोटे कार्य करने के लिए दास दासियाँ थीं । आज्ञा करने पर आकाश के तारे भी टूट कर आ सकते थे । ऐसी सुविधाओं के उपलब्ध होते हुए जिस व्यक्ति का राज तिलक होने जा रहा है, उसकी प्रसन्नता का क्या ठिकाना होगा,इसका अनुभव सहज में ही लगाया जा सकता है ।

उज्ज्वल प्रकाश में एकाएक अन्धकार छा जाए तो कैसा प्रतीत होता है ? अनुकूल परिस्थितियाँ एकदम मोड़ खा जाएँ और प्रतिकूल बन जाएँ तो मन पर क्या गुजरती है ? जिसका राजतिलक होने जा रहा है, उसे वन का ऋषि जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य किया जाए तो वह सर धुन-धुन कर रोने के अतिरिक्त और क्या करेगा ? परन्तु राम के जीवन में ऐसी कोई घटना नहीं घटी जहाँ उन्होंने भाग्य को कोसा हो और परिस्थितियों को दोष दिया हो । वह परिस्थितियों के अनुकूल अपने को ढालना जानते थे । उन्हें राज तिलक होने जा रहा था तो वह खुशी में कुप्पा नहीं हो रहे थे । जब उन्हें वन जाने की आज्ञा मिली तो दुःख की एक किरण भी उनके मानसिक क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर पाई । अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियाँ, सुख और दुःख जीवन के दो रुख हैं । दोनों में एक समान रहना ही जीवन की सफ़लता है । साहस और धैर्य के साथ विपरीत परिस्थितियों के साथ लड़ना आदर्श जीवन है । राजा के पुत्र को वनवास की आज्ञा किसी पर दुःखों का पहाड़ टूटने से कम नहीं है । इस पर भी वह पर्वत की तरह अपने मार्ग पर स्थित रहे यह आश्चर्य है ।

थोड़े दिनों के लिए कोई यात्रा के लिए घरसे बाहर जाता है तो हर प्रकार की व्यवस्था की जाती है, कहीं परदेश में परेशानी न हो। राम को १४वर्ष तक वन में रहना था परन्तु जीवन यापन करने के कोई साधन नहीं थे। निवास, भोजन, वस्त्र, दवा आदि की समस्त सुविधाएँ उनसे छिन गईं थीं, फिर भी वह प्रसन्न चित्त अपनी जीवन यात्रा में निरन्तर आगे बढ़ते ही गए। वहां जाकर भी उन्हें तरह-तरह के कष्टों का समना करना पड़ा। राक्षसों का विरोध सदैव उनके सामने रहा, अत्याचारियों का भूत भय बनकर निरन्तर उनके सामने आता रहा, परन्तु संघर्ष में वह डटे रहे और दुर्भाग्य की कभी शिकायत नहीं की। विश्व में शायद ही किसी व्यक्ति की ऐसी कड़ी परीक्षा हुई हो। हर व्यक्ति को जीवन में कष्टों से जूझना पड़ता है, विपरीत धारा से टक्कर लेनी पड़ती है। परिस्थितियों के सामने जो अपने हथियार डाल देता है वह जीवन की दौड़ में असफल माना जाता है। उनसे युद्ध करने वाले को ही सफलता का मुकुट पहनाया जाता है। जीवन संघर्ष से न डरना ही राम की सच्ची उपासना है।

राम सत्य प्रतिज्ञ थे। निषादराज गुह के वचन सुनकर उन्होंने कहा—"मैं १४ वर्ष दण्डकारण्य में रहकर यहां फिर आऊँगा। मैं जो कुछ कहता हूँ सत्य ही कहता हूँ। राम की बात कभी मिथ्या नहीं हो सकती।" उन्होंने एक अन्य स्थान पर स्वयं कहा है–"अनृतं नोच्यपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन" मैंने कभी न तो झूँठ बात कही है और न कभी भविष्य में कहूँगा। 'रामो द्विर्नाभिभाषते'–"राम दो तरह की बात नहीं बोलता।"

राम प्रतिज्ञा पालन की मूर्ति थे। अध्यात्म रामायण (अयोध्या काण्ड, सर्ग ६ श्लोक ३४।३५) में वह कहते हैं–"पिताजी ने स्त्री वश, काम वश या मूढ़ बुद्धि होकर ऐसा नहीं कहा। उन सत्यवादी ने अपनी पूर्व प्रतिज्ञानुसार ही प्रतिज्ञा भंग के भय से उन्हें वर दिए थे। महान

पुरुषों को असत्य से नरक की अपेक्षा भी अधिक भय हुआ करता है। "मैं भी ऐसा ही करूँगा" यह कह कर उनसे सत्य प्रतिज्ञा कर चुका हूँ। उन्होंने सीता जी से कहा है "मैं अपने प्राणों का त्याग कर सकता हूँ, तुमको और लक्ष्मण को भी छोड़ सकता हूँ परन्तु प्रतिज्ञा कर उसे भूल नहीं सकता।"

आदर्श पुत्र के रूप में राम की विश्वव्यापी ख्याति है। जब कैकेई ने उन्हें बुलाकर अपने वर और दशरथ की प्रतिज्ञा की बात कही तो राम ने कहा—"पिताजी के लिए मैं अपने जीवन की आहुति दे सकता हूँ, विषपान कर सकता हूँ, पत्नी, माता और राज्य का भी त्याग कर सकता हूँ। अतः पिताजी ने मेरे लिए जो आज्ञा दी है, उसका मैं अवश्य पालन करूँगा, यह सत्य है, राम दो बात कभी नहीं कहता (अध्यात्म रामायण ३।५८।६२)। जब भरत उन्हें वापिस आने का आग्रह करते हैं तो उन्होंने भरत को समझाते हुए कहा—"जो व्यक्ति अपने पिता की आज्ञा का पालन नहीं करता, वह जीवित ही मुर्दे की तरह है और शरीर त्यागने पर नरक को जाता है। अतः तुम राज्य शासन करो मैं दण्डकारण्य की रक्षा करूँगा।" (अ० रा० ९।३१।३२)। वाल्मीकि रामायण (१९।१४) के अनुसार उन्होंने कैकेयी को सम्बोधित करते हुए कहा— "यह कार्य तो मैं आपके आदेश से ही कर सकता था। इसके लिए व्यर्थ ही पिताजी को कष्ट दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि आपकी दृष्टि में मुझमें इस गुण का अभाव है। पिताजी से कहलवाने की क्या आवश्यकता थी ? इसे तो सीधे मुझे ही कहना चाहिए था।" विमाता से ऐसा व्यवहार देख कर आश्चर्य होता है।

उनका भ्रातृ भाव लक्ष्मण को कहे इस वाक्य से ही विदित हो सकता है। "मुझे सत्य और आयुध की शपथ है कि धर्म अर्थ, काम और सारी पृथ्वी मैं तुम्हीं भाइयों के लिए चाहता हूँ। तुम लोगों को

छोड़कर यदि मुझे कोई सुख मिलता है तो उसमें आग लग जाए, वह भस्म हो जाए। तुम्हारे सुख के लिए ही मैं राज्य की इच्छा करता हूँ।"

राम जितेन्द्रिय, संयमी और एक पत्नीव्रती थे। वन में शूर्पणखा ने मनोहर रूप से उन्हें लुभाना चाहा। तुलसीदास के शब्दों में—

तुम सम पुरुष न मो सम नारी। यह संजोग विधि रचा बिचारी॥
मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखेउ खोजि लोक तिहूँ माहीं॥
तातें अब लगि रहिउँ कुमारी। मनु माना कछु तुम्हहि निहारी॥

परन्तु शूर्पणखा की राम ने उपेक्षा ही की। राम कथा में प्रत्येक रघुवंशी का ही यह स्वभाव बताया गया है कि कोई भी दूसरी स्त्री उनके मन को लुभा नहीं सकती और उसकी दृष्टि बुरेभाव से पर-स्त्री पर नहीं पड़ सकती।

राम तो गुणों के भण्डार थे। उनका किसी का दोष देखने का स्वभाव नहीं था। वह दोषारोपण सुनना भी पसंद नहीं करते थे। लक्ष्मण जब कैकेई की निन्दा करते तो उन्हें भी मना करते थे। वह अपने प्रति द्वेषभाव रखने वालों पर भी क्षुब्ध नहीं होते थे। क्रोध तो उनकी छाया से डरता था। मन्थरा तो उनके सारे कष्टों की जड़ थी परन्तु उसके प्रति भी उनके मन में दुर्भाव नहीं आया और उन्होंने कभी मन्थरा के अपराध की चर्चा तक नहीं की। वाल्मीकि रामायण, (बालकाण्ड १।२।४) में कहा भी है—"राम मन पर नियन्त्रण रखने वाले, क्रोध पर विजय प्राप्त करने वाले और किसी की निन्दा न करने वाले हैं।"

कृतज्ञता का प्रकट करना हमारी संस्कृति की महान् विशेषता है। जड़ पदार्थों के प्रति भी हम कृतज्ञता का प्रदर्शन करते हैं। राम का यह स्वभाव ही था। वह दूसरों के बड़े-से-बड़े अपराध का स्मरण भी न करेंगे परन्तु जिन्होंने उनके प्रति छोटे में छोटा उपकार किया होगा तो वह उसे बार-बार याद करते हैं। हनुमान को एक बार उन्होंने कहा

था कि—"मुझ पर तेरे इतने बड़े उपकार हैं कि उस एक-एक उपकार के उपलक्ष्य में अपने प्राण तक दे सकता हूँ। फिर भी शेष उपकार बच रहेंगे, वह ऋण मेरे ऊपर सदैव बना ही रहेगा।" (वा० रा० उत्तर० ४०।१३।१४)।

रामायण में राम को पूर्ण पुरुष रूप में प्रस्तुत किया गया है। (वा० राम० बाल० ८।११) के अनुसार राम संयतात्मा, महावीर्यवान्, कान्तिमान, धृतिमान, जितेन्द्रिय, बुद्धिमान्, राजनीति आदि के पूर्ण ज्ञाता वक्ता, श्रीमान्, शत्रुओं के नाशक, विपुल मस्तक, महाबाहु, लक्ष्मीवान् शुभलक्षण, धर्मज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ, प्रजा हितपरायण, कीर्ति सम्पन्न, पवित्र, बाहर और भीतर एक जैसा, विनयशील, योगयुक्त, प्रजापति तुल्य, ऐश्वर्यवान्, मर्यादापालन द्वारा धर्म रक्षक, स्वधर्म के रक्षक, वेद वेदाङ्गों के मर्मज्ञाता, श्रुतिस्मृति आदि समस्त शास्त्रों के तत्वज्ञाता, पढ़े हुए शास्त्रों के स्मरण कर्ता, उपस्थित बुद्धि, सर्वलोक प्रिय, मधुर स्वभाव वाले, अदीन स्वभाव, सत्पुरुषों द्वारा सेवित, सर्व पूज्य, सुख दुःखादि द्वन्द्व विकार रहित, समस्त अवस्थाओं में सम, क्षमा में पृथ्वी के तुल्य, धन दान में कुबेर की तरह, सत्य पालन में साक्षात् धर्मराज हैं।" इसीलिए वह गुणों के आगार कहे जाते हैं।

राम असुरता के शत्रु थे। उनकी छाया से भी असुरता भागती थी। आसुरी प्रवृत्तियों का विनाश ही उनके जीवन का लक्ष्य रहा, इसी लिए उनका अवतार हुआ। रावण के नेतृत्व में राक्षसों के अत्याचार बढ़ रहे थे। रावण का वध करके उन्होंने इस बाढ़ को रोका। राजा होते तो वह रावण को परास्त करने के लिए एक शक्तिशाली संघ आसानी से बना सकते थे परन्तु एक वनवासी की अवस्था में वानरों का महान संगठन बनाकर रावण जैसे शक्तिशाली राजा का नाश किया यह उनकी संगठन करने की शक्ति और क्षमता का परिचायक है। हर प्रकार की असुविधा रहते हुए उन्होंने महानतम कार्य का सम्पादन किया, यही

उनकी विशेषता है। सच्चा राम-भक्त वह है जो कठिन परिस्थितियों में रह कर भी बड़े कार्य करता है और संघर्षों के सामने घुटने नहीं टेक देता।

राम के जीवन का कोई भी अङ्ग लें, वह अनुकरणीय है। वह गृहस्थ जीवन का आदर्श है,गुणों की खान है। विष्णु के अवतार राम की जो इस रूप में उपासना करते हैं, वह भी जीवन कला विशारद बनते हैं, यह निश्चय है।

श्रीकृष्णावतार--

श्री कृष्णावतार की कथा भागवत अग्निपुराण आदि अनेकों पुराणों में विस्तार से वर्णित है। इनके अविर्भाव से पूर्व सारे वातावरण में असुरता छाई हुई थी। कंस को आकाशवाणी द्वारा ज्ञात हुआ था कि वसुदेव और देवकी द्वारा उत्पन्न पुत्र ही उसका काल सिद्ध होगा। इस लिए उसने वसुदेव और देवकी को कारागार में बन्द करवा दिया था और उनसे जो भी संतान होती उस नवजात शिशु को मरवा देता था। अराजकता, निरंकुशता, स्वच्छन्दता, और अत्याचार कंस के राज्य की विशेषताएँ थीं। उसने अपने पिता उग्रसेन को भी कारागार में बंद करके स्वयं राज्य को हथिया लिया था।

कौरवों जैसे पापात्माओं के हाथों में विशाल राज्य की वागडोर थी। उन्होंने अपने भाइयों पाण्डवों को वनवास दे दिया था, उन्हें जलाने और मरवाने के अनेकों प्रयत्न किए, द्रोपदी का जो अपमान उन्होंने भरे दरबार में भीमादि ज्ञानी व्यक्तियों के समक्ष किया, विश्व के इतिहास में उसका दूसरा उदाहरण मिलना सम्भव नहीं है। जरासंध जैसे अनेकों अन्य शक्तिशाली राजाओं के अत्याचार भी बढ़ते जा रहे थे। सनकादि के शाप के कारण जय और विजय भी हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, रावण और कुम्भकर्ण के बाद शिशुपाल और दन्तवक्र के रूप में उत्पन्न

हो चुके थे। प्रजा इन आसुरी शासनों से अत्यन्त पीड़ित थी। कोई नियम और कानून नहीं था। राजा की इच्छा और आज्ञा ही कानून बन जाती थी। धैर्य और सदाचार के लिए कोई स्थान नहीं रहा था। आज के भारत को पतित समाज की संज्ञा है फिर भी एक रजस्वला, एक-वस्त्रा स्त्री को नग्न करने का पिशाची कृत्य करने का साहस कोई नहीं कर सकता। शत्रुता से निद्रित अवस्था में द्रोपदी के पांच पुत्रों को मारने की घटना की पुनरावृत्ति तो होनी सम्भव है परन्तु गर्भ में ही परीक्षित को मार डालने के लिए उत्तरा के गर्भ में ऐषीकास्त्र के प्रयोग का वीभत्स कृत्य शायद ही कोई करने का साहस करे। ऐसे दुष्कृत्य जिस देश में हो रहे हों, वहाँ एक ऐसी पवित्रात्मा के अवतरित होने की आवश्यकता थी जो इस दुरवस्था को दूर करके कुशासन को सुशासन में बदल दे और जनता को स्वतन्त्रता की सांस लेने दे। भगवान कृष्ण ने अवतार लेकर चारों ओर न्याय व्यवस्था स्थापित करने का निश्चय किया।

कृष्ण का जीवन चमत्कार पूर्ण कार्यों से ओत-प्रोत रहा है। बाल्यकाल में ही शकटासुर और पूतना को छठी का दूध याद दिला दिया था। अघासुर और बकासुर आदि असुरों को धराशायी कर दिया था। प्रलम्ब, नरक, जम्भ, पीठ, सुर, हयासुर और बैल का रूप धारण करने वाले दानव को मार दिया था। महाबली कंस को भी चारों कौने चित्त कर दिया था। अक्षौहिणी सेनाओं के अधिपति कंस के भाई सुनामा को मारने का श्रेय भी कृष्ण को ही है।

ब्रज में गौ पूजा और दूध का आन्दोलन चलाने के सूत्रधार भी वही थे। गौओं को स्वयं चराकर उनकी महत्ता को बढ़ाया। माखनचोर कहला कर उनके प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित किया। कंस के काले कानून के अन्तर्गत ब्रज का सारा दूध मथुरा के बाजारों में टिकता था जिसका विरोध कृष्ण ने ही किया और अपने गोपों की सहायता से इसे बन्द कर

दिया। कृषि पर निर्भर देश में गोवर्धन पूजा से गोबर को धन के रूप में समझने की प्रेरणा दी।

उनकी शिक्षा में भी चमत्कार दिखाई देता है। ऐसा वर्णन है कि ६४ दिन के अल्प समय में उन्होंने चारों वेद, उनके छः अङ्ग—शिक्षा, कला, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द एवं आलोचना, गणित, ज्ञान विद्या और वैद्यक सबकी शिक्षा प्राप्त करली थी। ५० दिन में दसों अङ्गों सहित धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की और १२ दिन में हाथी, घोड़े आदि की सवारी में प्रवीण हो गए। इन चमत्कारों को देखकर आश्चर्य नहीं करना चाहिए। ऐसे उदाहरण तो आज भी मिल जाते हैं। हमने स्वयं अनेकों ऐसे बालकों को देखा है जो रामायण, गणित, महाभारत, आदि शास्त्रों के विद्वतापूर्ण प्रवचन देते थे। आज भी समाचार पत्रों में ऐसे समाचार यत्र-तत्र मिल जाते हैं, वहाँ पिछले जन्मों के संस्कार बाल्य-काल में ही उभरे हुए दिखाई देते हैं। कृष्ण जैसे १६ कलाओं के पूर्णा-वतार में यदि शिक्षा के सम्बन्ध में यह तथ्य वर्णित किए जाएँ तो इसमें अतिशयोक्ति का लेश मात्र भी न मानना चाहिए।

कृष्ण के साथ मुरली का घनिष्ट सम्बन्ध है। इसकी ध्वनि से गायें मस्त हो जाती थीं, गोपियाँ सुध-बुध भूल जाती थीं, राधा और कृष्ण तो दो शरीर और एक आत्मा हो गये थे। गोपियों और राधा के साथ उनका कोई और सम्बन्ध नहीं था, वह तो अलौकिक सम्बन्धों से बँधी हुई थीं। गोपियों को तो श्रुतियों का अलङ्कारिक रूप भी कहा गया है। पद्म पुराण के पाताल खण्ड में उनके नाम—उद्गीता, सुगीता, कलगीता, कलसुदा, कलकण्ठिका, विपञ्ची, क्रमपदा, बहुहुता, बहुप्रयोगा, बहुकला, कलावती और क्रियावती आदि कहे गये हैं। शास्त्रों में ऐसा वर्णन भी आता है कि अनेकों मुनियों ने व्रज में अपने अपने पूर्व जन्म के प्रभाव से कृष्ण के सान्निध्य में रहने के लिए गोपियों का रूप धारण किया था, यहाँ कृष्ण और गोपियों का सम्बन्ध अलौकिक ही सिद्ध हो रहा है।

कृष्ण मुरली बजाने वाले एक गोप बालक ही नहीं थे, वह स्वयं उच्चकोटि के संगीताचार्य थे। संगीत के चार प्राचीन विशेषज्ञों—नारद, भरत, हनुमान और कृष्ण में, श्रीकृष्ण-मत सङ्गीत का एक विशिष्ट रूप है। प्राचीन नृत्यों में ताण्डव और लास्य प्रसिद्ध माने जाते हैं। कृष्ण ने एक नई तीसरी नृत्य कला का सृजन किया था, जो इन दोनों से अलग और विलक्षण थी।

अपने गुरु को कृष्ण ने जैसी गुरु दक्षिणा दी है उससे उनके असाधारण व्यक्तित्व की झलक मिलती है। बहुत दिन पूर्व उनके पुत्र को समुद्र में एक मगर निगल गया था जिससे वह बहुत दुःखी रहते थे। उसे वापिस लाना ही गुरु ने गुरु दक्षिणा माना। यमराज के पंजों से छुड़ाकर कृष्ण गुरु सान्दीपन के पुत्र को लौटा लाए। इससे स्पष्ट है कि असम्भव को सम्भव बनाने की कला में कृष्ण बाल्यकाल से प्रवीण थे।

अध्यात्म विद्या के वह जीते-जागते रूप थे। माता यशोदा ने दही खाने पर डांटा तो मुख के खोलने पर माता को सारे ब्रह्माण्ड के दर्शन करा दिये। अर्जुन भी भगवान के विराट् दर्शन करके आश्चर्य चकित हो गया था। उसने भीष्म, द्रोण, कर्ण और दुःशासनादि को भयानक दाढ़ों के बीच पिसते देखा। तभी तो कृष्ण ने कहा था—अर्जुन! इन सबको तो मैंने पहले से ही मार दिया है, तुम तो केवल निमित्त मात्र हो। विराट् रूप के दर्शन कराते हुए उन्होंने कहा था–"तुम चर और अचर सारे जगत को मेरे इस शरीर में देखो।" कृष्ण सारे विश्व को अपने में देखते थे। यही सात्विक ज्ञान का व्यवहारिक रूप है। उनका सारा जीवन इस ज्ञान का प्रतीक रहा है।

गीता का आध्यात्मिक ज्ञान देकर तो मानों उन्होंने शुष्क पृथ्वी पर अमृत छिड़क दिया हो। जिसने भी उस अमृत का पयपान किया है, वह वास्तव में अमर हो गया। हर क्षेत्र के व्यक्तियों ने गीता को अपना

ग्रन्थ माना है। शङ्कराचार्य ने इससे संन्यास पक्ष को उद्धृत किया है, तिलक ने कर्मयोग ही इसका मुख्य विषय माना है। किसी ने द्वैत, अद्वैत, विशिष्ट अद्वैत आदि मतों का इसमें समर्थन पाया है। स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा वाले साधकों के पास तो गीता का रहना स्वाभाविक ही है। परतन्त्रता काल में स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने वाले नवयुवकों के पास भी गीता देखी गई है, जो निरन्तर अपने पास गीता और पिस्तोल रखते थे।

यह तो अमर आत्मा का सन्देश देने वाली अद्भुत पुस्तक है। यह विश्वास दिलाती है कि इस जीवन की धारा टूटने वाली नहीं है, यह अखण्ड और अमर है। शरीर बदलते रहेंगे परन्तु हम न बदलेंगे, हम निरन्तर प्रगति पथ पर आगे बढ़ते रहेंगे। इस प्रत्यक्ष शरीर का नाश हमारा नाश नहीं है। हमें नाश करने की सामर्थ्य संसार की किसी भी शक्ति में नहीं है। इस शाश्वत संदेश को गीता ने दिया है। गीता आदर्श जीवन ज्योति की कला सिखाती है। कठिन परिस्थितियों से संघर्ष करने का पाठ पढ़ाती है। इन्द्रिय संयम,तप त्याग, परमार्थ आदि उपायों द्वारा मोक्ष प्राप्ति का उपाय भी बताती है। अध्यात्म विद्या के स्पष्टीकरण की अपनी विशिष्टताओं के कारण सारे विश्व को इसने प्रभावित किया, भटके प्राणियों को एक सुलझा हुआ मार्ग दिखाया, ज्ञान और प्रकाश की ज्योति जलाई। यही ज्योति जलाने के लिए वह अवतरित हुए थे। उन्होंने स्वयं कहा है— 'कि जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म का नाश होता है, तब-तब मैं अवतार धारण करता हूँ।" कंस, दुर्योधन, जरासंध, शिशुपाल जैसे राजाओं ने चारों ओर आतंक मचा रखा था जिससे प्रकृति का संतुलन बिगड़ रहा था। इसे संतुलित करने के लिए कृष्ण का आविर्भाव हुआ और इन अत्याचारियों को यमलोक पहुँचाकर शान्ति राज्य की स्थापना की। * * *

भगवान बुद्ध के समय भी देश की धार्मिक स्थिति अत्यन्त अस्त-व्यस्त थी। बहुत मत-मतान्तर फैल गये थे। उस समय भारत में ३६४ मत प्रमुख थे। क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४, अज्ञानिकवादियों के ६७ और वैनयिकवादियों के ३२ साम्प्रदाय हो गये थे। शाश्वत, नित्यता, अनित्यता, अपराविक्षेप, निर्वाणादि, अनेक परस्पर विरोधी, अर्धविरोधी और एक दूसरे के पूरकवाद थे। जनता के सामने इतने मत मतान्तर फैल गये थे कि किसी एक की ओर झुकना उनके लिए कठिन हो गया था। एक मत वाला दूसरे पर आघात करता था। वाद-विवाद करता था। वैदिक धर्म में भी शिथिलता आ गई थी। वह अन्धविश्वासों से भर गया। जैन धर्म ने भी इस पर आघात करना आरम्भ कर दिया था।

उस समय मीमांसकों, कर्मकाण्डी पण्डितों और पुरोहितों का साम्राज्य था, वह जो कहते थे, उसे पत्थर की लकीर मान लिया जाता था, चाहे वह तर्क और बुद्धि से कोसों दूर हो, विवेक से उसका दूर का भी वास्ता न हो। वैदिक युग के घृत, दुग्ध, धान्य आदि प्रधान यज्ञ, बलि-प्रधान हो गये थे। यज्ञों का छोटा या बड़ापन पशुओं की संख्या पर गिना जाने लगा था। पुरोहितों के अत्याचार और पाखण्ड बहुत बढ़ गये थे। सब ओर त्राहि-त्राहि मची हुई थी।

उपनिषदों और वेदों के आदर्शों को मानने वाले लोग कम थे। जनता में आचरण की शिथिलता आ गई थी। सात्विक अन्न को छोड़कर लोगों ने मांसाहार को अपनाया और हिंसा को कर्मकाण्ड का एक अङ्ग बना दिया। हिंसा को यज्ञों में धर्म सङ्गत सिद्ध करने में एड़ी-चोटी तक का जोर लगा दिया। धर्मशास्त्रों में ऐसे श्लोक मिला दिए जो मांसाहार और यज्ञों व देवी-देवताओं के सामने बलि का समर्थन करते हों।

इसीलिये तो महाभारतकार को ऐसे लोगों को धूर्त कहना पड़ा जिन्होंने अपने स्वार्थ व मांस लोलुपता के कारण धर्म को कलङ्कित कर दिया था।

उस समय वाममार्गियों का विशेष रूप से आधिपत्य था। वह यज्ञों में हिंसा को हिंसा नहीं समझते थे। हिंसा को उन्होंने अपने धर्म, पूजा, उपासना और ईश्वर भक्ति का अङ्ग मान लिया था। उसी के आधार पर वह खुल्लमखुल्ला प्राणियों का वध करके रसना इन्द्रिय की तृप्ति करते थे। माँस के कुछ इञ्च के लोथड़े के लिए वह एक जीवित प्राणी का, जिसे उन्हीं की तरह कष्ट और पीड़ा अनुभव होती है, वध करने में कोई हानि नहीं मानते थे। धर्म के जिन आदेशों, सिद्धान्तों और विचारों को अपना कर लोग नैतिकता को ग्रहण करते थे, उसमें शून्यता आ गई थी, क्योंकि धर्म के वास्तविक रूप का लोप हो गया था।

अब तो धर्म का विकृत रूप ही जनता के समक्ष था। पशुओं का खून बहा कर ही स्वर्ग व मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग बताया जाता था। विचारों में जड़ता आने से लोगों के हृदय भी जड़ हो गये थे। पशुओं की तड़पन को देख उनके हृदय पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता था। ऐसा लगता था कि सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ प्राणी ने हिंसक पशु-योनि में अवतार ले लिया है और प्रकृति ने उसके शरीर की क्षुधा निवृत्ति के लिए ही इन दूसरे पशुओं को उत्पन्न किया है। इनका वध करना, और खाना खिलाना उनका जन्म-सिद्ध अधिकार है। वास्तविकता भी यही है। यदि मनुष्य अपने मनुष्यत्व को अनुभव करले तो वह कभी भी पशुत्व की ओर न बढ़े। सुई चुभोने से लेकर सर-धड़ अलग करने पर उसे भी मूर्छा आ जाती है। परन्तु ऐसा हुआ नहीं।

धर्म के नाम पर जब इस प्रकार अकाण्ड ताण्डव होने लगा, निरपराध प्राणियों की हत्या होने लगी, प्राणी मात्र के कल्याण के लिए होने वाले यज्ञों में जब खून की धाराएँ बहने लगीं तो उस समय भगवान् बुद्ध का अवतरण हुआ। उनका कोमल हृदय पसीज उठा। हिंसा-

युक्त कर्मकाण्डों से उन्हें घृणा होने लगी। जिन धर्म-शास्त्रों में हिंसा का प्रतिपादन था, उनका उन्होंने बहिष्कार किया। हिंसा को रोकने के लिए अहिंसा का प्रचार करने लगे। प्राणीमात्र पर दया, करुणा, सहानुभूति, प्रेम दिखलाने के लिए उपदेश करने लगे। तप और कठोर साधन से उन्होंने विशेष बल प्राप्त कर लिया था। उस समय की परिस्थितियों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करके एक नवीन मार्ग निकाला, जिसमें समन्वयवाद का प्रतिपादन था। स्त्री और शूद्रों का जो पहले अपमान होता था, उन्होंने मान देना आरम्भ किया, वह सबको अपने समान समझने लगे। परस्पर मत मतान्तरों के विरोधी वातावरण को शमन करने का प्रयत्न किया। आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध में चल रही कल्पनाओं व उड़ानों का समाधान किया, धर्म का प्रचलित विकृत रूप जनता को समझाया। जनता पहिले ही तरह-तरह के मत-मतान्तरों, विरोधी विचारों, भावनाओं, झगड़ों, वाद-विवादों से क्षुब्ध हो चुकी थी। विरोधी तत्वों के आपसी संघर्षों से ऊब चुकी थी। जब उन्होंने एक नवीन मार्ग देखा, जो सबको अलग नहीं बल्कि मिलाने का प्रयत्न करता है, तो जनता ने इस नवीन मत का स्वागत किया।

बुद्ध ने इस तथ्य को भली प्रकार से समझ लिया था कि पुरानी रूढ़िवादी धारणाओं को बदलने के लिए, सामाजिक क्रान्ति करने के लिए जनमत को अपनी ओर आकर्षित करना अत्यावश्यक है। इसके लिए सङ्गठन का सूत्रपात होना चाहिए। उन्होंने स्थान-स्थान पर बुद्ध मठ और विहारों की स्थापना की। नवयुवकों और नव-युवतियों को अपने मत में दीक्षित कर उन्हें भिक्षु और भिक्षुनियाँ बनाकर देश के कौने-कौने में प्रचार करने लगे। बुद्ध की क्रान्ति ने इतना जोर पकड़ा कि राजे-महाराजाओं पर भी उसका प्रभाव पड़े बिना न रहा। उनका स्वयं का परिवार उनके मत का अनुयायी बन गया। महाराजा अशोक के लड़का और लड़की भी भिक्षु बनकर विदेश में बुद्ध मत के विस्तार के लिए गए

थे। जन कल्याण करने वाली इस संस्था की व्यवस्था जनता ने प्रसन्न चित्त से की। सुधार की इस नवीन वेला में भगवान् बुद्ध एक प्रकाश पुंज की तरह चमके और मनुष्य में भरे अज्ञानान्धकार को दूर किया हिंसा और हिंसक यज्ञों का विरोध होने लगा। मांसाहार को त्याज माना जाने लगा। बलि को अधार्मिक प्रथा घोषित किया जाने लगा जिन ग्रन्थों में इसका समर्थन था, उनकी ओर से जनता की नजरें फि गईं। सङ्गठन ने काम किया। घर-घर में अहिंसा की गूंज उत्पन्न क दी गई। आपस में वाद-विवाद करने वाले मतों का खण्डन किया गया उसके स्थान पर प्रेम का सन्देश दिया गया, अन्य प्राणियों पर दया कर का उपदेश दिया गया।

क्रान्ति, क्रान्ति ही होती है। वह बिना त्याग के सफल न होती। विचारों का प्रसार करना आवश्यक है और यह क्रान्ति व पहली सीढ़ी है। परन्तु वह पर्याप्त नहीं है, इसके लिए जनता को आन्दो लनों के द्वारा उत्साहित करना पड़ता है। उनके दबे हुए भावों को जागृ करना होता है तभी हजारों वीर अपने शरीरों की आहुति देकर क्रान्ति की देवी को प्रसन्न करके अपनी मनोकामना की पूर्ति करते हैं। उ समय भी हजारों और लाखों की संख्या में लोगों ने अहिंसा-धर्म विस्तार और हिंसा-धर्म के शमन के लिए नाना प्रकार के कष्ट स कठिनाइयों का सामना किया, भूख प्यास की परवाह न करते हुए पहा घाटियों, नदी-नालों व सैंकड़ों मीलों की पैदल यात्रा करके वास्तवि धर्म का बिगुल बजाया, अपने भौतिक सुखों को लात मार कर त्या देवता के कदमों पर झुक गए और मूल्यवान् शरीरों को समाज की बलि वेदी पर चढ़ाकर अमर हो गये। अधर्म के नाश के लिए वह इत उत्साहित थे कि जहाँ यज्ञों या देवी-देवताओं के सामने होने वाली ब के सम्बन्ध में उनके कानों में ध्वनि होती थी, वहीं डट जाते थे औ "अहिंसा परमो धर्मः" का अलख जगाकर अपने प्राणों को उत्सर्ग क

देते थे, जब तक कि उनके समर्थकों के मन में एक नवीन धारा का प्रवाह न होने लगे और वह सहर्ष उसे वन्द कर दें।

जहाँ तप, त्याग, सेवा, निःस्वार्थता, प्रेम, दया, सहानुभूति, समता, करुणा आदि गुण होते हैं, वहाँ संसार की समस्त शक्तियाँ और सिद्धियाँ एकत्रित हो जाती हैं। जगत् भर की महानताएँ वहाँ प्रणाम करने आती हैं। सफलताएँ नत मस्तक होकर आज्ञा की प्रतीक्षा में रहती हैं। बुद्ध और उसके अनुयाइयों में उपरोक्त गुण थे, अतः वह सफल हुए।

बुद्ध ने जिस अहिंसक क्रान्ति का सूत्रपात किया, उससे लाखों पशुओं का वध रुका, एक पवित्र वातावरण का निर्माण हुआ, लोग पशुओं में भी अपने समान आत्मा का अनुभव करने लगे, लोक में भी हिंसा की कमी हुई। दया, प्रेम की गङ्गा प्रवाहित होने लगी। इस विचार धारा ने व्यापक रूप धारण किया और इसकी सुगन्धि देश की सीमाओं को पार कर विदेशों में भी फैल गई। आज सारा विश्व उनके महान् व्यक्तित्व से प्रभावित है। वर्तमान विश्व पर हिंसा वृत्ति के बादल मँडरा रहे हैं। हर राष्ट्र विश्व विजेता होने के स्वप्न ले रहा है। आज का वैज्ञानिक बुद्धिकौशल मानव जाति के विनाश की योजनाओं में संलग्न है और विनाशकारी अस्त्र-शस्त्रों की होड़ में हर कोई आगे बढ़ना चाहता है। इन परिस्थितियों में अहिंसा के अवतार बुद्ध के अवतरण की आवश्यकता है ताकि यह निरन्तर बढ़ रही हिंसा वृत्ति का नाश होकर अहिंसा की भावना सारे वातावरण में छा जाए।

कल्कि अवतार—

युगों की गणना के अनुसार कलियुग चार लाख बत्तीस हजार वर्षों का है। अभी कलियुग के पाँच हजार वर्षों से ऊपर व्यतीत हो चुके हैं। कल्कि का आविर्भाव इस युग के अन्त में होने की भविष्यवाणी की गई है। किन परिस्थितियों में उनका जन्म होगा, उसका विवरण भागवत् के १२ वें स्कन्ध में विस्तारपूर्वकदिया है।

वहाँ लिखा है कि जब धर्म, सदाचार का नाश हो जाएगा, सत्य, क्षमा, दया, सहानुभूति, पवित्रता आदि गुणों का जनता में से लोप हो जाएगा और धनवानों को ही सर्वगुण सम्पन्न माना जाएगा, शक्ति ही धर्म और न्याय को सन्तुलित रखेगी, विवाह वर-वधू की स्वेच्छाचारिता से होंगे, कुल, गोत्र का कोई ध्यान नहीं किया जाएगा, व्यापार में कपट की प्रधानता रहेगी स्त्री-पुरुषों में भोग-वासना का उद्देश्य मुख्य रहेगा, ब्राह्मणों का चिह्न केवल यज्ञोपवीत ही रह जाएगा, उनमें कर्मों का लोप हो जाएगा। धन के प्रभाव से सभी उचित-अनुचित कार्य होते रहेंगे। निर्धन व्यक्ति असज्ज्जन माने जाएंगे। दम्भ से ही साधुता प्रकट होगी—सदाचार से नहीं, धर्म का पालन यश की प्राप्ति के लिए किया जाएगा, वर्षा के अभाव में दुर्भिक्ष का साम्राज्य होगा और प्रजा में हाहाकार मचेगा, वह नगरों को छोड़कर वनों में जा बसेगी, व्याधियों, चिन्ताओं और सन्तापों से प्रजा का नाश होता जाएगा, लोग वेद-धर्म का पालन छोड़ देंगे और धर्म का लक्षण पाखण्ड हो जाएगा और राजा लोग चोरों की तरह लूट-मार करेंगे, हिंसा एक तरह का व्यसन हो जाएगा, तब भगवान विष्णु का कल्कि अवतार धर्म और साधुता की स्थापना के लिए प्रकट होगा, जो असीम दुरवस्था हो जाएगी, उसकी वह व्यवस्था बदल देंगे।

भविष्यवाणी में कहा गया है कि एक धार्मिक वृत्ति के ब्राह्मण विष्णुयश के घर श्री कल्कि भगवान अवतार ग्रहण करेंगे। सम्भल ग्राम में उनका निवास होगा। वह एक तेज हवा से बातें करने वाले घोड़े पर सवार होकर और हाथ में तलवार लेकर करोड़ों दस्युओं को यमपुर पहुँचाएंगे। जहाँ जहाँ वह जाएंगे, वहाँ पवित्रता सात्विकता का वातावरण उत्पन्न होगा और जनता के अन्तःकरणों में अभूतपूर्व परिवर्तन होने लगेगा, तभी सत्ययुग का आरम्भ हो जाएगा।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि कल्कि भगवान दुष्चरित्रता,

रूपी शार्ङ्ग धनुष, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ व ५ कर्मेन्द्रियाँ रूपी बाण, व ज्ञान रूपी खड्ग धारण करते हैं। वह पीत वस्त्रों को ओढ़ते रहते हैं, अपनाए रहते हैं। उनके ८ द्वारपाल हैं। वह आठ प्रकार की सिद्धियों के स्वामी हैं। वह सर्व समर्थ हैं। साधक भी इसी मार्ग पर चलने का प्रयत्न करता है।

विष्णु के वाहन गरुड़ हैं जो सर्पों को खाते हैं। सर्प तमोगुण का प्रतीक है। उनकी शक्तियाँ निरन्तर तमोगुण का नाश करती रहती हैं। वह क्षीर सागर में निवास करते हैं। विश्व के पालन-पोषण की जिम्मेदारी उन पर ही है। उसे कर्तव्य-पूर्वक निभाते हैं। वह समुद्र-मंथन जैसी कल्याणकारी योजनाओं में संलग्न रहते हैं। परिश्रम व पुरुषार्थ करते हैं। मोहिनी रूप से ही देवताओं को अमृत बांटते हैं, अधिकारी को ही विकास का अवसर देते हैं। शालग्राम विश्वरूप भगवान का प्रतिरूप है। वह श्याम वर्ण वाले हैं। उन पर कोई भी वर्ण अपना प्रभाव नहीं दिखा सकता। वह आसपास के वातावरण से अप्रभावित रहते हैं, सासारिक कार्यों में अलिप्त रहते हैं, वह श्वेत रूप हैं, सात्विकता उनमें ओत-प्रोत हैं। वह सूर्य, यज्ञ, अग्नि से घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं जो निःस्वार्थता और परमार्थ वृत्ति के ही दूसरे नाम हैं। वह सोम रूप हैं, प्रेरणाकारक व शान्तिदाता हैं। वह गाय का, पवित्रता का सम्मान करते है। उनकी चार पत्नियाँ हैं—लक्ष्मी, सरस्वती, गङ्गा और वृन्दा। वह धन का सदुपयोग करते हैं। विद्या का उपार्जन करते हैं, बुद्धि का विकास करते हैं, पवित्रता को स्थिर रखते हैं और स्वाध्याय को सुदृढ़ बनाते हैं। शिव और ब्रह्मा से उनका वैर नहीं है। वह समन्वय वृत्ति वाले हैं। वह वामन रूप धारण करते हैं। वामन होकर तीन पैर से सारी सृष्टि को लेते हैं, विराट् रूप प्रदर्शन करते हैं, लघु से महान् बनते ... के लिए पुकारने वाले गजेन्द्र को ग्राह से बचाते हैं।

और न्याय की स्थापना करते हैं। शास्त्रों व कथाओं से उनके इसी प्रकार के गुण प्रकट होते हैं।

इष्ट देव का चिंतन इसलिए किया जाता है कि उनके गुणों की छाप अपनी अन्तःचेतना पर बिठावें ताकि धीरे-धीरे उनको धारण करते हुए, उनके पद-चिन्हों पर चलते हुए हम भी वही रूप बनते जाएँ। विष्णु साधक के लिए चिन्तन के लिए पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत है। वह अपनी परिस्थितियों, शक्ति, सामर्थ्य और सुविधा को देखते हुए प्रगति पथ पर आ खड़े हुए, अपना आत्म निरीक्षण करे, अवगुणों का त्याग करते हुए गुणों का विकास करे, इष्ट विष्णु को अपने मन मन्दिर में बैठाए, उनके कार्यों और गुणों का चिन्तन करे। उनके प्रतीकात्मक विवरण से स्पष्ट है कि उन्हें शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक चारों प्रकार का विकास अभीष्ट है। इनमें जीवन निर्माण का कोई पहलू अछूता नहीं रह गया है, क्षुद्र से महान् बनने के लिए सभी नियमों का वर्णन कर दिया गया है, सुख शान्ति के उपायों पर अपरोक्ष रूप से प्रकाश डाला गया है।

भगवान विष्णु उनसे प्रसन्न नहीं होते जो केवल उनकी मूर्ति या चित्र को नमस्कार ही करते रहते हैं। वरन् उनके कृपापात्र वही रहते हैं जो उनकी पूजा, उपासना के साथ उनके गुणों का चिंतन करके उन्हें ग्रहण करने का प्रयत्न करते हैं। हमारा विश्वास है कि जो साधक इस पुस्तक में वर्णित विष्णु के गुणात्मक रहस्यों पर ध्यान देकर उनको अपने जीवन में उतारने का प्रयास करेंगे, वह जीवन विकास की विभिन्न सीढ़ियों को पार करते हुए उच्चतम पद तक पहुँच सकते हैं। लघु से महान्, वामन से विराट्, साधक से विष्णु बन सकते हैं। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

॥ समाप्त ॥